अथर्ववेद-
मेधाजनन, संगठन
और
विजय

भाग पांचवां

लेखक
महामहोपाध्याय पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
विद्यामार्तण्ड, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

पारडी (जि. बलसाड)

अथर्ववेद-

मेधाजनन, संगठन और विजय

(भाग ५)

लेखक

म. म. ब्रह्मर्षि पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विद्या-मार्तण्ड, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

पारडी (जि. बलसाड)

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद (भाग पांचवां)

मेधाजनन, संगठन और विजय

विषयानुक्रमणिका

*

अथर्ववेद —

मेधाजनन, संगठन और विजय

भाग पांचवा

भूमिका

अथर्ववेदका सामान्यस्वरूप

यह 'अथर्वन्' लोगोंका वेद है। प्राचीनकालमें अग्निके उपासक पुरोहितको 'अथर्वन्' की संज्ञा दी जाती थी। अवेस्तामें भी अग्निके उपासक पुरोहितको 'अथ्रवन्' कहा गया है। प्राचीन भारतीय अग्निके कट्टर उपासक थे। भारतीय वाङ्मयमें इस वेदका प्राचीनतम नाम 'अथर्वांगिरस्' है। 'अंगिरस्' भी अग्नि उपासकोंका एक वर्ग था।

कुछ विद्वानोंका मत है कि अथर्वन्के मंत्र सुखकारक एवं पवित्रता बढानेवाले हैं और अंगिरस्के मंत्र विनाशक हैं। अर्थात् अथर्वाके मंत्रोंमें प्रायः औषधि और वनस्पतियोंसे किस प्रकार रोगका निवारण किया जाय, इसका वर्णन है और अंगिरस्के मंत्रोंमें अपनेसे द्वेष करनेवालोंको, शत्रुओं, दुष्टों और मायावियोंका नाश किस प्रकार किया जाय इसकी विधि बताई है। दूसरे शब्दोंमें अथर्वन्के मंत्र सृजनात्मक और अंगिरस्के मंत्र विनाशात्मक हैं। इस वेदमें मुख्यतया 'अथर्व' और 'अंगिरस्' ये दो विधियां वर्णित हैं, इसलिए इसे अथर्वांगिरस् कहते हैं।

अथवा अथर्वाका अर्थ संस्कृतकी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अचंचलताकी स्थिति' है। 'थर्व इति गतिनाम, न थर्वा इति अथर्वा' थर्वका अर्थ है गति अर्थात् चंचलता, चाहे वह मानसिक हो, बौद्धिक हो या शारीरिक, इस चंचलतासे रहित स्थितिवाले साधकका नाम अथर्वन् या अथर्वा है। इस वेदमें ब्रह्मौदन, अयोध्यावर्णन आदि कई सूक्तोंमें आत्मज्ञानका उपदेश दिया है, जिनके अध्ययन एवं मननसे मनुष्य अचंचलताकी स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसलिए भी इस वेदका नाम 'अथर्व' सार्थक है। 'अंगिरस्' का अर्थ है 'अंगोंमें बहनेवाला रस'। शरीरके प्रत्येक अवयवमें एक तरहका संजीवन रस बहता रहता है, जो अवयवोंको कार्यक्षम बनाये रखता है। इस रसके अभावमें इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं और कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण लकवेसे पीडित शरीरमें मिल सकता है। लकवेसे आक्रान्त अवयवमें यह रस समाप्त हो जाता है, अथवा यूं भी कहा जा सकता है कि जिस अंग में यह रस सूख जाता है वह निर्जीव हो जाता है। इस रस में जब विकृति आ जाती है, तो शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। तब विभिन्न औषधियोंके प्रयोगसे उस रसमें आई हुई विकृतिको हटाया जाता है। अथर्ववेदके अनेक सूक्तोंमें अनेक

औषधियों और मणियोंके प्रयोगसे अनेक रोगोंकी चिकित्सा का विशद वर्णन है। उन औषधियोंके प्रयोगसे अंग-रसको शक्तिशाली बनाया जाता है। इस प्रकार अंगरसकी विद्या का वर्णन करनेके कारण इस वेदको आंगिरस् वेद कहा जाता है।

इस वेदमें ७२६ सूक्त और ५९७७ मंत्र हैं, जो बीस कांडों में विभक्त हैं। बीसवें काण्डके अनेक सूक्त ऋग्वेद संहितासे ही लिए गए हैं। इसके अलावा अथर्ववेदका $\frac{१}{६}$ भाग भी ऋग्वेदका ही है। दूसरे, चौथे, पांचवें और सातवें कांडोंके प्रारंभमें ब्रह्मविद्याका वर्णन है। चौदहवें कांडमें केवल विवाह के मंत्र हैं और अठारहवें कांडमें केवल अन्त्येष्टिसंस्कारके मंत्र हैं। अथर्ववेदमें ऋग्वेदके समान छन्दोंके विषयमें ज्यादा सावधानी नहीं बरती गई है। पन्द्रहवें और सोलहवें कांडमें अनेक सूक्त गद्य जैसे हैं।

इस वेदका मुख्य लक्ष्य अनिष्टशांति, इष्टपूर्ति और शत्रुनाश है। इसमें अनेक मंत्रोंके द्वारा इनका मार्ग बताया गया है।

मेधाजनन, संगठन और विजय

यह पांचवें भागका विषय है। इससे पूर्वके चारों भागोंमें मानवीय जीवनके लिए उपयुक्त कई बातोंका वर्णन किया गया। इस पांचवें भागमें अभ्युदयका ही विशेष वर्णन है।

समाज या राष्ट्रकी उन्नतिके लिए सर्वप्रथम 'मेधाजनन' की आवश्यकता है। शिक्षा राष्ट्रका आधार है। जिस राष्ट्र की जनता सुशिक्षित, सभ्य एवं संस्कृत होगी, वही राष्ट्र उन्नति कर सकता है। अशिक्षा किसी भी राष्ट्रके लिए अभिशाप है। इसीको दृष्टिमें रखकर प्राचीन ऋषिमुनियोंने यह सार्वत्रिक नियम बना दिया था, कि राष्ट्रमें कोई भी मनुष्य अशिक्षित न रहे। राजाकी ओरसे राज्यमें यह प्रबंध होता था। उस समय जगह जगह गुरुकुलोंका जाल बिछा हुआ था। उनमें जीवनको बनानेवाली शिक्षा विद्यार्थियोंको दी जाती थी। और इस प्रकार उनमें 'मेधाजनन' का कार्य किया जाता था।

बुद्धि तो सर्वसाधारणमें होती ही है, यहांतककी जानवर भी बुद्धिसंपन्न होते हैं। पर यहां जिस बुद्धिका वर्णन है, वह साधारण न होकर मेधावाली है। मेधाबुद्धिको ही प्रज्ञा कहते हैं। इसका लक्षण कहते हुए योगदर्शनकार महर्षि पतंजली कहते हैं—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

'ऋत या सत्यको धारण करनेवाली बुद्धि प्रज्ञा या मेधा है।' इस मेधाबुद्धिको उत्पन्न करनेका मार्ग इस पांचवें भागमें दिखाया है।

इस भागका प्रारम्भका सूक्त ही वाचस्पतिका है। यह वाणी, सरस्वती या मेधाका देवता है। उससे प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।

'हे ज्ञानके स्वामी प्रभो। हम सब ज्ञानसे युक्त हों, हम ज्ञानसे कभी भी द्वेष न करें।'

अहं ब्रह्मण्वती ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां ब्रह्मचारिभिः
प्रपीतां मेधां अवसे हुवे। (६।१०८।२)

'मैं श्रेष्ठ ज्ञानसे युक्त, ज्ञानियों द्वारा सेवित, ऋषियों द्वारा प्रशंसित और ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकृत मेधाबुद्धिका अपनी रक्षाके लिए आव्हान करता हूँ'।

इस मंत्रमें मेधाबुद्धिकी प्रशंसा की गई है। मेधाबुद्धिका अर्थ धारणावती बुद्धि है। यह बुद्धि जिस मनुष्यमें जितनी अधिक होगी उतनी ही उसकी योग्यता ज्यादा होगी।

कारीगरोंमें एक प्रकारकी धारणावाली बुद्धि होती है। असुरोंमें सब जगको जीतनेकी बुद्धि होती है। ऋषियोंमें सत्त्वगुणी बुद्धि होती है। यही सत्त्वगुणी बुद्धि प्राप्त करनेके लिए सभीको प्रयत्न करना चाहिए। पर इसकी प्राप्ति तपस्यासे ही हो सकती है।

इस मेधाबुद्धिको प्राप्त करनेका दूसरा भी साधन है 'मनकी शक्ति बढाना।' यदि पदार्थोंको शुद्ध और सात्विक रूपमें सेवन किया जाए तो उससे मनकी शक्ति बढती है।

इस प्रकार मेधाजननसे सम्बन्धित अनेक सूक्तोंका वर्णन इस भागमें है।

संगठन

मेधाशक्तिसे सम्पन्न होनेपर मनुष्योंमें संगठनका भाव पैदा होता है। सात्विकवृत्तिवालोंमें स्वार्थकी भावना नहीं होती। उनके सामने केवल एक लक्ष्य रहता है 'मातृभूमिकी उन्नति'। और संगठित होकर वे मातृभूमिकी रक्षा करते हैं। उन मातृभूमिके भक्तोंका ईश्वर भी सहायक होता है—

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषं
अव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं
नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥

' पारतंत्र्य फैलानेवाले राक्षस अथवा असुर समुद्रमें अत्यंत गहरे स्थानमें रहते हैं। मैं उन्हें दूर करता हूं और मातृभूमिकी स्वतंत्रता सम्पादन करनेवाले और दैवीगुणोंसे युक्त अहिंसाशील सज्जनोंके लिए योग्य स्थान तैयार करता हूं। क्योंकि इन सज्जनोंके अलावा और कोई योग्य नहीं है। '

इस मंत्रमें दिति और अदिति ये दो शब्द आए हैं, उनका अर्थ इस प्रकार है—

अदिति– स्वातंत्र्य, अमर्याद, अखंडित, सुखी, पवित्र, पूर्णत्व आदि।

दिति– खंडित, पराधीनता, पारतंत्र्य, दुःखी, अपवित्र, अपूर्णता आदि।

अदितिके पुत्र देवोंकी परमात्मा सहायता करता है और राक्षस वृत्तिवालोंका नाश करता है। इसका कारण यही है कि आसुरीवृत्तिवाले संसारमें पराधीनता और दुःख बढाते हैं और सज्जन सुख फैलाते हैं।

राष्ट्रीय ऐक्य

मनुष्यमें उन्नत होनेकी स्वाभाविक इच्छा होती है। इस विषयमें कहा है—

ह्वये सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्यां अहमुत्तरत्वे। (३।८।३)

' सोम, सविता और आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें मददके लिए बुलाता हूं। ' अर्थात् देवताओंसे ऐसी सहायता की कामना करता हूं कि जिससे मैं विजयमार्गके द्वारा उन्नति प्राप्त कर सकूं।

उन्नतिका मार्ग

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसलिए अपनी उन्नति करनेके लिए उसे सांघिक जीवनमें रहना पडता है। वह अकेला रहकर उन्नति नहीं कर सकता। वैय्यक्तिक जीवनके लिए उतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं होती, जितनी सामुदायिक उन्नतिके लिए। इसलिए सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्योंको चाहिए कि वे ऐसा व्यवहार करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध न हो। इसलिए कहा है—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूती सम्।

' तुम्हारे मन, तुम्हारे काम और तुम्हारे संकल्प पूर्णरूपसे एकता बढानेवाले हों। ' इसमें ' सं ' उपसर्ग ' उत्तमता ' और ' एकता ' का द्योतक है। मनुष्यकी वाणी, मन और कर्म सब एकता करनेवाले हों। कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि बाह्यरूपसे तो कोई बुरा काम नहीं करते, पर अन्दर ऐसे ऐसे संकल्प करते हैं कि जिससे समाजमें विघटन पैदा हो। इसलिए कहा है कि संकल्प भी उत्तम और एकता करनेवाले हों। इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे बुरा व्यवहार दूर करनेसे उन्नतिका मार्ग प्रशस्त होता है।

पर इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य स्वयंका आचरण शुद्ध रखे। इसलिए उपदेश दिया है—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि।

' मैं अपने मनसे दूसरोंके मन आकर्षित करता हूं और इस प्रकार मैं दूसरोंके हृदय अपने अधिकारमें करता हूं। '

इस मंत्रमें अपने शुभाचरणसे दूसरोंके मन आकर्षित करनेका उपदेश है। पर यह सामर्थ्य शुभ और सत्य, संकल्पके कारण ही उत्पन्न होता है।

संवेश्य राष्ट्र

उपर्युक्त पुण्यात्मा और धर्मात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक रहते हैं और जहांकी जनता तदनुसार अपना आचरण करती है, उस राष्ट्रको ' संवेश्य राष्ट्र ' कहते हैं। क्योंकि उस राज्यमें प्रवेश करके रहनेलायक वह राज्य होता है। इस प्रकारके राष्ट्रके लिए प्रार्थना की है—

अस्मभ्यं बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु।

' हम सबको देवगण प्रवेश करने योग्य राष्ट्र देवें। '

इस प्रकारसे संगठनके लिए आवश्यक है कि सबका ज्ञान एक समान हो। सभी समभावसे परस्पर मिलें। उच्चनीच की भावना न रहे। सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त हों। सभामें सब समानाधिकारसे बर्ताव करें। इस प्रकार यदि संगठन हो, तो उस जातिपर कोई भी शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता। वह जाति या राष्ट्र कभी भी शत्रुके आगे झुक नहीं सकता।

मनुष्य समाजमें रहकर ही पनप सकता है इसलिए समाजमें रहते हुए उसे संगठन भी बनाए रखना पडता है यदि जाति या समाजमें ऐक्य न हो, तो मनुष्यका नाश हो जाए। इसलिए जो राष्ट्र अपनी संघशक्ति बढाता है, वही सर्वत्र विजयी होता है। और जिस जातिमें फूट होती है,

प्रथम तो वह स्वतंत्रता पा ही नहीं सकती और यदि किसी तरह प्राप्त कर भी ले तो वह अधिक समयतक अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रख सकती।

संघशक्ति बढानेका साधन

(१) अन्तर्गत सुधारणा

मनुष्य समाजका अंग है। अंगोंके बिगाडसे सम्पूर्ण समाज रूपी शरीरका बिगाड सहज अनुमेय है। इसलिए सर्वप्रथम मनुष्यको चाहिए कि वह अपना सुधार करे। वैदिकधर्मकी यह विशेषता है कि वह मनुष्यको यह आदेश देता है कि समाज सुधारका प्रारंभ प्रथम अपने जीवनके सुधारसे करे। हृदय या अन्तःकरणके सुधारसे सारे सुधार सहज ही हो सकते हैं। यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो, तो बाह्यशुद्धिसे कुछ भी लाभ नहीं। इसलिए कहा है—

१ सहृदयं- हृदयके भावनाओंकी समानता अर्थात् दूसरोंके दुःखसुखको अपना सुखदुःख समझना। जबतक सुधारक सब मनुष्योंको आत्मवत् नहीं समझ लेता तबतक वह समाज सुधारका अधिकारी नहीं होता।

२ सांमनस्यं- मन उत्तम भावनाओं और शुभ संस्कारोंसे पूर्ण हो।

इन्द्रियें मनके आधीन होती हैं। इसलिए मनमें जैसे विचार उठते हैं तदनुसार ही इन्द्रियां कर्म करती हैं। इसलिए इन्द्रियोंको उत्तम बनानेके लिए मनसे सदा शुभ संकल्प करने चाहिए। ऊपर बताए हुएके अनुसार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेपर मनुष्यके बाह्य व्यवहार भी शुद्ध हो सकते हैं।

(२) बाह्य सुधारणा

१ अ-विद्वेषं- एक दूसरेसे द्वेष न करना। परस्पर कलह न करना।

यह बाह्यव्यवहार शुद्धताका मार्ग है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो? इसका उत्तर है कि उसका व्यवहार ऐसा हो कि वह किसीसे द्वेष न करे। यह मनुष्य व्यवहारका आदर्श है। दो मनुष्य कहीं इकट्ठे हुए कि लडाई झगडा, किसी तीसरे की निन्दा शुरु हो जाती है। यह नीच मनुष्योंका स्वभाव होता है। पर सज्जनोंके लिए यह उचित नहीं।

निर्वैर व्यवहारका यहां क्या तात्पर्य है? दो पत्थर अथवा दो वृक्ष जैसे एक दूसरेके पास रहते हुए भी निर्वैर हैं, क्या वैसी निर्वैरता यहां अभीष्ट है? नहीं, वैसी जड निर्वैरताका यहां वर्णन नहीं है। यहां 'अ-विद्वेषं' शब्द है, जिसका अर्थ है प्रेमपूर्ण व्यवहार। इसका सुंदर उदाहरण भी आगे दिया है—

अन्यो अन्यं अभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या।

'एक दूसरेसे ऐसा प्रेम करो, जैसे गाय सद्यः प्रसूत बछडे से करती है।' वे जैसे प्रेम करते हैं, वैसा प्रेम व्यवहार यहां अभीष्ट है। 'अविद्वेष' शब्दका अर्थ केवल 'वैर या द्वेष न करना' इतना ही नहीं है, यह उसका निषेधात्मक रूप है। 'द्वेष न करना, हिंसा न करना' ये एक सिद्धान्तके निषेधात्मक पहलू हैं, सके विध्यात्मक पहलू हैं 'प्रेम करना, दया करना' आदि। इसका आचरण सर्वप्रथम अपने घरमें ही होना चाहिए। इसकी रीति आगेके मंत्रोंमें इस प्रकार दर्शाई है—

(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे और मातासे उत्तम भावनावाला होकर कर्म करे। पत्नी पतिसे मधुरता और शांतिसे बोले। (२) भाई भाई और बहन बहन आपसमें द्वेष न करें, कलह न करें। सब मिल जुलकर आपसमें मीठी वाणी बोलें और अपने कल्याणकी ओर लक्ष्य दें। (३) जिससे वैर और विद्वेष न हो, ऐसा उत्तम ज्ञान सभीको प्राप्त करना चाहिए।

यह एक आदर्श कुटुंबका व्यवहार है।

सामुदायिक कर्म

इस भागमें यह भी बताया है कि जाति या समाजके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

(१) ज्यायस्वन्तः- अपनेसे बडोंका सन्मान करना चाहिए।

(२) मा वि यौष्ट- परस्पर विभक्त नहीं होना चाहिए। आपसमें भेद बढने देना नहीं चाहिए।

(३) सधुराः चरन्तः- एक धुराके नीचे रहकर आगे बढना चाहिए। यहां धुराका अर्थ है धुरीण, नेता। नेता भी एक ही होना चाहिए। एक नेताके नीचे रहकर सभी आगे बढ सकते हैं। जिसमें अनेक नेता होंगे, वहां अवश्य ही भेदभाव और लडाई झगडा बढेगा।

(४) सध्रीचीनाः- कोई भी काम संगठित होकर करना चाहिए।

(५) संराधयन्तः- मिलकर सिद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(६) अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत- आपसमें प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते हुए आगे बढना चाहिए।

जब मनुष्य समाजमें रहता है, तो अन्य सदस्योंके साथ खानेपीनेका प्रश्न भी उसके सामने होता है। इसके विषयमें वेदका कथन है—

'तुम्हारे प्याऊ, अन्नभाग एक हों। तुम सबको मैं एक धुराके नीचे स्थापित करता हूं। तुम सब एक मनवाले होकर ईश्वरकी उपासना करो।'

इस मंत्रमें खानेपीने और उपासना करनेका रंगढंग एकसा ही रखनेका उपदेश है। 'जाति एक चक्रके समान है।' जिस प्रकार चक्रके अरे एक नाभि या केन्द्रसे जुडे हुए होते हैं, उसी प्रकार पांच जन या चार वर्ण राष्ट्रके केन्द्रसे जुडे हुए होते हैं। जनतामें सब मनुष्योंकी एकता उसी प्रकार रहनी जाहिए, जिस प्रकार चक्रमें अरोंकी एकता रहती है।

सेवाभावसे उन्नति

पर यह एकता भी तभी हो सकती है, जब लोगोंमें सेवा भाव हो। 'संवनन्' शब्दका अर्थ ही 'उत्तम प्रकारसे प्रेमपूर्वक सहाय्य करना'। प्रेमपूर्वक दूसरेकी सहायता करना सेवा समितिका कार्य है। इस विषयमें कहा है—

संवनेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि।

'प्रेमपूर्वक सेवासे सभीकी मदद करता हुआ मैं सभीको एक ही ध्येयकी तरफ प्रेरित करता हूं'। जनताका सर्व-श्रेष्ठ सेवक वही है, जो निःस्वार्थ सेवा करे। जनसेवा एक महान् यज्ञकर्म है। परमेश्वर इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है, कि यह निस्स्वार्थभावसे सबकी सेवा या मदद करता है।

इस प्रकार सेवाभावरूपी कर्मसे मनुष्यका विकास होता है। वेदका सिद्धान्त है 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' अर्थात् यह मनुष्य कर्ममय है। मनुष्यकी उन्नति कर्माधीन है, इस-लिए उसे हमेशा प्रशस्ततम कर्म ही करने चाहिए। वे कर्म ऐसे हों कि जनतामें संगठन हो, उसमें एकता बढे और आपसमें कलह न हो। 'संव्रताः, संराधयन्तः, सधुरा-श्चरन्तः, सध्रीचीनाः, एकश्नुष्टी' आदि शब्दोंसे इसका उपदेश दिया है।

इस प्रकार संगठन करके अन्तमें विजय प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार संगठित होनेसे विजय-प्राप्ति निश्चय रूपसे हो सकती है।

विजयप्राप्ति

शत्रुके पराजयके लिए (ओज) शारीरिक बल (सहः) शत्रुके आक्रमणोंको लौटानेका सामर्थ्य, (बल) सेना तथा अन्य प्रकारके बल (वीर्य) पराक्रम, वीर्यकी शक्ति (नृम्णं) मानवी सामर्थ्य इतने साधन आवश्यक हैं। बाद-में (जिष्णुयोग) विजयप्राप्तिके लिए निपुणता युक्त ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अन्य बलोंके भरपूर होनेपर भी यदि 'जिष्णुयोग' कम हो तो कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। उसके साथ ही 'ब्रह्मयोग' अर्थात् ज्ञानसे सिद्ध होनेवाली योजना भी अवश्य होनी चाहिए। उसी तरह 'क्षात्रयोग' अर्थात् युद्ध क्षेत्रमें व्यूहोंको रचनेका ज्ञान भी अवश्य प्राप्त करना चाहिए। उसके साथ ही जल साधन भी पास होने चाहिए और उनका उपयोग शत्रुओंके नाश करनेके कार्यमें करना चाहिए।

युद्धके शस्त्रास्त्र

इस भागमें शस्त्रास्त्रोंका वर्णन भी है। शत्रुओंको अपने 'उदारों' का प्रदर्शन दिखाना चाहिए। उदार नाम उन शस्त्रोंका है कि जो शत्रुओंपर दूरसे फेंके जाते हैं। और जहां पडते हैं, वहां फट कर शत्रुओंका नाश करते हैं। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेकी 'आदान' और 'संदान' ये दो विधियां हैं। एक विधिसे शत्रुओंको घेरा डालकर पकडा जाता है और दूसरी विधिसे सेना एकत्रित कर शत्रुओंपर आक्रमण किया जाता है। इस रीतिसे युद्ध करनेपर बडीसे बडी शत्रुसेना पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

ये उदार नामके शस्त्र सात प्रकारके होते हैं। एक जमीनमें गाडे जाते हैं, दूसरे पानीमें छुपाकर रखे जाते हैं, तीसरे तरहके हाथसे फेंके जाते हैं, चौथे प्रकारके आकाशमें जाकर वहांसे नीचे फेंके जाते हैं, पांचवें तरहके बाण पर बांधकर शत्रुओं पर छोडे जाते हैं, छठे तरहके उदार तालाबमें रखे जाते हैं और वहां विस्फोट करके पानी सुखा दिया जाता है और सातवें तरह के उदार पहाडों, दरारों और गुफाओंके लिए उपयोगी होते हैं। इनसे शत्रुओंका नाश किया जा सकता है।

वज्रनिर्माण

त्रिषंधि नामका एक वज्र होता है। यह अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। इस वज्रमें तीन जगह जोड होते हैं, इसलिए इसे 'त्रिषंधि वज्र' कहते हैं। यह संभवतः फौलादका

बनाया जाता होगा और उसे तपाकर पानी अथवा तेल आदि द्रव पदार्थोंमें बुझाकर तैय्यार किया जाता होगा।

बाणका स्वरूप

वज्रके साथ बाणधारी आदमी भी रहने चाहिए। उन बाणोंका स्वरूप इस प्रकार है—

१ अयोमुखाः- जिनके आगेके हिस्सेमें फौलाद लगा हुआ है। उसके कारण वे तीक्ष्ण होते हैं।

२ सूचीमुखाः- सुईके समान तीक्ष्ण अग्रभागवाले।

३ विकंकतीमुखाः- कंघेके समान कांटोंसे युक्त मुख-वाले अथवा कंकपक्षीके चोंचके समान अग्रभागवाले।

'वातरंहसः' और 'क्रव्यादाः'- ये दो शब्द बाणकी गति और उसकी मारकताको बतानेवाले हैं।

४ शितिपदी- तीक्ष्णफालवाले बाण।

५ चतुष्पदी- चार फालवाले बाण।

ऐसे बाणोंसे युक्त सेनाके लिए विजय प्राप्त करना कोई मुश्किल नहीं है।

तमसास्त्र और संमोहनास्त्रका प्रयोग

(तमसा परिवारय) इन शब्दोंमें अन्धेरेका प्रयोग बताया है। अन्धेरा छा जानेके कारण शत्रुओंको कुछ भी नहीं दीखता। इस मंत्रके दूसरे भागमें सम्मोहनास्त्रके प्रयोगका भी उपाय बताया है। इस अस्त्रके छूटने पर सब सेना मूर्च्छित हो जाती है और उन्हें किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। यहां किसी ऐसे शस्त्रका उल्लेख है कि जिसके छोडनेपर सब शत्रुसेना मूर्च्छित हो जाती हैं।

इस प्रकार विजय प्राप्त करनेके उपाय इस भागमें बताए हैं।

इसलिए प्रथम मेधाबुद्धिका सम्पादन करके और समाजमें संघटन करके विजयप्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अथर्ववेद —

मेधाजनन, संगठन और विजय

(भाग पांचवा)

बुद्धिका संवर्धन करना

कांड १, सूक्त १

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – वाचस्पतिः ।)

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया । वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् । सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

अर्थ — (विश्वा रूपाणि बिभ्रतः) सब रूपोंको धारण करके (ये त्रि-सप्ताः परियन्ति) जो तीन–गुणा–सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, (तेषां तन्वः बला) उनके शरीरके बल (वाचस्पतिः अद्य मे दधातु) वाणीका स्वामी आज मुझे देवे ॥ १ ॥

हे (वाचस्पते) वाणीके स्वामी ! (देवेन मनसा सह) दिव्य मनके साथ (पुनः एहि) सन्मुख आओ । हे (वसोष्पते) वसुओंके स्वामी ! (निरमय) मुझे आनंदित करो। (श्रुतं मयि) पढा हुआ ज्ञान (मयि एव अस्तु) मुझमें स्थिर रहे ॥ २ ॥

(ज्यया उभे आर्त्नी इव) डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियोंकी तरह (इह एव उभौ अभि वि तनु) यहीं (दोनोंको) तानो (वाचस्पतिः नि यच्छतु) वाणीका पति नियमसे चले । (श्रुतं मयि) पढा हुआ ज्ञान (मयि एव अस्तु) मुझमें स्थिर रहे ॥ ३ ॥

(वाचस्पतिः उपहूतः) वाणीका स्वामी बुलाया गया । (वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयतां) वह वाणीका स्वामी हम सबको बुलावे । (श्रुतेन सङ्गमेमहि) ज्ञानसे हम सब युक्त हों । (श्रुतेन मा वि राधिषि) हम ज्ञानके साथ कभी विरोध न करें ॥ ४ ॥

बुद्धिका संवर्धन करना

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपवाले और दूसरे रूपरहित। आत्मा परमात्मा रूपरहित हैं और संपूर्ण जगत् रूपवाले पदार्थोंसे भरा हुआ है। पदार्थोंके विविध रूप जो मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, पाषाण आदिमें दिखाई देते हैं-कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं? इस शंकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार-हैं ये ही संपूर्ण जगत्में दिखाई देनेवाले विविध रूप धारण करते हैं। ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत्के रूप और आकार धारण करते हैं। (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमें पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरकर कुल इक्कीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टिका रूप धारण करते हैं।

सृष्टिके हरएक आकारधारी पदार्थमें बडी शक्ति होती है। हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवान् पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त ' तीन गुणा सात ' पदार्थ हैं। और इसी कारण शरीरके अंदरके इन इक्कीस तत्त्वोंका संबंध बाह्य जगत्के पूर्वोक्त इक्कीस तत्त्वोंके साथ है। शरीरका स्वास्थ्य या रोगीपन इस संबंधके ठीक होने और न होनेपर ही अवलंबित है।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंका बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रह कर ही शरीरके आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरसे बढानेकी सूचना इस मंत्र द्वारा यहां मिलती है। जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राणका बल, बाह्य सूर्य-प्रकाशसे अपने नेत्रका बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति बढानी चाहिये। यह अथर्ववेदका मुख्य विषय है।

जगत्का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत्का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्याका अध्ययन करके उसका अनुष्ठान करना चाहिये। यह उन्नतिका मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है। यहां प्रश्न होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है? उत्तरमें मंत्रने बताया है कि ' वाचस्पति ' ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है।

' वाचस्पति ' कौन है? वाक्, वाच्, वाणी, वक्तृत्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं। वक्तृत्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पतिसे अभिप्रेत है। इस अर्थको लेनेसे इन मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार किया जा सकता है—

' मूल सात तत्व तीन अवस्थाओंसे गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हुए हैं। इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आज ही मुझे पढावे। '

अथर्ववेदकी पिप्पलाद-संहिताका पाठ ऐसा है—

ये त्रिषप्ताः पर्यन्ति...।...तेषां तन्वमभ्यादधातु मे ॥

इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है- ' जो मूल सात तत्व तीन अवस्थाओंमेंसे गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) घूमते हैं, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्वं) शरीरमें (अभ्यादधातु) धारण करावे, अर्थात् हमें धारण करनेके उपाय बतावे। '

इस मंत्रमें प्रारम्भमें ही ' पुनः ' शब्द है इसका अर्थ ' वारंवार, पुनः पुनः अथवा संमुख ' है शिष्य विद्याके एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिए गुरु शिष्यके सम्मुख और शिष्य गुरुके सम्मुख होते हैं।

गुरु (देवेन मनसा) दैवी भावनासे युक्त मनसे ही शिष्यके साथ बर्ताव करे। मन दो प्रकारके हैं- एक देव मन और दूसरा राक्षस मन। राक्षस मन जगत्में झगडे उत्पन्न करता है और देव मन जगत्में शांति रखता है। गुरु देवमनसे ही शिष्यको पढावे।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढावे कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढता जाय। इस शब्दके द्वारा पढाईकी ' रमण पद्धति ' वेदने प्रकट की है। इससे भिन्न ' रोदन पद्धति ' है। जिसमें रोते हुए शिष्य पढाये जाते हैं।

गुरुके दो गुण इस मंत्रने बताये हैं। एक गुण (वाचस्पतिः) अर्थात् वाणीका प्रयोग करनेमें समर्थ, शिष्यको विद्या समझानेमें निपुण, उत्तम वक्ता। तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) वसुओंका पति अर्थात् अग्न्यादि पदार्थोंका प्रयोग करनेमें निपुण, शब्दों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहे उसको वस्तुओं द्वारा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष करा देनेमें समर्थ गुरुको होना चाहिये।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुतं अस्तु) अपनेमें ज्ञान स्थिर रखनेकी इच्छा करनेवाला हो। अर्थात् दिलसे पढनेवाला और सच्ची (विद्यार्थी-विद्या+अर्थी) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो।

इन अर्थोंको ध्यानमें धरनेसे मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

' हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु ! देव भावसे युक्त मनसे ही शिष्यके सन्मुख जा। हे अग्न्यादि वसुओंके प्रयोग कर्ता गुरु ! तू शिष्यको रमाता हुआ उसे विद्या पढा। शिष्य भी कहे कि पढा हुआ ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे। '

अथर्ववेद पिप्पलाद-संहितामें मंत्रका प्रारंभ ' उप नेह ' शब्दसे होता है और ' वसोष्पते ' के स्थानपर ' असोष्पते ' पाठ है। ' असुपति ' (असोः पति) का अर्थ प्राणोंका पति गुरु। ' प्राणोंका पति ' अर्थात् योगादि साधन द्वारा प्राणोंको स्वाधीन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु हो। यह शब्द भी गुरुका एक उत्तम लक्षण बता रहा है।

धनुष्यकी दोनों कोटियां डोरीसे तनी रहती हैं इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है। जिस समय दोनों कोटियोंसे डोरी हट जाती है, उस समय वह धनुष्य शत्रुनाश या विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार जाति या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटियां गुरु और शिष्य हैं, इन दोनोंको विद्यारूपी डोरीसे बांधा गया है और इस डोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने कार्यमें सिद्ध रहता है। समाजको यह धनुष्य सदा तैय्यार रखना चाहिये। इसीकी सिद्धतासे जाति, समाज या राष्ट्र जीवित, जाग्रत और उन्नत रहता है। जिस समय विद्याकी डोरी गुरु शिष्यरूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान-युग शुरू होता है और जाति पतित हो जाती है।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरु ही स्वयं (नि यच्छतु) नियममें चले और शिष्योंको नियमके अनुसार चलावे। गुरुकुल, आचार्यकुल अथवा विद्यालयादि संस्थाएं उत्तम नियमोंके अनुसार चलाई जांय। वहां स्वेच्छा-विहार न हो।

शिष्य प्रयत्न करें और पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर सदा स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें। पहिले पढे हुए ज्ञानके स्थिर रहनेपर ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

' जिस प्रकार डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजयके लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समाजकी दो कोटियां विद्यासे सज्ज रहें। आचार्य स्वयं नियमानुसार चलें और शिष्योंको नियमानुसार चलावें। शिष्य भी अध्ययन किया हुआ ज्ञान दृढ करके आगे बढे। '

' उपहूत ' का अर्थ ' बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूछा गया ' है। उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उससे प्रश्न पूछे अर्थात् विद्याका व्याख्यान करनेके लिये उसका आह्वान किया गया है। गुरु भी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उसका समाधान करे। अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे छिपाकर न रखे। इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी वृद्धि होती रहे।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि ' हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी वृद्धि करते रहें और कभी ज्ञानकी प्रगतिमें बाधा न डालें, ज्ञानका विरोध न करें और मिथ्या ज्ञानका प्रचार न करें। '

इस स्पष्टीकरणका विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है—

' हम तत्त्व व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं। वह हमें योग्य उत्तर देवे। इस [प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब] ज्ञानसे युक्त होते रहें और कभी हमसे ज्ञानकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न न हो। '

मनन

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके इन चार मंत्रोंका अति संक्षेपसे तात्पर्य यह है—

' जो इक्कीस [पदार्थ जगत्की वस्तुओंके] आकार धारण करते हुए [सर्वत्र] फैले हुए हैं, उनकी शक्तियोंको अपने [शरीरके अंदर स्थिर करनेकी विद्या] गुरु हमें सिखावे ॥ १ ॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सन्मुख आ, हमें रमाते [हुए पढा] प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ २ ॥ डोरीसे दोनों धनुष्कोटियोंके तनावके समान यहां तू [विद्यासे हम दोनोंको] तान [कर बांध दे] गुरु नियमसे चले और हमें चलावे। ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ ३ ॥ हम गुरुसे प्रश्न पूछते हैं, वह हमें उत्तर देवे। हम सब ज्ञानी बनें कोई भी ज्ञानका विरोध न करे ॥ ४ ॥

इसमें निम्नलिखित पांच बातोंपर विचार किया गया है—

१ विद्या- जिनसे जगत् बनता है उन मूलतत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपनी उन्नतिसे संबंध देखना तथा उसका अनुष्ठान करनेकी विधि जानना, यही सीखने योग्य विद्या है।

२ गुरु- उक्त विद्या सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) वाणीका उत्तम प्रयोग करनेमें समर्थ। उत्तम रीतिसे विद्या पढानेवाला हो, (वसोष्पतिः) अग्न्यादि मूलतत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (असोष्पतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो। 'पति' शब्द यहां 'प्रभुत्व' (mastership) का भाव बताता है।

३ पढानेकी रीति- गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढावे। (निरमय) रमण पद्धतिसे पढावे, शिष्योंका आनंद बढाता हुआ पढावे। स्वयं (नि यच्छतु) सुनियमोंसे चले और शिष्योंको सुनियमोंसे चलावे। शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयतां) आदरपूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे।

४ शिष्य- शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक इच्छा करे कि (श्रुतेन सं गमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (श्रुतं मयि अस्तु) प्राप्त ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे। तथा (श्रुतेन मा वि राधिषि) ज्ञानका विरोध कभी न करें।

५ गुरु-शिष्य- धनुष्यके दोनों नोक जिस प्रकार डोरीसे तने रहते हैं, उस प्रकार विद्यारूपी डोरीसे समाजके गुरु-शिष्य-रूपी दोनों नोक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबद्ध रहें। कभी उनमें ढिलाई न आवे।

यह सब सूक्त शिष्यके मुख द्वारा उच्चरित होनेके समान है, इससे अनुमान होता है कि गुरुको लाने, रखने आदिके प्रबंधादि व्ययका उत्तरदातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकों पर ही पूर्णतया है।

अनुसन्धान

इस प्रथम सूक्तमें 'मेधाजनन' अर्थात् बुद्धिका संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं। गुरु, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुरु किस प्रकार पढावे, शिष्य किस ढंगसे पढे और दोनों मिलकर राष्ट्रकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया।

मेधा बुद्धि

कांड ६, सूक्त १०८

(ऋषिः – शौनकः। देवता – मेधा, ४ अग्निः।)

त्वं नो॑ मेधे प्रथ॒मा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि। त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑ ॥ १ ॥

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूतामृषि॑ष्टुताम्। प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे ॥ २ ॥

यां मे॒धामृ॒भवो॑ वि॒दुर्यां मे॒धामसु॑रा वि॒दुः। ऋष॑यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां मय्या वे॑शयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मेधे) मेधाबुद्धि! (त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि) तू हम सबमें प्रथम स्थानमें पूजनीय है। तू (गोभिः अश्वेभिः आगहि) तू गौओं और घोडों अर्थात् सब धनोंके साथ हमारे पास आ। तथा (त्वं सूर्यस्य रश्मिभिः नः आगहि) तू सूर्यकिरणोंके साथ हमारे पास आ ॥ १ ॥

(अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं) मैं श्रेष्ठ ज्ञानियोंसे युक्त (ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां) ज्ञानियोंसे सेवित और ऋषियों द्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकार की गई (मेधां देवानां अवसे हुवे) मेधाबुद्धिकी इंद्रियोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

(ऋभवः यां मेधां विदुः) कारीगर जिस बुद्धिको जानते हैं, (असुराः यां मेधां विदुः) असु अर्थात् प्राणविद्यामें रमनेवाले जिस मेधाको जानते हैं, अथवा असुरोंमें जो बुद्धि है, (यां भद्रां मेधां ऋषयः विदुः) जिस कल्याणकारिणी बुद्धिको ऋषि लोग जानते हैं (तां मयि आ वेशयामसि) वह बुद्धि मेरे अंदर प्रविष्ट हो ॥ ३ ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यंदिनं परि । मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

अर्थ— (भूतकृतः मेधाविनः ऋषयः) पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले बुद्धिमान् ऋषि (यां मेधां विदुः) जिस बुद्धिको जानते हैं, हे अग्ने ! (तया मेधया) उस मेधाबुद्धिसे (अद्य मां मेधाविनं कृणु) आज मुझे बुद्धिमान् कर ॥४॥

(मेधां सायं) बुद्धिको शामके समय, (मेधां प्रातः) बुद्धिको प्रातःकाल, (मेधां मध्यं दिनं परि) बुद्धिको मध्य दिनके समय (मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः) बुद्धिको सूर्यकी किरणोंसे (वचसा आ वेशयामसि) और उत्तम वचनसे अपने अंदर प्रविष्ट कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— धारणावती बुद्धि सबसे अधिक पूज्य है वह सब प्रकारके धनके साथ हमें प्राप्त हो । यह धारणावती बुद्धि ज्ञानियोंमें रहती है, ऋषि इसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मचारी इसका सेवन करते हैं, इसलिये इसकी प्रशंसा हम करते हैं । कारीगर, ऋषि और असुर जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं, वह बुद्धि हमें प्राप्त हो । बुद्धिमान् ऋषि जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध थे वह बुद्धि हमें प्राप्त हो । सबेरे, दोपहर, शामको तथा अन्य समय हमारा व्यवहार ऐसा हो कि हमें सद्बुद्धि प्राप्त हो और हमें सदुपदेश मिले ॥ १–५ ॥

यह सूक्त बुद्धिकी प्रशंसापर है । मेधाबुद्धि वह है कि जिसको धारणावती बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी मनुष्यकी विशेष योग्यता होगी । लोग ऋषियोंका विशेष सम्मान करते हैं इसका कारण यह है कि उनमें यह बुद्धि थी और रहती है । ब्रह्मचारीगण गुरुके सान्निध्यमें रहकर इस बुद्धिकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं । इस बुद्धिसे युक्त होकर ही मनुष्य इस परलोकमें उत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है ।

कारीगर लोगोंमें एक प्रकारकी धारणाबुद्धि रहती है, असुरोंमें विश्वको जीतनेकी महत्वाकांक्षा रहती है, ऋषियोंमें बडी सत्वगुणी बुद्धि रहती हैं, यह बुद्धि विशेष उच्च रूपमें हमें प्राप्त हो । विशेष कर बुद्धिमान् ज्ञानी ऋषियोंमें जो विशाल बुद्धि थी वैसी बुद्धि हरएकको प्राप्त करनी चाहिये । प्रातःकालसे सायंकालतक अपने प्रयत्नसे यह बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये । हरएक मनुष्य ऐसा प्रयत्नवान् हो तो वह इस बुद्धिको अवश्य प्राप्त कर सकेगा ।

तपश्चर्यासे मेधाकी प्राप्ति

कांड ७, सूक्त ६१

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – अग्निः ।)

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः । प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥
अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः । श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्नि ! (तपसा यत् तपः) तपश्चर्यासे जो तप किया जाता है (तपः उप तप्यामहे) उस तपको हम तपते हैं, उससे हम (श्रुतस्य प्रियाः) ज्ञानके प्रिय, (आयुष्मन्तः सुमेधसः भूयास्म) दीर्घायु एवं उत्तम बुद्धिसे युक्त हों ॥ १ ॥

(अग्ने) हे अग्ने ! (तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं और (तपः उप तप्यामहे) विशेष रीतिसे तप करते हैं । (वयं श्रुतानि शृण्वन्तः) ज्ञानोपदेशको सुनते हुए (आयुष्मन्तः सुमेधसः) हम दीर्घायुवाले और उत्तम बुद्धिमान् हों ॥ २ ॥

भावार्थ— हम तप करके ज्ञान प्राप्त करें और दीर्घजीवी, बुद्धिमान् हों ॥ १–२ ॥

तप करनेसे यह सिद्धि प्राप्त होती है, यह इस सूक्तका आशय है, इसलिए दीर्घायु एवं ज्ञान प्राप्तिके इच्छुक साधकोंके लिए तप आवश्यक है ।

मनका बल बढाना

कांड २, सूक्त १२

(ऋषिः – भरद्वाजः । देवता – द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (उरु अंतरिक्षं) विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करनेवाली वृष्टि (अद्भुतः उरुगायः) अद्‌भुत और बहुत प्रशंसनीय सूर्य (उत) और (वातगोपं उरु अन्तरिक्षं) वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब (मयि तप्यमाने) मेरे तप्त होने पर (इह ते तप्यन्तां) यहां सब सन्तप्त होवें ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार कराने योग्य हो, ऐसे तुम सब (इदं शृणुत) यह सुनो, कि (भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति) बल बढानेवाला मुझको उत्तम उपदेश देता है। परंतु (यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति) जो हमारे इस मनको बिगाडता है, (सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्) उसे पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे ॥ २ ॥

हे (सोम-प इन्द्र) सोमपान करनेवाले इन्द्र ! (यत् शोचता हृदा जोहवीमि) जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूं । (शृणुहि) उसे सुन (यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति) जो हमारा यह मन बिगाडता है, (तं) उसको (वृक्षं कुलिशेन इव) वृक्षको कुल्हाडीसे काटनेके समान (वृश्चामि) काट डालूं ॥ ३ ॥

(तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः) तीन छंदोंसे अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा (आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः) आदित्य, वसु और अङ्गिरोंके साथ (पितृणां इष्टापूर्तं नः अवतु) पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं (दैव्येन हरसा अमुं आददे) दिव्य बलसे इसको पकडता हूं ॥४॥

भावार्थ— द्युलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इस अवकाशमें रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मेरे अनुकूल हों अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होनेपर शांत हों ॥ १ ॥

हे सत्कारके योग्य देवो ! सुनो । यह नियम है कि बल बढानेवाला ही दूसरोंको उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल घटानेवाला बुरे विचारोंकी प्रेरणासे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड कर बंधनमें रखना चाहिए ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाडता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥ ३ ॥

जिसमें तीन छन्दोंके अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करते हैं, उस यज्ञमें वसु, रुद्र, आदित्योंके साथ पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे । उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलसे पकडता हूं ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा । अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि । अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी मा अनु-आदीधथां) द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों। हे (विश्वे-देवासः) सब देवो ! (मा अनु आ रभध्वं) मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करो । हे (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) अंगिरस सोम्य पितरो ! (अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु) अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (यः अतीव मन्यते) जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, (यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्) अथवा जो हमारे द्वारा किये जानेवाले ज्ञानकी निंदा करे । (तस्मै वृजिनानि तपूंषि सन्तु) उसके लिये सब कार्य तापदायक हों । तथा (द्यौः ब्रह्मद्विषं संतपाति) द्युलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत ताप देवे ॥ ६ ॥

(ते तान् सप्त प्राणान्) तेरे उन सात प्राणोंको और (अष्टौ मन्यः) आठ मज्जाग्रंथियोंको मैं (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञानके शस्त्रसे छेदता हूं या खोलता हूं । तू (अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अयाः) अग्निका दूत बनकर सिद्ध होकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥

(समिद्धे जातवेदसि) प्रदीप्त अग्निमें (ते पदं आदधामि) तेरा स्थान रखता हूं । (अग्निः शरीरं वेवेष्टु) यह अग्नि शरीरमें प्रवेश करे (वाक् अपि असुं गच्छतु) वाणी भी प्राणको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ — द्युलोक और भूलोकके अंतर्गत सब वस्तुमात्र मेरे अनुकुल हों, सब अग्न्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें। हे पितर ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥ ५ ॥

हे मरुतो ! जो घमंडी मनुष्य अपने आपको ही सबसे बडा समझता है, इतना ही नहीं अपितु हम जो ज्ञान संग्रह करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है; उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, जो सत्यज्ञानका विरोध करता है, उसको द्युलोक बहुत ताप देवे ॥ ६ ॥

तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानोंको मैं ज्ञानसे खोलता हूं, तू अग्निदूत बनकर यमके घर जा ॥ ७ ॥

इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूं । यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

मनका बल बढाना

मानसिक शक्तिका विकास

मनकी शक्तिसे मनुष्यकी योग्यता निश्चित होती है । जिसका मन शुद्ध और पवित्र होता है, वह महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलिन विचारोंवाला होता है वह दुष्ट कहलाता है। इसके पूर्व आत्माके गुण वर्णन करनेके द्वारा आत्मिक बल बढानेका उपाय बताया है, उसीकी पूर्ति करनेके लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकासका उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्तिके विकासके लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है । मन मलिन हो तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता ।

मानसशक्ति विकासके साधन—

त्यागभाव

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें 'भरद्वाज' अर्थात् ('भरत् + वाजः' = वाजः+ भरत्) बल भरनेवाला है। 'वाजः' के अर्थ 'घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द' ये हैं। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु ये ही शुद्ध सात्विक सेवन किये जांय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणोंके बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढानेवाले साधनोंका भी ज्ञान बताया है। यह बल जो भरता है, उसका नाम 'भरद्-वाजः' होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढानेका साधन इस प्रकार सबको बताता है—

शुभवचन

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति। (मं. २)

'बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। इन शुभवचनों के कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करनेसे ही मनकी शक्ति बढ सकती है। परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्तशंसन है। इससे मन-की पवित्रता होकर मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान

इस 'ज्ञानाग्नि' को ही 'जात-वेद अग्नि' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद आदि अनेक नाम हैं। मान-सिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसकी इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरणमें जाना चाहिए। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु॥ (मं. ८)

'इस प्रदीप्त जातवेद नामक ज्ञानाग्निमें तेरा पांव मैं रखता हूं। यह ज्ञानाग्नि तेरे शरीरके रोम रोममें प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणाग्निके पास जावे।' जो मनुष्य अपना आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढानेका इच्छुक है उसको अपने आपको ज्ञानसे संयुक्त करना चाहिये। जिस प्रकार लोहा अग्निमें पडकर थोडे समयमें अग्निरूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पडा हुआ यह मनुष्य थोडे ही समयमें अपने आपको ज्ञानाग्निसे-जातवेद अग्निसे प्रदीप्त हुआ देखता है। यह ज्ञानावस्था है।

जीवित वाणी

इस समय इसकी वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति होती है, मानो इसकी वाणी जीवितसी हो जाती है। (वाक् असुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है। सामान्य मनुष्यों-की वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है। वह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है, यह जीवित वाणीका साक्षात्कार है।

शाखा छेदन

टेढी मेढी शाखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है। वृक्षपर यदि बेलोंका भार बढ जाए तो वृक्षको बढानेके लिये उस भारसे मुक्त करना आवश्यक होता है। अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं हैं। इसी प्रकार इस अश्वत्थ वृक्षके विषयमें जानना चाहिये। इस विषयमें श्री भगवद्गीतामें कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ ३॥ (गीता अ० १५)

'ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार जिसका फैला हुआ है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है। ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हुई हैं। इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे काट करके यहां इसको ठीक करना चाहिये' तत्पश्चात् उसतिका

मार्ग विदित हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है—

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः॥ (मं. ७)

' सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं। तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यमके घरको जा। ' इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है। और यहां काटनेका शस्त्र ' ब्रह्म ' अर्थात् ' ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र ' इत्यादि प्रकारका है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है। यहां यह विचारणीय है कि क्या कभी ' ज्ञान अथवा ईश उपासना ' (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बनकर किसीको काट सकते हैं? यदि ये शस्त्र बनकर किसीको काटते होंगे तो किसको काटते हैं?

असंगास्त्र और ब्रह्मास्त्र

गीतामें ' असंगशस्त्र ' से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है। वासनाएं भी भोगकी इच्छासे ही फैलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयोंके ही होते हैं। अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंका काटना है, वे शाखाएं इंद्रियभोगकी वृत्तिरूप ही हैं। भगवद्‌गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको ब्रह्मास्त्रसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है—

अश्वत्थं...असंगशस्त्रेण छित्वा॥ (भ० गीता १५।३)
सप्त प्राणान्...ब्रह्मणा वृश्चामि॥ (अथर्व० २।१२।७)

' वृश्चामि ' का अर्थ भी ' छेदन ' ही है। दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक हैं। (असंग) वैराग्य और (ब्रह्म) ज्ञान, उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एक ही अर्थके द्योतक हैं, आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं। वैराग्यके विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तारको भगवद्‌गीता काटना चाहती है, उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है। इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें ' सप्त प्राण ' की खोज करनी आवश्यक है—

सप्तप्राण

१ प्राणा इन्द्रियाणि।
(ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२; २२।४।३)
२ सप्तशिरसि प्राणाः॥
(ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२; २२।४।३)
३ सप्त शीर्षन् प्राणाः॥ (शत० ब्रा० ९।५।२।८)
४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः॥
(ऐ. ब्रा. १।१७; तै. ब्रा. १।२।३।३)

' (१) प्राण ये इन्द्रियें ही हैं। (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रियें हैं। ' इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है। इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रियें ही हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। कईयोंके मतसे ये इंद्रियें दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख मिल कर सात हैं और कईयोंके मतसे कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नाक, शिस्न और मुख हैं, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं। इनके कारण उत्तम, मध्यम अथवा निकृष्ट गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतना ही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भयमें ग्रस्त होता है, वे सात इन्द्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटनी चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यानके वृक्षोंको टेढा मेढा नहीं बढने देता, उसी प्रकार इस शरीरके क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मारूपी माली है, उसको अपने उद्यानके इन सब वृक्षोंको टेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लग जाएं तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको अपनी मर्यादामें ही रखना चाहिए।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रियें यदि बुरे व्यवहार करने लगें तो उनको असङ्गके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णवृत्तिसे उनका दमन करना चाहिये। इन्द्रिय दमनसे ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है। शाखा छेदनका तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी

इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथियों या धमनियोंका भी छेदन करनेका विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां हैं और

इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होनेवाला जीवनरस तो आवश्यक ही है, परंतु इसीसे हीन प्रवृत्तिके होने पर उस हीन वासनाका नाश करना चाहिये। उदाहरणार्थ गुदाके पासकी मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्री पुरुष विषयक काम उत्पन्न होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहे और शेष ब्रह्मचर्य पालन हो तो यहांकी ही दिव्य शक्ति ईशभक्तिमें परिणत हो सकती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दीखनेवाले इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको 'ग्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संज्ञाएं दी हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांवका हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेवन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेवन (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञानरूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये —

संयमका मार्ग

१ समिद्धे जातवेदसि पदं- जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है। (मं. ८)

२ अग्निः शरीरं वेवेष्टु- जिसके शरीके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भडक उठी है। (मं. ८)

३ वाग् अपि असुं गच्छतु- जिसकी वाणी भी प्राणायामताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है। (मं. ८)

४ सप्त प्राणान् वृश्चामि- सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेवन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियोंको वशमें किया है। (मं. ७)

५ अष्टौ मन्यान् वृश्चामि- आठ मज्जा केन्द्रोंका भी जिसने छेवन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या

वही आत्मिक बलसे बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर, यमके, घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डरके मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युके डरको हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सदनं अयाः। (मं. ७)

'(अरंकृतः) अलंकृत (अग्नि-) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।' क्योंकि अब तुम्हें यमका वह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करनी चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवन ही ज्ञानाग्निमें समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पहुंचेगा।

निर्भय ऋषिकुमार

कठोपनिषद्में कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यमके पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ। उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये; अपितु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियोंका व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानास्त्रसे वासनारूपी शाखाओंका छेवन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुचि नहीं की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागवृत्तिसे अन्तमें उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषिकुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ ही वहांसे वापस आया। ऐसा क्यों हुआ? इसलिये कि नचिकेता ऋषिकुमार अग्निका दूत बनकर, ज्ञानका सेवक बनकर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इसलिये वह निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यमके पास जायेंगे वे डरते हुए जायेंगे, इसलिये पकडे जायेंगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीको मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव- एकके दुःखसे दूसरा दुःखी

यहांतक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें 'आत्मवद्भाव' इस समय जीवित

और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमानके भावसे देखने लगता है। वह दूसरोंके दुःखसुखको अपना ही समझने लगता है, वह अपनेमें और दूसरेमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखोंसे अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने लगता है, उसकी इतनी उच्च मनोवस्था उस समयतक बन चुकी होती है। इसलिये जिस समय वह सचमुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणि भी सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है और सब जगत्के दुःखका भार आनंदसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक तन्तुवाद्यके एक तारको बजानेपर अन्य सभी तार स्वयं बजने लगते हैं; इसी प्रकार यह ज्ञानीके 'सर्वात्मभावके जीवन' से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह 'आत्मवद्भाव' की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है—

मयि तप्यमाने ते इह तप्यन्ताम्। (मं. १)

'मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां संतप्त हों।' पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत्को सुखी करनेके लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत्को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकारकी भावना जिसके रोम रोम में भरी हुई है, जिसके दैनिक जीवनमें ढाली गई है; वह अपने आपको जगत्के साथ एकरूप देखता है, जगत्को अपनी आत्माके समान समझता है, या यों कहें कि वह जगत्के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्र द्वारा बतायी है।

यह मनुष्यकी उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुःखी होता है और इसके दुःखसे भी सब दूसरे दुःखी होते हैं। इस पूर्ण अवस्थामें जगत्के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल और आत्माकी शक्ति बढाते बढाते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्गके विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी

जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ यः अतीव मन्यते- जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपनेसे और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है। (मं. ६)

२ क्रियमाणं नः ब्रह्म यः निन्दिषत्- किये जानेवाले हमारे ज्ञानसंग्रहकी जो निंदा करता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है। (मं. ६)

३ वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु- सब कर्म उसके लिये तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट हों, किसी भी कर्मसे उसको कभी शांति न मिले। (मं. ७)

४ द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति- प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती। (मं. ७)

ज्ञानके विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है और यह अत्यंत घातक है। यदि स्वयं ज्ञानवर्धनका प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलिन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है। इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसे ही करता है, इस कारण जैसे उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है। यह बात इस छठे मंत्रने बताई है। अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिये—

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु। (मं. ५)
२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति
स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्। (मं. २)
३ अमुं दैव्येन हरसा आददे। (मं. ४)
४ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति
तं कुलिशेन वृश्चामि। (मं. ३)

'(१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे । (२) जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियम में रखा जावे । (३) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड कर रखता हूं । (४) जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं।'

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं । पहिले वाक्यने कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्यने कहा है कि उसको बांधकर नियममें रखा जावे, यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसके सिरको काटनेकी बात कही है । यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिये । मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघ द्वारा दूसरी जातिका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है। इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है । यह दण्ड भी व्यक्ति द्वारा नहीं दिया जाता प्रत्युत राजसभा द्वारा दिया जाता है ।

दूसरेकी ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडा भारी पाप है, इससे दूसरोंके साथ साथ अपनी भी अधोगति होती है। इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका-पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार

सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है । जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरुष हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं अर्थात् बचपनसे जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है उसके अज्ञानमें फंस जानेकी संभावना कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है—

तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः वसुभिः
अङ्गिरोभिः आदित्येभिः पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु॥ (मं० ४)

'वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगानपूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।' परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है । माता-पिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है । येही आनुवंशिक शुभ संस्कार हैं । हम यह नहीं कहते कि जिनके ऐसे शुभ संस्कार नहीं हैं वे अधम मार्गपर ही चलते रहेंगे, परंतु हमारा कहना तो यही है कि मनुष्यकी उन्नतिमें ये शुभ कर्म सहायक अवश्य होते हैं । इस लिये परिवारोंके मुख्य पुरुषोंको चाहिए कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही पडते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है ।

ईश प्रार्थना

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि इन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं । इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है । स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी । इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईश प्रार्थना मुख्य साधन है, परंतु यह प्रार्थना दिलसेही होनी चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य हैं—

हे सोमप इन्द्र ! श्रुणुहि ।
यस्त्वा शोचता हृदा जोहवीमि ॥ (मं० ३)

'हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु ! सुनो जो मैं भक्तिसे जलते हुए हृदयसे तुमसे कह रहा हूं।' हृदयके अंदरसे आवाज आनी चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये । ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । तथा—

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं श्रृणुत । (मं० २)

'जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें !' इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

'द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम् ।
विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम् ॥ (मं० ५)

'द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें । ' अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलताके साथ मेरा कार्य चलता रहे । कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो । मेरे

अंतःकरणमें देवताओंकी कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें। देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करना चाहिये।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर बनाना चाहिये, तभी वहां सदा दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे। इस प्रकार देवोंका जाग्रत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासकको अवश्य प्राप्त होंगे।

बंधनसे मुक्त होना

कांड ६, सूक्त ६३

(ऋषिः - द्रुह्वणः। देवताः - निर्ऋतिः, यमः, मृत्युः, अग्निः, ।)

यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत्ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥
नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवी निर्ऋतिः) दुर्गतिने (यत् यत् अविमोक्यं दाम ते ग्रीवासु आबबन्ध) जो जो सहजहीमें न छूटनेवाला बंधन तेरी गर्दनमें बांधा है, उसे (ते आयुषे बलाय वर्चसे वि स्यामि) तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विताके लिये मैं खोलता हूं। अब (प्रसूतः अदः-मदं अन्नं अद्धि) आगे बढकर हर्षदायक अन्नका तू भोग कर ॥ १ ॥

हे (निर्ऋति) दुर्गति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है। हे (तिग्मतेजः) उग्र तेजवाले। (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) लोहमय पाशोंको तोड डाल। (यमः त्वां पुनः इत् मह्यं ददाति) यम तुझको पुनः मेरे लिये देता है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस नियामक मृत्युको नमस्कार होवे ॥ २ ॥

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्टस्तंभमें किसीको बांधती है तब वह (ये सहस्रं) हजारों दुःखवाले उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है। (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा ॥ ३ ॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यके गलेमें दुर्गति, अलक्ष्मीके पाश सदा बंधे रहते हैं। विना प्रयत्न किये ये पाश छूट नहीं सकते और जबतक ये पाश गलेमें अटके रहते हैं तब तक दीर्घ आयु, बलकी वृद्धि और तेजस्विता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये हरएक मनुष्य ये पाश तोड डालें और आनन्द देनेवाला अन्न भोगें ॥ १ ॥

लोहेकी जंजीरकी तरह तोडनेमें कठिन इस दुर्गतिके पाशको तोड। इस कार्यके लिये उग्रतेजवाले देवका आश्रय कर। यह सामर्थ्य सबका नियामक देव तुझको देगा, इसलिये उसको प्रणाम कर ॥ २ ॥

जिसके गलेमें ये पाश बंधे हुए हैं, उसको हजारों दुःख और सैंकडों विनाश सदा सताते हैं। इन रक्षकोंके और नियामकोंके साथ मैत्री जोड, इस मनुष्यको बंधनमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचा ॥ ३ ॥

*

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ । इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वृषन् अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! आप (अर्यः) सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये आप (विश्वानि इत् सं सं आयुवसे) सबको निश्चयसे मिला देते हैं और (इडः पदे समिध्यसे) वाणीके और भूमिके स्थानमें प्रकाशित होते हैं (सः नः वसूनि आभर) वह आप हमें धन प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ— बलवान् ईश्वर सबके ऊपरका शासक है। वह सबकी संघटना करता है और सब पदार्थ मात्रोंके बीचमें प्रकाशित होता है और वही वाणीका प्रेरक भी है। वह ईश्वर हमें धनादि पदार्थ देवे ॥ ४ ॥

बंधनसे मुक्त होना

पारतंत्र्यका घोर परिणाम

पारतंत्र्यका, बंधनमें रहनेका घोर परिणाम इस सूक्तने इस प्रकार बताया है—

अविमोक्यं दाम। (मं. १)
अयस्मयाः पाशाः ॥ (मं. २)
अयस्मये द्रुपदे बेधिषे,
इह सहस्रं मृत्युभिः अभिहितः ॥ (मं. ३)

' पारतंत्र्यके पाश सहजहीमें छूटनेवाले नहीं हैं। जिस प्रकार लोहेकी जंजीर तोडनेके लिये कठिन होती है, उसी प्रकार ये पारतंत्र्यके पाश तोडनेमें कठिन होते हैं। जो मनुष्य इन लोहमय पाशोंके द्वारा स्तंभसे बांधा जाता है, उस पर हजारों दुःख और मृत्युएं आती हैं और उनसे मानो वह बांधा जाता है।'

परतंत्रताके बंधनमें पडा हुआ मनुष्य सैंकडों आपत्तियोंसे घिर जाता है और उसको मुक्तिका मार्ग भी नहीं दीखता, ऐसा वह विड्मूढसा हो जाता है। यह सब ठीक है, तथापि मनुष्यको बन्धनसे अपना छुटकारा पाना आवश्यक ही है, क्योंकि पारतंत्र्यमें किसी प्रकारकी भी उन्नति नहीं हो सकती। इसलिये कहा है कि—

अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत। (मं. २)

' लोहमय बंधनोंको तोड दो।' क्योंकि जबतक ये पाश नहीं टूटते तबतक तुम्हारी उन्नति किसी प्रकार भी शक्य नहीं है।

पाश तोडनेसे लाभ

पारतंत्र्यके पाश तोडनेसे क्या लाभ होगा और बंधनमें सडते रहनेसे क्या हानि होगी इसका विवरण यह मंत्रभाग करता है—

ते तत् अविमोक्यं दाम आयुषे वर्चसे बलाय
विष्यामि। प्रसूतः अदोमदं अन्नं अद्धि ॥ (मं. १)

' तेरे न टूटनेवाले इस पाशको तोडता हूं। पाश टूटनेसे और स्वातंत्र्य मिलनेसे तुझे दीर्घ आयु, तेज और बल प्राप्त होगा और अन्न भोग पर्याप्त प्राप्त होंगे।' पारतंत्र्यके बंध कितने भी अटूट हों, उनको तोडनेसे ये चार लाभ अवश्य प्राप्त होंगे, लोग दीर्घायु होंगे, जनताका तेज बढेगा, लोग बलवान् होंगे और अन्न आदि भोग्य पदार्थ पर्याप्त परिमाणमें मिलेंगे। स्वातंत्र्यके ये लाभ हैं।

पारतंत्र्यमें रहनेसे जो हानियां हैं उनका भी ज्ञान इससे हो सकता है, जैसे लोगोंकी आयु क्षीण होगी, जनतामें बल नहीं रहेगा, उनमें तेजस्विता न होगी और किसीको खानेके लिये अन्न भी नहीं मिलेगा। हरएक परतंत्र मनुष्यको ये आपत्तियां भोगनी पडती हैं, इसलिये हरएकको उचित है कि वह पारतंत्र्यका बंधन तोड दे और बंधनसे मुक्ति प्राप्त करे और अपने आपको स्वर्गधामका अधिकारी बनावे।

परस्परकी मित्रता करना

कांड ६, सूक्त ४२

(ऋषिः – भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः) । देवता – मन्युः ।)

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः । यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥
सखा॑यावि॒व सचाव॒हा अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते । अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्याम॒सि यो गु॒रुः ॥ २ ॥
अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च । यथा॑व॒शो न वादि॑षो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

अर्थ— (धन्वनः ज्यां इव) धनुष्यसे डोरीको उतारनेके समान (ते हृदः मन्युं अवतनोमि) तेरे हृदयसे क्रोधको हटाता हूं । (यथा संमनसौ भूत्वा) जिससे एक मनवाले होकर (सखायौ इव सचावहै) मित्रके समान हम परस्पर मिलकर रहें ॥ १ ॥

(सखायौ इव सचावहै) हम दोनों मित्र बनकर रहें इसलिये (ते मन्युं अव तनोमि) तेरे क्रोधको मैं हटाता हूं। (यः गुरुः) जो बडा क्रोध है उस (ते मन्युं) तेरे क्रोधको (अश्मनः अधः उप अस्यामसि) पत्थरके नीचे दबा देते हैं ॥ २ ॥

(ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च अभितिष्ठामि) तेरे क्रोधको एडीसे और पांवकी ठोकरसे मैं दबाता हूं। (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल होकर और (अवशः न अवादिषः) परतंत्रताकी बात न कह सके ॥ ३ ॥

क्रोध

क्रोध ऐसा है कि, वह दिलोंको फाड देता है, विरोध उत्पन्न करता है और द्वेष बढाता है । इस क्रोधको मनसे हटाना चाहिये । जिस समय क्रोध हट जाता है, उस समय दिल साफ हो जाता है और परस्पर मेल होनेकी संभावना होती है । इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने मनसे क्रोधको इस प्रकार हटावे, जिस प्रकार युद्धसमाप्तिके समय वीर पुरुष अपने धनुष्यसे डोरीको हटा देते हैं। क्रोधको दूर करके उसको दूर ही दबाकर रखें, जिससे वह फिर अपने मन पर चढ न सके । यदि क्रोध फिर पास आने लग जाए तो उसको ऐसी ठोकर मारनी चाहिये कि जिससे वह फिर उपर न चढने पावे । मनुष्यको उचित है कि वह कभी क्रोधके आधीन न होवे और क्रोधी वचन न बोले ।

इस प्रकार क्रोधको दूर करके शान्ति धारण करनेसे परस्पर मिलाप होता है और इस प्रकार संगठनसे शक्ति बढ जाती है ।

अग्निकी ऊर्ध्वगति

कांड ५, सूक्त २७

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – अग्निः ।)

ऊ॒र्ध्वा अ॑स्य स॒मिधो॑ भवन्त्यू॒र्ध्वा शु॒क्रा शो॒चींष्य॒ग्नेः ।
द्यु॒मत्त॑मा सुप्रती॑कः सस॑नुस्तनू॒नपा॒दसु॑रो॒ भूरि॑पाणिः ॥ १ ॥

अर्थ – (अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्निकी समिधाएं ऊंची होती हैं तथा इस अग्निकी (शुक्रा शोचींषि ऊर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं । यह अग्नि (द्युमत्तमा) अति प्रकाशवाली, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) सुंदर रूपवाली, पुत्रोंसहित रहनेवाली, (तनू-न-पात्, असु-रः) शरीरको न गिरानेवाली, जीवन देनेवाली और (भूरि-पाणिः) अनेक हाथोंसे अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त है ॥ १ ॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ ३ ॥
अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥
अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥
तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन्वसुधातरश्च ॥ ६ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥
उरुव्यचसाऽग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥
दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

अर्थ— (देवेषु देवः देवः) सब देवोंमें मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृतसे मार्गको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करने-वाली, प्रेरक, सबको स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करती हुई चलती है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शवसा घृता नमसा चित्) यह प्रशंसित हुई हुई अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छ एति) भली प्रकार चलती है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु स्रुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञोंमें स्रुचाओं [चमसों] की इच्छा करनेवाली अग्नि होती है। (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) वह यजमान इस अग्निकी महिमाकी उपासना करे ॥ ५ ॥

(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाली अग्नि हर्षके समयमें यजन करनेवाली होती है। (वसु-धा-तरः वसवः च अतिष्ठन्) धनोंको अधिक धारण करनेवाली अग्नि और वसु सबके ऊपर स्थित हैं ॥ ६ ॥

(देवीः द्वारः) दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (अस्य व्रतं) इसके व्रतको (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलतासे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा धाम्ना) अग्निके अतिविस्तृत धामसे (पत्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पति-रूप बननेवाले, उत्तम रीतिसे चलनेवाले, समीपस्थित, परस्पर संगत, (उषासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अवतां) प्रातःकाल और सायंकाल हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

हे (दैवा होतारः) दिव्य होता गण ! (नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्नेः जिह्वया अभिगृणत) हमारे ऊंचे यज्ञकी अग्निकी जिह्वाके द्वारा प्रशंसा करो और (नः स्विष्टये गृणत) हमारी उत्तम इष्टिके लिये प्रशंसा करो। (इडा सरस्वती भारती मही) मातृभाषा, मातृसभ्यता और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये (तिस्रः देवीः) तीन देवियां (इदं बर्हिः सदन्तां) इस यज्ञमें विराजें ॥ ९ ॥

(देव त्वष्टः) हे त्वष्टा देव ! (नः तत् तुरी-पं अद्भुतं) हमारे लिये वह त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (पुरुक्षु रायः पोषं) निवासके लिये हितकारी धन और पुष्टि दे और (अस्य नाभिं विष्य) इसकी मध्य ग्रंथिको खोल दे ॥ १० ॥

वनस्पतेऽवं सृजा रराणः । त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥
अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः । इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

अर्थ— हे वनस्पते ! (रराणः अवसृज) दान करता हुआ तू हमारी ओर धनकी धारा खोल दे । (शमिता अग्निः त्मना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु) शांति स्थापन करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिसे देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका स्वाद देवे ॥ ११ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी प्रकाश स्वरूप देव ! (स्वाहा कृणुहि) तू स्वाहा रूप यज्ञ कर । तथा (इन्द्राय यज्ञं) इन्द्रदेवके लिये यज्ञ कर । (विश्वे देवाः इदं हविः जुषन्तां) सब देव इस हविका सेवन करें ॥ १२ ॥

यज्ञका महत्त्व

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसापरक है । यज्ञयाग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खुला होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है । जिस प्रकार (अग्नेः ऊर्ध्वाः शोचींषि) अग्निकी ज्वाला ऊपर जाती है और कभी नीचेकी दिशामें नहीं जाती, ठीक उसी प्रकार अग्निकी उपासना करनेवाला याजक सीधा उच्च मार्गसे उच्च गति प्राप्त करता है । यज्ञयागका यह महान् फल है

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमिका आदर बढता है, क्योंकि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है । यज्ञमें इनके लिये अग्रस्थान मिलता है । यह बात नवम मंत्रमें कही है ।

इस सूक्तमें कहे गए अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं । उन गुणोंका मनन करके उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अंदर बढाने चाहिये । उन्नतिका यह सीधा मार्ग है ।

ब्राह्मणधर्मका आदेश

कांड २, सूक्त ६

(ऋषिः – शौनकः (सम्पत्कामः) । देवता – अग्निः ।)

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष; (ऋषयः) ऋषि तथा (यानि सत्या) सब सत्यधर्म (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें । (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (सं दीदिहि) उत्तम प्रकारसे प्रकाशित हो और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों दिशाओंमें (आ भाहि) प्रकाशित हो ॥ १ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी ब्रह्मकुमार ! महिने, ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥
क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति स्रुधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (सं इध्यस्व) उत्तम नीतिसे प्रज्वलित हो (च इमं प्र वर्धय) और इसको बहुत बढा । (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) महान् ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह । हे अग्ने ! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक (मा रिषन्) नष्ट न हों और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण ही (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों (मा अन्ये) दूसरे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते) ये ब्राह्मण तुझे स्वीकार करते हैं । हे अग्ने ! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे पास रहकर तू हमारे लिए शुभ हो । हे अग्ने ! तू (सपत्नहा अभिमातिजित् भव) वैरियोंका नाश करने-वाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा (अ-प्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजाती-योंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर (राज्ञां वि-हव्यः) क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर (इह दीदिहि) यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! (निहः अति) मारपीट करनेवालोंका (स्रुधः अति) हिंसकवृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-चित्तीः अति) पापीवृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अथ त्वं) और तू (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (सहवीरं रयिं दाः) वीर पुरुषोंके साथ रहनेवाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठकर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हों, इतना ही नहीं अपितु तेरे सम्बन्धमें आनेवाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जांय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग तेरे शत्रु उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥

ये ज्ञानी लोग तुझे सम्मानसे स्वीकार करते हैं, इसलिये तू शुभ विचारवाला हो । तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करते हुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥

अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जातिमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतना ही नहीं अपितु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुझे आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओंको अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समीप न कर, तात्पर्य यह कि सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बना और हमारे लिये ऐसी संपत्ति ला, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

ब्राह्मणधर्मका आदेश

अग्निका स्वरूप

इस सूक्तमें अग्निका स्वरूप बताया है। इस अग्निके स्वरूपका वर्णन करते हुए ऋषि कहता है—

१ हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः
राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि ॥ (मं० ४)

' हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो । '

इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, अपितु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। ' स्वजातिकी सभामें प्रमुखस्थानमें बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) ' ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके ' (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य ' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियां हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातिका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं? इस प्रश्नका मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मणका वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि ' ब्राह्मण कुमार ' का वाचक है। ब्राह्मण कुमारको इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके सूक्तों द्वारा क्षत्रियधर्म बताया जाता है। अग्नि शब्दके इस भावको और स्पष्ट करनेके लिए सूक्तके वाक्य देखने चाहिए—

दीर्घ-आयुष्य

१ हे अग्ने ! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु- हे ब्राह्मण कुमार ! हे बालक ! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे तू युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन-ब-दिन, मास पर मास, ऋतु पर ऋतु और वर्ष पर वर्ष इसी प्रकार बढती रहे। (मं. १)

ज्ञान प्राप्ति

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु- ऋषि लोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावें। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। (मं. १)

सत्यनिष्ठा

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु- जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं. १)

अपने तेजका वर्धन

४ दिव्येन रोचनेन संदीदिहि- दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान् हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन प्रकारके बल बढानेका उपदेश दिया है, (१) दीर्घ आयुष्य और नीरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिलकर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये और फिर यह दिव्य तेज दूसरोंमें भी बढे इस बातका प्रयत्न भी करना चाहिए। (मं. १)

तेजका प्रकाश

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि- सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो। उपर्युक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंके उक्त तेजोंसे तेजस्वी करना चाहिए, अर्थात् एसे उपाय करना चाहिए, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होकर दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान् बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताने चाहिए, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी बनाना चाहिए और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्तिसे युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिकबल बढाना चाहिए। (मं. १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धय च- स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होकर पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करना चाहिए। (मं. २)

ऐश्वर्य-प्राप्ति

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ- महान् ऐश्वर्यके लिए उठकर खडा रह, अर्थात् महान् ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए

आवश्यक पुरुषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखना चाहिए । (मं. २)

स्वपक्षीयोंकी उन्नति

८ ते उपसत्तारः मा रिषन्- तेरे आश्रयमें रहनेवाले कभी बुरी अवस्थामें न गिरें । तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो । तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों । (मं. २)

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा- तेरे साथ रहनेवाले ज्ञानी यशस्वी हों, अन्य न हों । अर्थात् तेरे साथ रहनेवाले लोग यशके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथवाले तो तेरी त्रुटिके कारण आपत्तिमें पडें और तेरी गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगें । तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढा । (मं. ३)

१० इमे ब्राह्मणाःत्वां वृणुते । नः संवरणे शिवः भव- ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिये कल्याणकारी हो । तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वासपूर्वक तुझे ही स्वीकार करें । जनताका हितकारी होकर जनताका विश्वास संपादन कर । (मं. ३)

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव- प्रतिपक्षीकी पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दे । (मं. ३)

अपने घरमें जागना

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि- गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह । अपना घर ' शरीर, घर, समाज, जाति, राष्ट्र ' इतनी मर्यादातक विस्तृत है । हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है । यदि घरका स्वामी ही जाग्रत न रहे तो घरमें घुसकर शत्रु स्वामीको ही घरसे निकाल देंगे, इसलिए अपने घरकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिये । (मं. ३)

उत्साहसे पुरुषार्थ

१२ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व- अपने क्षात्रतेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर । शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपनेमें बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ करना चाहिए । (मं. ४)

मित्रभाव

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व- मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर । मित्रके साथ कभी कपट न करना चाहिए । (मं. ४)

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव- स्वजातियोंके मध्यमें अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर । अर्थात् स्वजातिमें तेरी योग्यता हीन न समझी जावे । तेरी जातिके लोग तेरा नाम आदरपूर्वक लें । (मं. ४)

१६ राज्ञां वि-हव्यः दीदिहि- क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो । अर्थात् केवल अपनी जातिमें ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी उसे आदरसे बुलावें, इतनी योग्यता मनुष्यको प्राप्त करनी चाहिए । (मं. ४)

चित्तवृत्तियोंका सुधार

१७ निहः सृधः अचित्तीः द्विषः अति तर- झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पापवासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर । अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर करके और अपने आपको इनसे दूर रखना चाहिए । (मं. ५)

१८ विश्वा दुरिता तर- सब पाप भावोंको दूर कर । पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख । (मं. ५)

३९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः- तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे । अर्थात् हमें धन प्राप्त करा और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी हममें उत्पन्न कर । हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा ।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं । हरएक वाक्यका भाव ऊपर दिया है । प्रत्येक वाक्यका भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा धारण करने योग्य है ।

अन्योक्ति-अलंकार

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके बहानेसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिये गए हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें । यहां अन्योक्ति अलंकार है । अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश दिया है ।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदिमें जो अग्नि जलती रहनी चाहिए, उसका स्वरूप इस सूक्तमें बताया है। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थ ही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आगके जलनेका भाव ही समझेंगे, वे इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि

दो अरणियों-लकडियों-के संघर्षणसे अग्नि उत्पन्न होती है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे (अधर अरणि) नीचेवाली लकडी स्त्रीरूप और (उत्तर अरणि) ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्ररूप माना जाता है। इस अलंकारसे देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।
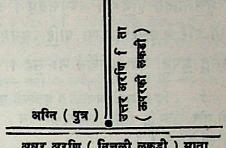
अधर अरणि (निचली लकडी) माता

यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्निरूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहांका उपदेश ब्राह्मणकुमारके लिए है।

[सूचना— यजुर्वेद अ. २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५, ६ इस क्रमसे आये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेषसी भिन्नता नहीं है, इसलिये उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।]

शापको लौटा देना

कांड २, सूक्त ७

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः।)

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी। आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः। ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात्सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अघ-द्विष्टा) पापसे द्वेष करनेवाली, (देव-जाता) देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत्) शापको दूर करनेवाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे उसी प्रकार (अधि-प्र अनैक्षीत्) धो डालती है (आपः मलं इव) जैसे जल मलको धो डालता है ॥ १ ॥

(यः च सापत्नः शपथः) जो सौतोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्रीका दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ— यह वनस्पति पापवृत्तिको हटानेवाली, दिव्यभावोंको बढानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे उसी प्रकार दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥

सापत्न भाईयोंके द्वारा, बहिनोंके द्वारा, स्त्रीपुरुषोंके द्वारा अथवा विद्वान् मनुष्योंके द्वारा क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह हमसे दूर हो ॥ २ ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् । तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् । अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह । चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ— (दिवः मूलं अवततं) द्युलोकसे मूल नीचेकी ओर आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथ्वीसे ऊपरकी ओर फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओरसे रक्षा कर ॥ ३ ॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, (मे प्रजां परि) मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥

(शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवालेके पास ही वापस चला जावे । (यः सुहार्त् तेन सह नः) जो उत्तम हृदयवाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो । (चक्षुः-मंत्रस्यः दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणीमसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— इस वनस्पतिका मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतानका, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

शाप देनेवालेके पास ही उसका शाप वापस चला जावे । जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो । जो आंखोंसे बुरे इशारे करके झगडा मचानेवाले दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शापको लौटा देना

शापका स्वरूप

शापको सब जानते ही हैं । गाली देना, आक्रोश करते हुए दूसरेके नाशकी बात कहना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं । जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं । यह सब क्रोधकी लीला है । यदि क्रोध हटकर उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आजाय तो शाप देनेके वृत्ति हट जायेगी । इसलिये इस सूक्तमें " सहस्र काण्ड " नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधीवृत्तिको दूर किया जाय ।

दूर्वाका उपयोग

सहस्रकाण्ड वनस्पतिका प्रसिद्ध नाम ' दूर्वा ' है । जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है । हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है । पित्तरोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तिष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है । इसके सेवनसे क्रोध शांत होता है । इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पिया जाता है, या गायके ताजे दूधके साथ पिया जा सकता है । सिरके संतप्त होनेपर इसको पीस कर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तककी गर्मी हट जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है ।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णनके प्रसंगमें '(अघ-द्विष्टा) पापसे द्वेष करनेवाली ' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं । मनके शांत हो जानेपर अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होती काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें । मन और इंद्रियोंके मलिन

वृत्तिको यह दूर करती है। इसके सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तेल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस पिया जाता है, लेप भी किया जाता है।

यह पापी विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रका यही आशय है। शाप देना, गाली देना आदि जो वाणीकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेकी गाली या शापका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसे विचार कभी न आवे; यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दब जानेका।

तीसरे मंत्रमें कहा है कि यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आई है और भूमिसे उगी है, वह पूर्वोक्त प्रकारसे मनकी शान्ति मेरी रक्षा करे।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतानकी और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

मनोविकारोंसे हानि

काम क्रोधादि उच्छृंखल मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुई तो वह असंख्य आपत्तियां लाती हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवारके साथ करती हैं। एक ही कामके कारण कितने ही परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहनेसे कितने ही कुटुंब मिट्टीमें मिल गए हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने ही मनुष्योंका नाश हो चुका है। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसे हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मनके सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य अपना, अपने संतानका और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

सुविचारी पूर्ण मनसे योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे करते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादिकोंको मर्यादासे अधिक ब ने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता और इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे छोडकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है।

शापको वापस करना

पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और ये ही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्तमें यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये—

शपथः शप्तारं एतु। (मं. ५)

'शाप शाप देनेवालेके पास वापस जावे!' गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे!! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानसशास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत् है। मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। 'ये कम्प जहां पहुंचनेके लिये भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकार्य न हुए; तो उसी वेगसे भेजनेवालेके पास वापस आजाते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं।' यह मानस शक्तिका चमत्कार है और शाप या गाली देनेवालेको इस नियम का अवश्य मनन करना चाहिये। इसका विचार ऐसा है—

१ एक 'अ' मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव 'क' के नाश करनेकी प्रबल इच्छासे 'क' मनुष्यके पास भेजे दिये।

२ यदि 'क' भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है, उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर 'अ' को गाली, शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरेके शाप परस्परके ऊपर जाने लग जाएं, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि 'क' उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य हो, तो 'अ' से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपोंको अपने मनमें रहनेके लिये स्थान नहीं देता; इसलिये आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लोटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले 'अ' के पास जाते हैं। और उसका मन विकृत हो जाता है।

इस प्रकार कुविचारके वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले 'अ' का दुगुना नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचारके दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगुना नाश हो जाता है। परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरसे आए हुए कुविचारको अपने मनमें स्थिर नहीं होने देता और उनको वापस भेज देता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है। इसलिये इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है।

इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको 'शाप वापस करनेकी विद्या' अवश्य जाननी चाहिये। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है।

योग्य मित्र

मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है,—

'यः सुहार्त् तेन नः सह। (मं. ५)'

'जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो,' उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदयवालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत, गंभीर और प्रसन्न रहता है। और पूर्वोक्त प्रकारसे शाप वापस भेजनेकी शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो।

दुष्ट हृदय

जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः-मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी होते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे भी परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दे। और यदि कोई दूसरा ऐसे दुष्ट इशारे करे तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य हों, उनकी संगतिमें कभी न रहें और सदा अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि (मं. ५)

'आंखसे बुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड देते हैं।' अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये और ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये। यह बहुमूल्य उपदेश है। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे अपितु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारोंको अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही चलता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग

इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिसमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोभरहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगतिमें रहने का उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेशका स्वरूप यह है।

हृदयरोग तथा कामिला रोगकी चिकित्सा

कांड १, सूक्त २२

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च ।)

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते । गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि । यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः । रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि । अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ— (ते हृद्-द्योतः हरिमा) तेरे हृदयकी जलन और पीलापन (सूर्यं अनु उदयतां) सूर्यके पीछे चला जावे। (गो-रोहितस्य) गौके अथवा सूर्यके (तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्टपुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

(रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं (यथा) जिससे (अयं) यह (अ-रपा असत्) नीरोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥

(याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लाल रंगकी गौवें हैं (उत या रोहिणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः) उनसे (रूपं रूपं) सुंदरता और (वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें घेरते हैं ॥ ३ ॥

(ते हरिमाणं) पीलक रोगको (शुकेषु रोपणाकासु च) तोते और पौधोंके रंगोंमें (दध्मसि) स्थापित करते हैं (अथो) और ते (हरिमाणं) तेरा फीकापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्यकिरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा। लाल रंगकी गौवें और सूर्यकी लाल किरणोंके द्वारा नीरोगता हो सकती है ॥ १ ॥

लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, पीलक रोग दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥

लाल रंगकी गौवें और लाल रंगकी सूर्यकिरणें दिव्य गुणोंसे युक्त होती हैं। रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगी घेरा जावे ॥ ३ ॥

इस लाल रंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा फीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी वनस्पतियोंमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नहीं आवेगा ॥ ४ ॥

हृदयरोग तथा कामिलारोगकी चिकित्सा

वर्णचिकित्सा

यह सूक्त ' वर्ण-चिकित्सा ' के महत्त्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है। मनुष्यको हृदयका रोग और कामिला नामक पीला रोग कष्ट देते हैं। अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यप्राशन आदि अनेक कारण हैं, जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते हैं। तरुण अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विकार उत्पन्न होते हैं। कामिला रोग पित्तके दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है। इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश,

निस्तेज, फीका, दुर्बल और दीन होता है। इसलिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस-सूक्तमें वेद बता रहा है। सूर्य-किरणों द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है।

सूर्यकिरण-चिकित्सा

सूर्यकिरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली शीशोंकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं। नंगे शरीरपर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं। यह रंगीन सूर्यकिरणोंका स्नान ही है। यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये। छतपर लालरंगके शीशे रखनेसे कमरेमें लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इसमें नंगे शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है।

जिस प्रकार उक्त रोगोंकी लाल रंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंकी भी अन्यान्य वर्णोंकी सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा संभव है। इसलिये सुयोग्य वैद्य इसका अधिक विचार करें और सूर्य किरण-चिकित्सा से रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखकी वृद्धि करें।

परिधारण विधि

सूर्यकिरण-चिकित्सामें 'परिधारण विधि' का महत्व है। इस सूक्तमें 'परि दध्मसि' शब्द चार वार, 'निद-ध्मसि' शब्द एकवार और 'दध्मसि' शब्द एकवार आया है। 'चारों ओरसे धारण करना' यह भाव इन शब्दोंसे व्यक्त होता है। शरीरके चारों ओरसे संबंध कर-नेका नाम 'परिधारण' है जिस प्रकार तालावके पानीमें तैरनेसे शरीरके साथ जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार लाल रंगकी सूर्यकिरणें कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रहना और शरीरको उलट पुलट करके सब शरीरके साथ लाल रंगके सूर्यकिरणोंका संबंध करना परिधारण विधिका तात्पर्य है।

१ रोहितैः वर्णैः परि दध्मसि। (मं. २)
२ दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि। (मं. २)
३ गो रोहितस्य वर्णेन त्वा परि दध्मसि (मं. १)
४ तामिष्ट्वा परि दध्मसि। (मं. ३)

ये सब मंत्र भाग रक्त वर्णके सूर्यकिरणोंका स्थान अर्थात् 'परिधारण' करनेका विधान कर रहे हैं। रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णकी सूर्यकिरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे नीरोगता, दीर्घ आयुष्यप्राप्ति तथा बलप्राप्ति भी हो सकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंकी स्नानोंकी योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारण-विधि अथवा किरण-स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिए सवेरेका कोमल प्रकाश, या दोपहरका कठोर प्रकाश वर्तना चाहिये इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीरवाले तथा सुदृढ या कठोर शरीरवाले होते हैं उनके लिये किरणस्नानका प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है। तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होते हैं और जो धूपमें कार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है। इस विचारका नाम ही 'रूप और बलके अनुसार विचार' करना है। (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्र भाग अत्यंत महत्वका है। रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरण-स्नानकी योजना करनी चाहिये। नहीं तो कोमल प्रकृति-वालेको अधिक स्नान देनेसे आरोग्यके स्थान पर अनारोग्य होगा। अथवा कठोर प्रकृतिवालेको अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा। इस दृष्टिसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करने योग्य है।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा

इसी सूक्तसे रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करने-की विधि भी बतायी है। गौवें सफेद, काले, लाल, भूरे, नसवारी, बादामी तथा विविध रंगके धब्बोंवाली होती हैं। सूर्यकिरणें गौकी पीठपर गिरती हैं और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है। श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाली गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे। वर्णचिकित्साका तत्त्व माननेपर यह परिणाम मानना

ही पडता है। इसीलिये इस सूक्तके मंत्र ३ में 'रोहिणीः गावः' अर्थात् लाल गौवोंके दूधका तथा अन्याय गोरसोंका उपयोग हृदय विकार और कामिलारोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है। इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौवोंके गोरसोंके उपयोग करनेका उपदेश प्राप्त होगा। वर्ण-चिकित्साका ही तत्त्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये वर्ता जायगा। दोनोंके बीचमें तत्त्व एक ही है।

पथ्य

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गोरस-सेवनका पथ्य रखनेसे अत्यधिक लाभ होना संभव है। अर्थात् लालरंगके किरणोंके परिधारण करनेके दिन लाल गोके दूधका सेवन करना इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

दोनों मूत्राशय

कांड ७, सूक्त ९६

(ऋषिः - कपिञ्जलः। देवता - वयः।)

असंदुन्गावः सदुनेऽपप्तद्वसतिं वयः। आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावंतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

अर्थ— (गावः सदने असदन्) जिस प्रकार गौवें गौशालामें बैठती हैं, (वयः वसतिं अपप्तत्) पक्षी घोंसलेकी ओर आते हैं, (पर्वताः आस्थाने अस्थुः) पर्वत अपने स्थानमें स्थिर हैं, उसी प्रकार (स्थाम्नि वृक्कौ अतिष्ठिपं) सुदृढ स्थानपर दोनों मूत्राशयोंको मैं स्थिर करता हूं ॥ १ ॥

शरीरमें दोनों ओर दो मूत्राशय हैं, वे सुदृढ स्थानपर हैं। उनको उत्तम अवस्थामें रखनेसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहता है। ये ही दो अवयव शरीरके विष दूर करते हैं अतः इनको ठीक अवस्थामें रखना हरएक मनुष्यका कार्य है। इंद्रिय-संयमसे ही ये दोनों ठीक अवस्थामें रहते हैं और अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।

वनस्पति

कांड ३, सूक्त १८

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - वनस्पतिः।)

इमां खंनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्। ययां सपत्नीं बाधते ययां संविन्दते पतिंम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परां णुदु पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

अर्थ— (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ऐसी (इमां बलवत्तमां वीरुधां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पत्रोंवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि! (मे सपत्नीं परा णुद) मेरी सपत्नीको दूर कर और (पतिं केवलं मे कृधि) पतिको केवल मेरा ही बना ॥ २ ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ । परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः । अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः । उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अर्थ— हे सापत्न स्त्री ! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने नहीं लिया है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी। अब मैं (परा सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नीको दूर करती हूं ॥३॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं। (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा)वह नीचसे नीच है ॥४॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि ! (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है। (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जयशाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीतें ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जयशालिनी वनस्पतिको रखा है (गौः वत्सं इव) जिस प्रकार गौ बछडेकी ओर दौडती है अथवा (वाः इव पथा) जल अपने मार्गसे दौडता है. उसी प्रकार अब (ते मनः मां अनु प्र धावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे ॥ ६ ॥

सापत्नभावका भयंकर परिणाम

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक शादियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढता है, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढती है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिल पाता। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्नभावका बीज न बोवे।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगती है और उसको कोई बुझा नहीं सकता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश हो जाता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करती हैं और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एक पत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

औषधि

कांड ८, सूक्त ७

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः।)

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥ १ ॥

अर्थ— (याः औषधिः) जो औषधियां (बभ्रवः) पोषण करनेवाली, (याः च शुक्राः) जो वीर्य बढानेवाली (उत रोहिणी) और जो बढानेवाली तथा (पृश्नयः) जो विविध रंगवाली (असिक्नीः कृष्णाः) श्याम व काली हैं। उन (सर्वाः अच्छा आवदामसि) सबको मुख्यतया पुकारते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— कई औषधियां पोषण करनेवालीं, कई वीर्य बढानेवालीं और कई मांसको भरनेवालीं हैं। ये विविध रंगरूपवाली, श्याम और काली हैं इनका औषधिप्रयोगमें उपयोग होता है ॥ १ ॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद्देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥ २ ॥
आपो अग्रं दिव्या ओषधयः । तास्ते यक्ष्ममेनस्यं१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥
प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥
यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

अर्थ— (यासां वीरुधां) जिन औषधियोंका (द्यौः पिता) द्युलोक पिता, (पृथिवी माता) पृथिवी माता और (समुद्रः मूलं) समुद्र मूल (बभूव) हुआ है उन औषधियोंसे (इमं पुरुषं) इस मनुष्यको (देव-इषितात् यक्ष्मात्) देवसे प्रेरित रोगसे (अधि त्रायन्तां) बचावें ॥ २ ॥

(आपः अग्रं) जल मुख्य हैं और (ओषधयः दिव्याः) औषधियां भी दिव्य हैं । (ताः ते एनस्यं यक्ष्मं) वे तेरे पापसे उत्पन्न रोगको (अंगात् अंगात् अनीनशन्) अंगप्रत्यंगसे नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

(प्रस्तृणतीः) विशेष विस्तारवाली, (स्तम्बिनीः) गुच्छोंवाली, (एक शुङ्गाः) एक कोपलवाली, (प्रतन्वतीः) बहुत फैलनेवाली, (ओषधीः आवदामि) औषधियोंको में पुकारता हूं । (अंशुमतीः) प्रकाशवाली (काण्डिनीः) पर्वोवाली (याः विशाखाः) जो शाखारहित हैं (ते आह्वयामि) में तेरे लिये उनको पुकारता हूं । ये (वीरुधः वैश्वदेवीः) औषधियां विशेष दैवी शक्तिसे युक्त (उग्राः पुरुषजीवनीः) प्रभावयुक्त और मनुष्यका जीवन बढानेवाली हैं ॥४॥

हे (सहमानाः ओषधीः) रोगनाशक औषधियो ! (यत् वः सहः) जो तुम्हारा सामर्थ्य है (यत् च वः वीर्यं बलं) और जो वीर्य और बल हैं (तेन इमं पुरुषं) उससे इस पुरुषको (अस्मात् यक्ष्मात् मुञ्चत) इस रोगसे बचाओ । (अथो भेषजं कृणोमि) और में औषध बनाता हूं ॥ ५ ॥

(जीवलां जीवन्तीं) आयु देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (अरुंधतीं) जीवनमें रुकावट न करनेवाली (उन्नयन्तीं मधुमतीं) उठानेवाली मीठी (पुष्पां ओषधीं) फूलोंवाली औषधीको (इह अस्मै अरिष्टतातये अहं हुवे) यहां इसकी नीरोगताकी प्राप्तिके लिये में बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ — औषधियां भूमिपर उगती हैं और इनकी रक्षा आकाशस्थ सूर्यादिकोंसे होती है । ये औषधियां जल वायु आदि देवोंके प्रकोपसे होनेवाले रोगोंसे बचाती हैं ॥ २ ॥

मुख्य औषध जल है, औषधियां भी दिव्य वीर्यवाली हैं । ये वनस्पतियां पापसे उत्पन्न होनेवाले हर एक रोगसे मनुष्यको बचाती हैं ॥ ३ ॥

कई औषधियां बहुत फैलती हैं, कई गुच्छोंवाली होती हैं, कई कोपलोंवाली रहती हैं, कईयोंका विस्तार बहुत होता है । इन सबकी प्रशंसा आयुर्वेद प्रयोगमें होती है । ये वनस्पतियां अनेक दिव्यशक्तियोंसे युक्त होती हैं और मनुष्यका जीवन दीर्घ करती हैं ॥ ४ ॥

औषधियोंमें जो समर्थ, वीर्य और बल है, उससे इस मनुष्यका यह रोग दूर होवे । इसीके लिये यह औषध बनाया जाता है ॥ ५ ॥

जीवनशक्ति बढानेवाली, दीर्घजीवन देनेवाली, न्यूनता न करनेवाली, शरीरव्यापारमें रुकावट न करनेवाली, शरीरकी सुस्थिति बढानेवाली, मधुरपरिपाकवाली फूलोंवाली औषधियोंको इस मनुष्यके आरोग्यके लिये में लाता हूं ॥ ६ ॥

*

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम । यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥
अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः । ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥
अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥
उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥
अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः । त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥
मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

अर्थ— (प्रचेतसः मम वचसः) ज्ञानी मुझ वैद्यके वचनोंसे (मेदिनीः इह आयन्तु) पुष्टिकारक औषधियां यहां आवें । (यथा) जिससे (इमं पुरुषं) इस पुरुषको (दुरितात् अधि पारयामसि) पापके दुःखरूपी भोगसे पार करा सकें ॥ ७ ॥

(याः भेषजीः) जो औषधियां (अग्नेः घासः) अग्निका अन्न और (अपां गर्भः) जलोंका गर्भरूप है और (पुनः-नवाः रोहन्ति) पुनः नवीन जैसी बढती हैं वे (सहस्रनाम्नीः) हजार नामवाली (आभृताः ध्रुवाः सन्तु) लायी हुई औषधियां यहां स्थिर होवें ॥ ८ ॥

(अवका-उल्बाः उदकात्मानः) शैवालमें उत्पन्न होनेवाली, जल जिनकी आत्मा है ऐसी (तीक्ष्णशृङ्ग्यः ओषधयः) तीखे सींगवाली औषधियां (दुरितं विऋषन्तु) पापरूपी रोगको दूर करें ॥ ९ ॥

(उन्मुञ्चन्तीः विवरुणाः) रोगसे मुक्त करनेवाली, विशेष रंगरूपवाली (उग्राः विषदूषणीः) तीव्र, विषनाशक (अथो बलासनाशनीः) और कफको दूर करनेवाली, (कृत्यादूषणीः या ओषधीः) घातक प्रयोगोंका नाश करनेवाली जो ओषधियां हैं, (ताः इह आयन्तु) वे यहां प्राप्त हों ॥ १० ॥

(अभिष्टुताः अपक्रीताः) प्रशंसित और मोलसे प्राप्त की हुई (याः सहीयसीः वीरुधः) जो बलवाली औषधियां हैं वे (अस्मिन् ग्रामे) इस नगरमें (गां अश्वं पुरुषं पशुं) गौ, घोडा, मनुष्य और अन्य पशुकी (त्रायन्तां) रक्षा करें ॥ ११ ॥

(आसां वीरुधां) इन औषधियोंका (मूलं मधुमत्) मूल मीठा है, (अग्रं मधुमत्) अग्रभाग मीठा है, (मध्यं मधुमत् बभूव) मध्यभाग भी मीठा है। (आसां पर्णं मधुमत्) इनका पत्ता और (पुष्पं मधुमत्) फूल भी मीठा है। यह औषधियां (मधोः संभक्ताः) मधुसे भरपूर सींची हुई हैं। ये (अमृतस्य भक्षः) अमृतका अन्न ही हैं। ये औषधियां (गो-पुरो-गवं) गाय जिसके अग्रभागमें रखी होती है ऐसा (घृतं अन्नं दुह्रतां) घी और अन्न देवें ॥ १२ ॥

भावार्थ— मेरे वचनके अनुसार ये सब औषधियां मिलकर इस मनुष्योंको नीरोग बनावें। इसका यह रोग पापाचरणसे हुआ है ॥ ७ ॥

ये औषधियां अग्निका भोजनरूप हैं और वे जलको धारण करती हैं, बारबार बढती हैं। इनके हजारों नाम हैं। ये गुणधर्मसे स्थिर यहां हों ॥ ८ ॥

शैवालसे उत्क्रान्त होकर औषधियां बनीं, ये सब पापरूपी दोषसे मनुष्योंको बचावें ॥ ९ ॥

रोगको दूर करनेवालीं, तीव्र गुणवालीं, शरीरसे विषको दूर करनेवालीं, कफका दोष दूर करनेवाली औषधियां इस स्थानपर उपयोगी हों ॥ १० ॥

वीर्यवती औषधियां इस ग्रामके गौ, घोडे और मनुष्य आदिकोंकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

इन औषधियोंका मूल, मध्य और अग्रभाग, तथा उनके पत्ते और फूल मीठे हैं। यह अमृतका ही भोजन है, इससे गौ आदि प्राणियोंके लिये विपुल घृतादिकी प्राप्ति हो ॥ १२ ॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः । ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि । भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च । ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ १७ ॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा । अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ— (पृथिव्यां यावतीः कियतीः इमाः ओषधीः) पृथ्वीपर जितनी कितनी भी ये औषधियां हैं (ताः सहस्रपर्ण्यः) वे हजार पत्तोंवाली औषधियां (मा अंहसः मृत्योः मुञ्चन्तु) मुझे पापरूपी मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

(वीरुधां वैयाघ्रः मणिः) औषधियोंसे बनी व्याघ्र जैसी प्रतापी मणि (अभिशस्ति-पाः त्रायमाणः) विनाशसे बचानेवाली संरक्षक है । वह (सर्वाः अमीवाः) सब रोगोंको और (रक्षांसि) रोगकृमियोंको (अस्मत् दूरं अप अधि हन्तु) हमसे दूर ले जाकर मारे ॥ १४ ॥

(स्तनथोः सिंहस्य इव) जैसे गर्जनेवाले सिंहसे और (अग्नेः इव विजन्ते) अग्निसे लोग घबराते हैं उसी प्रकार (आभृताभ्यः) लाई हुई औषधियोंसे रोग (सं विजन्ते) भयभीत होते हैं । (वीरुद्भिः अतिनुत्त) औषधियोंसे भगाया हुआ (गवां पुरुषाणां यक्ष्मः) गौओं और पुरुषोंका रोग (नाव्याः स्रोत्याः एतु) नौकाओंसे जाने योग्य नदियोंसे दूर चला जावे ॥ १५ ॥

(यासां राजा वनस्पतिः) जिनका राजा वनस्पति है, वे (ओषधयः) औषधियां (मुमुचानाः) रोगोंसे छुडाती हुई (वैश्वानरात् अग्नेः अधि) वैश्वानर अग्निके ऊपर स्थित (भूमिं संतन्वतीः इतः) भूमिपर फैलती हुई जायें ॥ १६ ॥

(याः आंगिरसीः) जो अंगोंमें रस बढानेवाली औषधियां (पर्वतेषु समेषु च रोहन्ति) पहाडों और समभूमिपर फैलती हैं (ताः शिवाः पयस्वतीः ओषधीः) वे शुभ, रसवाली औषधियां (नः हृदे शं सन्तु) हमारे हृदयोंमें शान्ति देनेवाली हों ॥ १७ ॥

(अहं याः वीरुधः वेदः) में जिन औषधियोंको जानता हूं (याः च चक्षुषा पश्यामि) और जिनको मैं आंखसे देखता हूं, (याः अज्ञाताः जानीमः) जो नहीं जानी हुई औषधियां हैं, उन सबको अब हम जानते हैं, (यासु च संभृतं विद्म) जिनमें वीर्य भरपूर है उनको भी हम जानते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर जो भी औषधियां हैं उन अनन्त पत्तोंवाली औषधियां हम सबको मृत्युसे बचावें ॥ १३ ॥

औषधियोंसे बनी मणि विनाशसे बचानेवाली होती है; वह सब रोगों और रोगबीजोंको हम सबसे दूर करे ॥ १४ ॥

जिस प्रकार शेरसे और जलती हुई अग्निसे सब प्राणी डरते हैं, उस प्रकार औषधियोंसे रोग डरते हैं । अतः इन औषधियोंसे गौओं और मनुष्योंके रोग दूर हों ॥ १५ ॥

सोम राजाके राज्यमें ये सब औषधियां इस विशाल भूमिपर फैल जायें ॥ १६ ॥

औषधियां अङ्गरस बढानेवाली हैं, वे पहाडों और समभूमिपर उगती हैं, वे सब रसवार औषधियां हमारे हृदयोंको शान्ति देवें ॥ १७ ॥

जिन औषधियोंको हम पहचानते हैं और जिनको नहीं पहचानते, उन सबमें स्थित वीर्यको जानना चाहिये ॥१८॥

सर्वाः सुमग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम । यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥
अश्वत्थो दुर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः । व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥
उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः । यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥
तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि । अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥
वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् । सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥
याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः । वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

अर्थ— (सर्वाः समग्राः ओषधीः) सब संपूर्ण औषधियां (मम वचसः बोधन्तु) मेरे वचनसे जानें, (यथा) जिस रीतिसे (इमं पुरुषं दुरितात् अधि पारयामसि) इस पुरुषको पापरूपी रोगसे छुडा सकें ॥ १९ ॥

(अश्वत्थः) पीपल, (दर्भः) कुशा, (वीरुधां राजा सोमः) औषधियोंका राजा सोम, (हविः अमृतं) अन्न और जल, (व्रीहिः यवः च) चावल और जौ, (अमर्त्यौ भेषजौ) अमर औषधियां हैं। ये (दिवः पुत्रौ) द्युलोकसे पुत्रवत् पालन करते हैं ॥ २० ॥

(यदा पर्जन्यः स्तनयति अभिक्रन्दति) जब पर्जन्य गर्जता है और शब्द करता है कि हे (पृश्निमातरः ओषधीः) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाली औषधियो ! (उज्जिहीध्वे) ऊपर उठो, तब (पर्जन्यः रेतसा वः अवति) पर्जन्य अपने जलसे तुम्हारी रक्षा करता है ॥ २१ ॥

(तस्य अमृतस्य इमं बलं) उस अमृतका यह बल (इमं पुरुषं पाययामसि) इस पुरुषको पिलाते हैं। (अथो कृणोमि भेषजं) और औषध बनाता हूं; (यथा शतहायनः असत्) जिससे यह शतायु हो ॥ २२ ॥

(वराहः वीरुधं वेद) सुअर औषधीको जानता है, (नकुलः भेषजीं वेद) नेवला औषधीको पहचानता है, (सर्पाः गंधर्वाः याः विदुः) सर्प और गंधर्व जिनको जानते हैं, (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिए बुलाते हैं ॥ २३ ॥

(सुपर्णाः याः आंगिरसीः) गरुड जिन अंगरसवाली औषधियोंको (विदुः) जानते हैं, (याः दिव्याः रघटः विदुः) जिन दिव्य औषधियोंको चिडियां जानती हैं, (वयांसि हंसा याः विदुः) पक्षी और हंस जिनको पहचानते हैं, (याः च सर्वे पक्षिणः) जिनको सब पक्षी जानते हैं (याः ओषधीः मृगाः विदुः) जिन औषधियोंको हरिण जानते हैं, (ताः अस्मै अवसे हुवे) उनको इसकी रक्षाके लिए बुलाते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ— सब औषधियां मेरे अनुकूल रहकर इस मनुष्यको पापरूप रोगसे बचावें ॥ १९ ॥

पीपल, दर्भ, औषधियोंका राजा सोम, अन्न, बल, चावल और जौ ये सब दिव्य औषधियां हैं। इनसे अमरत्व अर्थात् दीर्घायुष्यकी प्राप्ति हो सकती है ॥ २० ॥

बडी गर्जना करके मेघ औषधियोंसे कहता है कि अब ऊपर उठो, तब मेघ उन्हें पानीसे सींचता है ॥ २१ ॥

उसीका बल औषधियोंमें संगृहीत हुआ है जो मनुष्यको पिलाता जाता है और जिससे मनुष्य दीर्घायु बनता है ॥ २२ ॥

सुअर, नेवला, सांप, गन्धर्व ये सभी औषधियां जानते हैं। इन औषधियोंसे प्राणियोंकी रक्षा हो ॥ २३ ॥

गरुड, चिडियां, पक्षी, हंस, मृग आदिक जिन औषधियोंको जानते हैं, उनसे प्राणियोंकी रक्षा की जावे ॥ २४ ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥
यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः । तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥
पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत । संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥
उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥

अर्थ— (यावतीनां ओषधीनां) जिन औषधियोंको (अघ्न्याः गावः प्राश्नन्ति) अवध्य गौवें खाती हैं, (यावतीनां अजावयः) जिनको भेड, बकरियां खाती हैं, (तावतीः आभृताः ओषधीः) उतनी लाई सब औषधियां (तुभ्यं शर्म यच्छन्तु) तेरे लिये सुख देवें ॥ २५ ॥

(भिषजः मनुष्याः) वैद्य लोग (यावतीषु भेषजं विदुः) जितनी औषधियोंमें औषध प्रयोग जानते हैं; (तावतीः विश्वभेषजीः) उतनी सब औषधवाली औषधियां (त्वां अभि आभरामि) तेरे पास सब ओरसे लाता हूं ॥ २६ ॥

(पुष्पवतीः प्रसूमतीः) फूलवाली, पल्लवोंवाली, (फलवतीः उत अफलाः) फलोंवाली और फलरहित औषधियां (अस्मै अरिष्टतातये) इसकी सुखप्राप्तिके विस्तारके लिये (संमातरः इव दुह्रतां) उत्तम माताओंके समान रस प्रदान करें ॥ २७ ॥

(पञ्चशलात् उत दशशलात्) पांच प्रकारके और दस प्रकारके दुःखोंसे (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमकी बेडियोंसे और (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधमें किये पापोंसे (त्वा उत् आहार्षं) तुझे ऊपर उठाया है ॥ २८ ॥

भावार्थ— जो औषधियां गौवें, भेड और बकरियां खाती हैं, उनसे मनुष्योंका कल्याण हो ॥ २५ ॥

मनुष्य जिनसे औषध बनाना जानते हैं, उन सबको यहां लाते हैं ॥ २६ ॥

फूलों, फलों और पल्लवोंवाली औषधियां इसकी नीरोगताके लिये लायी जाती हैं, वे उत्तम रस इसके लिये देवें ॥ २८ ॥

पांच और दस प्रकारके दुःख, यमके पाश, देवोंके संबंधमें होनेवाले पाप आदिसे औषधियों द्वारा हम सब तुझे बचाते हैं ॥ २८ ॥

औषधि

औषधियोंकी शक्तियां

इस सूक्तमें औषधियोंका वर्णन करते हुए जो विशेष महत्त्वकी बात कही है वह यह है कि रोगका मूल पापमें है । देखिये—

दुरितात् पारयामसि । (मं. ७, १९)
तीक्ष्णशृङ्ग्यः दुरितं व्यृषन्तु (मं. ९)
सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः । (मं. १३)

' ये औषधियां दुरितरूपी रोग अथवा मृत्युसे बचाती हैं। ' यहां ' दुरित, अंहस्, मृत्यु ' ये शब्द ' पाप, रोग और मरण ' के वाचक हैं । पापसे ही रोग होते हैं और रोगोंसे मनुष्य मरते हैं अर्थात् रोग, दुःख और मृत्यु ये सब पापसे ही होते हैं। यदि मनुष्य काया, वाचा, मन और बुद्धिसे पाप न करे, तो उसको कभी रोग न हो, कभी दुःख न हो और कभी उसको मृत्युके वश होना नहीं पडे । मनुष्यकी पापप्रवृत्ति ही उसके नाशका कारण है । मनुष्य शारीरिक पाप करके शारीरिक

कष्ट भोगता है, वाचिक पाप करके वाणीसंबंधी दुःख अनुभव करता है और मनसे जो पाप करता है उस कारण उसे मनके दुःख भोगने पडते हैं। दुःख, कष्ट, रोग और मृत्यु न्यूनाधिक भेदसे एक ही अवस्थाके भिन्न नाम हैं। इसलिये मृत्युसे तरनेका तात्पर्य दुःखसे मुक्त होना, रोगोंसे छूटना और मृत्युसे दूर होना हो सकता है। वेद और उपनिषदोंमें भी यह विषय अनेक वार आया है।

पापसे रोग

इस सूक्तमें कहा है कि औषधियां पापसे बचाती हैं और पापसे बचनेके कारण मनुष्य रोगसे बचता है और पाप समूल दूर होनेके कारण मनुष्य अन्तमें मृत्युसे भी बचता है। औषधियोंसे केवल रोगोंकी चिकित्साही नहीं होती है, योग्य औषधिसेवनसे शरीर, वाणी और मनकी पापप्रवृत्ति भी हट जाती है, रोगोंको दूर करनेको ही यदि कोई चिकित्सा समझे तो यह उसका भ्रम है। वास्तवमें रोग एक बाह्य चिन्ह है जिससे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्ति विदित होती है।

यहां प्रश्न होता है औषधियोंसे पापप्रवृत्ति कैसे हटती है? इस विषयमें कहना इतना ही है कि सात्विक, राजसिक और तामसिक, अन्नके सेवन करनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति भी वैसी ही बनती है। चावल, दूध, घृत आदि सात्विक पदार्थोंके खानेसे मनुष्य सात्विक बनता है, मांस और मद्यके सेवन करनेसे और प्याज आदिके भक्षण करनेसे राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति बनती है। इस विषयमें भगवद्‌गीताके श्लोक यहां मनन करने योग्य हैं—

तीन प्रकारका भोजन

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः
सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
(भ. गी. १७)

' आयु, सत्त्व, बल, नीरोगता, सुख, और रुचिको बढानेवाले रसदार, स्निग्ध, पौष्टिक और मनको प्रसन्न करनेवाले भोजन सात्विक लोगोंको प्रिय होते हैं ॥ कडुवे, खट्टे, खारे, गर्म, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले भोजन राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और ये भोजन दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ एक प्रहरतक पडा हुआ, बासा, रसरहित, बदबूवाला, झूठा, अपवित्र अन्न तामस लोगोंको प्रिय होता है ॥ ' अर्थात् एक अन्न आयु, बल, नीरोगता और सुख बढानेवाला है और दूसरा इन्हींको घटाता है। अतः जो मनुष्य दीर्घायु चाहता है उसको उचित है कि वह सात्विक भोजन करे। ये विचार प्रदर्शित करनेके लिये ही पापसे रोग और मृत्यु होते हैं और सात्विक अन्नसे पापवृत्ति हटती है इत्यादि बातें इस सूक्तमें कहीं हैं तथा—

अमर्त्य औषध

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ अमर्त्यौ ॥ (मं. २०)

' चावल और जौ अमर होनेकी औषधियां हैं। ' ऐसा कहा है। यह अत्यंत सात्विक भोजन है। इसी प्रकार सोम नामक जो अमृतरस है वह भी अमरत्व देनेवाला है, ऐसा—

सोमो राजा अमृतं हविः। (मं. २०)

इस मंत्रमें कहा है। तथा—

मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षः।
घृतं अन्नं गोपुरोगवं दुहताम्। (मं. १२)

' मधुरतासे संमिश्रित अमृतान्न, घीसे मिश्रित अन्न और गोरस यह श्रेष्ठ अन्न है। '

इस प्रकार इस सूक्तमें जो बात अनेक वार कही है वह श्रीमद्भगवद्‌गीताके वचनके साथ देखने योग्य है। मनुष्य इस प्रकारका सात्विक अन्न भक्षण करे और दीर्घायु, नीरोगता और सुख प्राप्त करे।

जीवला, जीवन्ती, अरुंधति, रोहिणी, कृष्णा, अश्विनी आदि नाम औषधियोंके वाचक हैं।

१ जीवन्ती– यह औषधी जीवन दीर्घ करनेवाली है, क्योंकि इसको (सर्व–दोष–घ्नः) सब दोष दूर करनेवाली वैद्यक ग्रंथोंमें कहा है। इसका शाग भी बडा हितकारी है।

२ कृष्णा– यह नाम अनेक उत्तमोत्तम वनस्पतियोंका है, जो विविध औषधियोंमें प्रयुक्त होती है।

३ जीवला– यह नाम सिंहपिप्पलीका है। यह औषधि बडी आरोग्यप्रद है।

इनमेंसे कई औषधियां दीर्घायु देनेवाले पाकादिमें पडती हैं। कई वैद्यकग्रंथोंमें इसका वर्णन है, पाठक यह वर्णन वहां देखें।

पृश्निपर्णी

कांड २, सूक्त २५

(ऋषिः – चातनः । देवता – वनस्पतिः ।)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः । उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥ १ ॥
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत । तयाऽहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥
अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति । गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥
गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥
पराच एनान्प्र णुद कण्वान् जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

अर्थ— (देवी पृश्निपर्णी नः शं) देवी पृश्निपर्णी औषधी हमारे लिऐ सुख और (निर्ऋत्यै अ-शं) व्याधियोंके लिये दुःख (अकः) देती है। (हि उग्रा कण्व-जम्भनी) क्योंकि वह प्रचंड रोग बीज-नाशक है। (सहस्वतीं तां अभक्षिं) बलवती उस औषधिका में सेवन करता हूं ॥ १ ॥

(इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत) यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है। (तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि) उस वनस्पतिसे बुरे नामवाले रोगोंका सिर में उसी प्रकार कुचलता हूं (शकुनेः इव) जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर कुचलते हैं ॥ २ ॥

हे पृश्निपर्णि ! (अ-रायं) शोभाको नष्ट करनेवाले, (असृक्-पावानं) रक्त पीनेवाले (यः च स्फातिं जिहीर्षति) पुष्टिको रोकनेवाले (गर्भ-अदं) गर्भ खानेवाले, (कण्वं नाशय) रोगबीजका नाश कर और (सहस्व) उसको जीत ॥ ३ ॥

हे (देवि पृश्निपर्णि) देवी पृश्निपर्णी औषधि ! तू (एनान् जीवितयोपनान्) इन जीवितका नाश करनेवाले (कण्वान्) रोग बीजोंको (गिरिं आवेशय) पहाडपर ले जा और (त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्) तू उनको अग्निके समान जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ॥ ४ ॥

(एनान् जीवित-योपनान्) इन जीवितका नाश करनेवाले (कण्वान् पराचः प्रणुद) रोगबीजोंको नीचे मुख करके ढकेल दे (यत्र तमांसि गच्छन्ति) जहां अंधकार होता है (तत्) वहां (क्रव्यादः अजीगमं) मांस भक्षक रोग पैदा होते है ॥ ५ ॥

भावार्थ— पृश्निपर्णी औषधि मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है; यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥

इस कार्यके लिए यही मुख्य औषधि है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिर ही टूट जाता है ॥ २ ॥

जो रोग शरीरकी शोभा नष्ट करते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥

जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णीका सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥

प्राणका नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो। जहां अंधेरा रहता है वहींपर रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी

पृश्निपर्णी

इस पृश्निपर्णीको चित्रपर्णी भी कहते हैं। भाषामें इसको 'पीठवन, पीतवन, पठौनी' कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः॥
(भाव. पू. १ भाग. गुडू वर्ग.)

'यह पीठवन औषधि त्रिदोष नाशक, बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है।' इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है। इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करनेके लिये इस औषधिका उपयोग लिखा है। उनका वर्णन अब देखिये—

रक्तदोष

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है। इस विषयमें कहा है—

१ असृक्-पावानं-(असृक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं। अर्थात् जो रक्तको खा जाते हैं। जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं, (Animia) पांडुरोग जैसे रोग कि जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है। (मं. ३)

२ अ-रायं- (राय, रै) का अर्थ शोभा, कांति, ऐश्वर्य है। शरीरकी शोभा, शरीरका सौंदर्य यहां राय शब्दसे अभीष्ट है। वह इस रोगसे हटता है। शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हट जाती है और शरीर मरियलसा हो जाता है (मं. ३)

३ स्फातिं जिहीर्षति- पुष्टि हटाता है। शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है। शरीर कृश होता जाता है। शरीरका सुडौलपन कम होता है। अर्थात् शरीर क्षीण होता है। (मं. ३)

४ गर्भादं (गर्भ-अदं)- गर्भको खानेवाला रोग। माता के गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग। (मं. ३)

५ कण्वः- जिस रोगमें रोगी अशक्तताके कारण (कणति) कराहते हैं, आहें भरते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं। यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं। (मं. १,-३ ५)

६ निर्ऋतिः- (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग। (निः-ऋतिः) टेढा चालचलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग। इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं (मं. १)

७ दुर्णामा- (दुः-नामा) दुष्टयशवाला रोग। अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहारसे उत्पन्न होते हैं (मं. २)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्ऋति, ७ दुर्णामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पांडुरोग, क्षयरोग आदि होते हैं। ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकोंको सावध किया है कि वे इन घातक रोगोंसे अपना बचाव करें। अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचारसे रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं।

रोगका परिणाम

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहां बतायी है, देखिये—

जीवित-योपनः॥ (मं. ४-५)

'जीवितका नाश करनेवाला यह रोग है।' खूनके बिगडने पर पांडुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग होते हैं और उनसे जीवनके नष्ट होनेकी ही संभावना रहती है। ये रोग बडे कष्ट साध्य होते हैं। इसलिये अपने आपको इनसे बचाना ही चाहिए।

उत्पत्तिस्थान

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तने स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए—

तमांसि यत्र गच्छन्ति
तत्क्रव्यादो अजीगमम्॥ (मं. ५)

'जहां अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खानेवाले ये रोग बीज प्राप्त होते हैं।' जहां सदा अंधेरा रहता है। जहां वायु नहीं पहुंचती, जहां सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं। अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायुवाले कमरोंमें

नहीं रहते, सूर्य प्रकाश न पहुंचनेवाले कमरोंमें रहते हैं। उनको ये रोग होते हैं। परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले तथा सूर्य प्रकाशवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकते। इसलिए पांडुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्यप्रकाश और शुद्ध वायु जहां परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए।

बचावका उपाय

रोगके होनेके पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तने कहा है, वह अब देखिए —

जीवितयोपनान् एनान् कण्वान्।
गिरिं आवेशय ॥ (मं. ४)

'जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हों अर्थात् जिनके ये रोग हो गए हों, उनको पहाडपर ले जाओ। पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियोंको उत्तम वायुवाले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाओ। यह सबसे उत्तम उपाय है। इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन समूहोंमें मत रखो, अपितु पहाडपर ले जाओ। क्योंकि रोग-बीज अंधेरे शुद्धवायुहीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो। नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहांकी वायु योग्य नहीं होती, अतः रोगीको पहाडपर ले जाना ही योग्य है। इस मंत्रमें प्राणनाशक रोगबीज (जीवित-योपन कण्व) को पहाड पर ले जानेको कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाडपर ले जाना है। क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि प्रयोग भी लिखा है —

देवि पृश्निपर्णि! त्वं तान् अग्निः इव।
अनुदहन् इहि ॥ (मं. ४)

'यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अग्निके समान जलाती हुई प्राप्त होगी।' अर्थात् पहाडपर गये हुए उक्त रोगियोंको इस औषधिओंका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए हुए सब रोगबीज जल जायेंगे और रोग बीज दूर होनेसे रोगी आरोग्यपूर्ण होगा। क्योंकि —

इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना अजायत। (मं. २)

'यह पहली पिठवन विजयी होती है।' किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है। इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगी और रोगबीज दूर होंगे।

कण्वजम्भनी उग्रा हि
तां सहस्वतीं अभक्षि ॥ (मं. १)

'यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है। इसका सेवन (सहस्वती) वीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिये।' इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्योंकि योग्य समयमें ताजी वनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तत्काल उसका सेवन कराया जा सकता है। वहांसे वनस्पति उखाडकर नगरमें लानेतक वह रसहीन हो जाती है।

देवी पृश्निपर्णी नः शं
निर्ऋत्या अ-शं अकः ॥ (मं. १)

'यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगोंको ही दुःख देती है।' अर्थात् रोगोंको जडसे हटाती है, तथा—

तया अहं दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि। (मं. २)

'इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं' मानो इनका सिर ही तोड देता हूं, ताकि ये रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठा सकें।

जीवित-योपनान् कण्वान्
एनान् पराचः प्रणुद ॥ (मं. ५)

'जीवितका नाश करनेवाले इन रोगबीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो।' नीचे मुख करके दूर करनेका अर्थ शौच शुद्धि द्वारा दूर करनेका है। पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है। उक्त औषधी रोगबीजोंको नष्ट करके उनको मलद्वारसे दूर कर देती है। यह इस वनस्पतिका गुण है।

पृश्निपर्णीके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भकी कृशता दूर होकर गर्भ बढने लगेगा और अन्यान्य लाभ भी बहुतसे होंगे। इसके सेवनकी विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करनी चाहिये।

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (Single drug systum) ही लिखा है। अर्थात् एक ही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिऐ पानीमें घोलना या कदाचित् साथमें मिश्री मिलना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एक ही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल, वायु, शुद्ध स्थान, सूर्यप्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है।

अपामार्ग औषधि

कांड ७, सूक्त ६५

(ऋषिः – शुक्रः । देवता – अपामार्गवीरुत् ।)

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ । सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥
यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया । त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वं प्रतीचीनफलः हि रुरोहिथ) तू उपरकी तरफ फलसे युक्त होकर उगती है, उस कारण (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब शापोंको (इतः वरीयः अधियावय) यहांसे दूर कर ॥ १ ॥

(यत् दुष्कृतं) जो पाप (यत् शमलं) जो दोष अथवा कलंक मैंने किया या मेरे लगा हो (यत् वा पापया चेरिम) या पापियोंसे हमने किया हो, वह सब हे (विश्वतो-मुख अपामार्ग) सर्वतोमुख [सर्वत्र उगनेवाले] अपामार्ग ! (त्वया तत् अप मृज्महे) तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यत् श्यावदता) काले दांतवाले (कुनखिना) भद्दे नाखूनोंसे युक्त (बण्डेन सह आसिम) कुरूपोंके साथ यदि हम बैठें, तो हे अपामार्ग ! (तत् सर्वं वयं त्वया अप मृज्महे) वह सब दोष हम तेरी सहायतासे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— अपामार्ग वनस्पतिके फल विपरीत दिशामें बढते हैं । इसलिए उस वनस्पतिसे उलटे आचरणके द्वारा उत्पन्न हुए हुए रोग-दोष दूर होते हैं । दुराचार-पाप, दोष, पापियोंका सहवास, दांतोंमें कीडे पडना, नाखून बिगडना और रक्त दोषोंके कारण या अपने आचरण या संगति-सहवासके कारण उत्पन्न हुए दोष अपामार्ग वनस्पति से दूर होते हैं ॥ १-३ ॥

अपामार्गके जडोंसे दांतून करनेसे दांतोंके रोग दूर होते हैं । यह अपामार्ग किन किन रोगों पर और किस-किस रीतिसे लाभकारक होता है, यह संशोधनका विषय है । महाराष्ट्रमें भाद्रपद शुक्ल पंचमी (ऋषिपंचमी)-के व्रतमें अपामार्गकी लकडीसे स्त्रियां दांतून करती हैं, यह पद्धति आज भी चालू है । यह व्रत विशेषकर स्त्रियां करती हैं । इस सूक्तमें दन्त रोगोंके दूर करनेके लिए अपामार्गके उपयोगका उपाय बताया है । इसके लिए अन्वेषणकी आवश्यकता है ।

अपामार्ग औषधि

कांड ४, सूक्त १७

(ऋषिः – शुक्रः । देवता – अपामार्गो वनस्पतिः ।)

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे । चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

अर्थ— हे ओषधे ! (भेषजानां ईशानां त्वा उत् जेषे आ रभामहे) औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली तुझ औषधिको और अधिक जयशाली बनानेके लिये इस प्रयोगका प्रारंभ करता हूं । (सर्वस्मै त्वा सहस्रवीर्यं चक्रे) सब रोगोंके निवारणके लिये तुझे हजारों वीर्योंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली औषधियां हैं और अन्य औषधियां प्रयोग विशेषसे सामर्थ्यशाली बनाई जाती हैं ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्। सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥
यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते। आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥
क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥
अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी। तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अर्थ—(सत्यजितं) निश्चयसे जीतनेवाली (शपथ-यावनीं) आक्रोशको दूर करनेवाली, (सहमानां) रोगका पराजित करनेवाली, (पुनः सरां) विशेष करके सारक अथवा विरेचक गुणसे युक्त, इसी प्रकारकी (सर्वाः ओषधीः समह्वि) सब औषधियोंको प्राप्त करता हूं। ये औषधियां (इतः नः पारयात्) इन रोगोंसे हमें पार करावें ॥ २ ॥

(या शपनेन शशाप) जो आक्रोशसे दुष्ट शब्द बोलती है, (या मूरं अघं आदधे) जो मूढता लानेवाले पाप धारण करती है, (या रसस्य हरणाय) जो साररूप रसका हरण करनेके लिये (जातं आरेभे) नये जन्मे बालकको भी पकडती है, (सा तोकं अत्तु-त्ति) वह बीमारी संतानको खा जाती है ॥ ३ ॥

(यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिस हिंसक प्रयोगको तेरे लिऐ कच्चे मिट्टीके बर्तनमें करते हैं, (यां नील-लोहिते) जिसको नीले और लाल पकाये बर्तनमें करते हैं, तथा (आमे मांसे) कच्चे मांसमें (यां कृत्यां चक्रुः) जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तया कृत्याकृतः जहि) उससे उन हिंसा करनेवालोंका ही नाश कर ॥ ४ ॥

(दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं) बुरे स्वप्न, दुःखदायी जीवन, (रक्षः अ-भ्वं अ-राय्यः) रोगक्रिमियोंका निर्बलता-कारक, निस्तेजताको बढानेवाला रोग तथा (दुः-नाम्नीः सर्वाः दुर्वाचः) दुष्ट नामवाली बवासीर और उसके संबंधके सब बुरे रोग (अस्मत् नाशयामसि) हम अपने पाससे नष्ट करें ॥ ५ ॥

हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (क्षुधामारं तृष्णामारं) क्षुधासे मरना, तृष्णासे मरना, (अगो-तां अन्-अपत्यतां) इंद्रिय अथवा वाणीका दोष, संतान न होना, अर्थात् नपुंसकता (तत् सर्वं त्वया वयं अप मृज्महे) आदि सब दोषोंको तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ६ ॥

(अपामार्ग) हे अपामार्ग औषधि ! (तृष्णामारं क्षुधामारं) तृष्णासे मरना, भूखसे मरना, तथा (अक्ष परा-जयं) इंद्रियका नाश होना आदि (सर्वं तत् त्वया वयं अप मृज्महे) सब वह दोष तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ७ ॥

हे अपामार्ग औषधि ! तू (एकः सर्वासां ओषधीनां वशी इत्) एक ही सब औषधियोंको वशमें रखनेवाली है। (तेन ते आस्थितं) उससे तेरे शरीरमें स्थिर रोगको हे रोगी ! हम (मृज्मः) दूर करते हैं। (अथ त्वं अगदः चर) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

भावार्थ— निश्चयसे रोग दूर करनेवाली, रोगीका आक्रोश दूर करनेवाली, रोगीकी सहनशक्ति बढानेवाली, रेचकगुणसे युक्त औषधियां होती हैं जिनकी सहायतासे हम रोगोंसे मुक्त होते हैं ॥ २ ॥

कई रोगोंसे रोगी चिल्लाता है, कईयोंमें मूर्छा आ जाती है, कईयोंमें रक्त क्षीण होता है, कई रोग तो नवजात लडकेको होते हैं और उसका भी नाश कर देते हैं ॥ ३ ॥

जो हिंसाप्रयोग कच्चे बर्तनमें और कच्चे गूदेमें बनाया जाता है। उन हिंसक प्रयोगोंसे वे ही हिंसक लोग नष्ट हो जायें ॥ ४ ॥

बुरे स्वप्नका आना, जीवनकी उदासीनता, निस्तेजता और क्षीणता, बवासीर, चिडचिडा स्वभाव ये सब इस औषधिसे हट जाते हैं ॥ ५ ॥

बहुत भूख प्यास लगना, इंद्रियोंके दोष, वंध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ ६ ॥

भस्मकरोग और प्यास लगनेवाला रोग, तथा इंद्रियोंकी कमजोरी अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर हो जाती हैं ॥ ७ ॥

अपामार्ग औषधि सब औषधियोंको, मानो वशमें रखनेवाली औषध है। शरीरके सब रोग उससे दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर विचरता है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि

कांड ४, सूक्त १८

(ऋषिः - शुक्रः । देवता - अपामार्गो वनस्पतिः ।)

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती । कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥
यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् । वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥
अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति । अश्मानस्तस्यां दुग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ३ ॥
सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवाञ्छायया त्वम् । प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अर्थ— (सूर्येण समं ज्योतिः) सूर्यके समान ज्योति है और (अह्ना समावती रात्री) दिनके समान रात्री है सब (कृत्वरीः अरसाः सन्तु) विनाशक बातें रसहीन हो जांय। (सत्यं ऊतये कृणोमि) सत्यको मैं अपनी रक्षाके लिए स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यः कृत्यां कृत्वा अ- विदुषः गृहं हरात्) जो हिंसक प्रयोग करके अज्ञानीके घरका हरण करे, वह हिंसक विधि (तं प्रत्यक् उपपद्यतां) उसके प्रति उसी प्रकार लौटकर जावे (धारुः वत्सः मातरं इव) जिस प्रकार दूध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जाता है ॥ २ ॥

(यः पाप्मानं कृत्वा) जो पाप करके (तेन अमा अन्यं जिघांसति) उससे दूसरेको मारना चाहे, (तस्यां दुग्धायां) उसके जल जानेपर (बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत पत्थर फट् शब्द करें अर्थात् नाश करें ॥ ३ ॥

हे (सहस्र-धामन्) सहस्र धामवाले ! (त्वं विशिखान् विग्रीवान् शायय) तू शिखारहित और ग्रीवा-रहित करनेवालोंको सुला दे। (प्रियां कृत्यां चक्रुषे प्रियावते) प्रिय कृत्य करनेवालेको प्रियके पास (प्रति हर स्म) पहुंचा ॥ ४ ॥

(यां क्षेत्रे चक्रुः) जो खेतमें किया हो, (यां गोषु) जो गौओंमें और (यां वा ते पुरुषेषु) जो तेरे पुरुषोंमें किया हो (सर्वाः कृत्याः अनया ओषध्या अदूदुषम्) उन सब दुष्ट कृत्योंका इस औषधिसे नाश करता हूं ॥ ५ ॥

(यः चकार) जो करना तो चाहा परन्तु (कर्तुं न शशाक) पूर्णरूपसे करनेमें समर्थ न हुआ, केवल (पादं अंगुरिं शश्रे) पांव, अंगुलि आदि ही तोड सका (सः) उनसे (अस्मभ्यं भद्रं चकार) हमारे लिए तो कल्याण किया परंतु (आत्मने तपनं) अपने लिए पीडा प्राप्त कर ली ॥ ६ ॥

भावार्थ— सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जांय। सत्यहीसे सबकी उत्तम रक्षा हो सकती है। जिससे दिनका प्रकाश फैलता है, उस सूर्यकी सत्य ज्योति जिस प्रकार आकाशमें चमक रही है, उसी प्रकार सत्यसे उन्नति होगी ॥ १ ॥

जो घातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयोग वापस जाकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें ॥ २ ॥

जो स्वयं पापकर्म करके उससे दूसरेका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश हो, जैसे तपे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं, उनका नाश कर और प्रिय कार्य करनेवालेको उसके प्रेमीके पास सुरक्षित पहुंचा ॥ ४ ॥

इस औषधीसे सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं। खेतोंमें, गौ आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं ॥ ५ ॥

जो दूसरोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है परंतु पूर्णरूपसे कर नहीं सकता, कुछ अवयवका ही नाश कर पाता है, या अल्पसी हानि कर पाता है, उससे तो वह अपनी हानि ही करता है। हमारा तो कल्याण ही उससे हुआ है ॥ ६ ॥

अपामार्गोऽप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः । अपाहं यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

अर्थ— (अपामार्गः क्षेत्रियं, यः शपथः च अपमार्ष्टु) अपामार्ग औषधि क्षेत्रिय रोगको और दुर्वचनके स्वभाव को दूर करे । (अहं सर्वाः यातुधानीः अराय्यः अप) और सब पीडा देनेवाली निस्तेजताको दूर करे ॥ ७ ॥

(यातुधानान् अपमृज्य) यातना देनेवालोंको दूर करके तथा (सर्वाः अराय्यः अप) सब निस्तेजताओंको दूर करके हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया वयं तत् सर्वं अप मृज्महे) तेरे योगसे हम वह सब कष्ट दूर करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ – अपामार्ग औषधिसे मातापितासे प्राप्त हुए क्षेत्रियरोग, चिडचिडापन, जिसमें रोगी चिल्लाता है वे रोग, यातना जिसमें बहुत होती हैं, तेजहीन शरीर होता है, वे सब दोष दूर होते हैं ॥ ७ ॥

यातना बढानेवाले और तेज घटानेवाले दोष अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे हम दूर करते हैं ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि

कांड ४, सूक्त १९

(ऋषिः – शुक्रः । देवता – अपामार्गो वनस्पतिः ।)

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् । उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ॥ १ ॥
ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥
अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उतो अबन्धुकृत् असि) यदि तू शत्रु बनानेवाला है वा (उतो नु जामिकृत् असि) बंधु बनानेवाला है, तू (उतो कृत्याकृतः प्रजां) हिंसा कर्म करनेवालोंकी संतानोंको (वार्षिकं नडं इव आच्छिंधि) वर्षामें उत्पन्न होनेवाले घासके समान दूर कर ॥ १ ॥

(नार–सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् ब्राह्मणने (परि उक्ता असि) तेरा वर्णन किया है । हे (ओषधे) औषधि ! तू (त्विषीमती सेना इव एषि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्राप्नोषि) जहां तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहां भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

(ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित होती हुई (ओषधीनां अग्रं एषि) औषधियोंके आगे आगे तू चलती है । (उत पाकस्य त्राता असि) और परिपक्वका रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोगबीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

भावार्थ— तू स्वयं शत्रु बनानेवाला हो वा मित्र बढानेवाला हो, परंतु अपने समाजसे घातक कर्म करनेवालोंको सपरिवार दूर कर ॥ १ ॥

बडी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् पण्डितोंका मत है कि यह औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है और जहां जाती है वहां रोगका भय शेष नहीं रहता ॥ २ ॥

यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

यदुदो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत । ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥
विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता । प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥५॥
असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः । तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥
प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् । सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥
शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा । इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

अर्थ—(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) वह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (असुरान् निरकुर्वत) असुरोंको हटाया था, हे (ओषधे) औषधि ! (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक औषधि रूपमें प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

तू (शतशाखा विभिन्दती) सैंकडों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है । (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि) तू उसे हरप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत् भूम्याः समभवत्) असत्यरूप दुष्टता भूमिसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः द्यां एति) वह बडी विस्तृत होकर आकाशतक फैलती है । (ततः तत् वै कर्तारं विधूपायत्) वहांसे वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही संतप्त करता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) उसीके पास वापस पहुंचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यक् प्रतीचीनफलः संबभूविथः) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल उत्पन्न करनेवाला उत्पन्न हुआ है इसलिए (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब बुरे वचनोंको और (वरीयः वधं अधियावय) ऊपर उठनेवाले शस्त्रको दूर कर ॥ ७ ॥

(शतेन मा परि पाहि) सौ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभि रक्ष) हजारों यत्नोंसे मेरा संरक्षण कर । हे (वीरुधां पते) औषधियोंके स्वामी । (उग्रः इंद्रः ते ओज्मानं आ दधत्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अन्दर पराक्रमकी शक्ति स्थापित करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— जिस बलसे देवोंने असुरोंको हटाया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है । इसलिए जो रोग हमारा नाश करते हैं उसको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोडा भी असत्य उत्पन्न हो तथापि वह शीघ्र ही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इसलिए दुर्भाषण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्योंकि इसमें इन्द्रका तेज भरा हुआ है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि

अपामार्ग औषधि

हिंदी भाषामें ' लटजीरा, चिरचिरा ' ये नाम जिसके है उसको संस्कृतमें ' अपामार्ग ' औषधि कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, श्वेत, कृष्ण और लाल इन तीनोंके गुण समान ही हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार किया है—

तिक्तोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शः कण्डूदुरामघ्नो
रक्तघ्नः ग्राही वान्तिकृत् (राजनि. व. ४)

(सन्निपातज्वराचिकित्सायाम्) पृश्निपर्णी त्वपामार्गः। चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः।
दीपनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिककफमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ड्वादिकं हन्ति। (भावप्र. पू. भा. १)

तत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं। (मद. व. १)

श्वेतश्चापामार्गकस्तु तिक्तोष्णो ग्राहकः सरः।
किञ्चित्कटुः कान्तिकरः पाचकोऽग्निदीपकः॥ १॥
नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः।
दुर्नामानं रक्तरुजं मेदोरुदुदरे तथा। २॥
वातसिध्मापचीदद्रुवान्त्यामानां विनाशकः।
रक्तापामार्गकः किञ्चित्कटुकः शीतलः स्मृतः॥ ३॥
मन्यावष्टम्भवमि कृद्वातविष्टम्भकारकः।
रूक्षो व्रणं विषं वातं कफं कण्डूं च नाशयेत्॥ ४॥
बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलं।
मला वष्टंभकं रूक्षं वान्तिकृत्कफपित्तजित्॥ ५॥
तोयापामार्गकश्चोक्तः कटुः शोथकफावहः।
कासं वातञ्च शोषं च नाशयेदिति च स्मृतः॥ ६॥
(वै. निघं.)

अपामार्ग वनस्पतिका यह वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। इसका तात्पर्य यह है—'अपामार्ग वनस्पति तिक्त, उष्ण, कटु, कफनाशक, बवासीर, खुजली, आम और रक्तके रोगोंका नाश करनेवाली है, उल्टी करानेवाली है। सन्निपात ज्वरकी चिकित्सामें पृश्निपर्णी और अपामार्ग इनका उत्तम उपयोग होता है। यह पाचक, दीपक अर्थात् भूख लगानेवाली, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, आध्मान, बवासीर आदिका नाश करती है। अपामार्ग तिक्त, उष्ण ग्राहक और सारक है। शरीरकी कान्ति बढानेवाली, पाचक और अग्नि प्रदीप्त करनेवाली है। नस्य और उल्टीमें यह प्रशस्त है। बवासीर रक्तदोष, मेद, उदर आदिका नाशक है। व्रण, विष, वात, कफ, खुजली, आदिको दूर करती है।'

वैद्यक ग्रंथोंमें अपामार्गके इन गुणोंके आधारपर हम इन सूक्तोंमें कहे गए वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७–१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी 'अपामार्ग' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका भी एक ही 'शुक्र' ऋषि है।

क्षुधा और तृष्णा मारक

सू. १७, मं. ६–७ में 'क्षुधासे मरनेका रोग' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना भस्म हो जाता है, इस कारण जिसको भस्मरोग कहते हैं, तथा 'तृषाका रोग' जिसमें प्यास बहुत लगती है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे वचनमें कही है—

बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलम्।

'अपामार्गका बीज पचनमें कठिन है, स्वादु और शीतल है।' पचन कठिनतासे होता है इसलिए यह भस्मरोगके लिए अच्छा है और शीतल होनेसे तृष्णारोगका शमन करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन मंत्रोक्त वर्णनके साथ पढनेसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बवासीर

सू. १७. मं. ५ में 'दुर्णाम्नीः' शब्द और वैद्यक ग्रंथमें 'दुर्नामा' शब्द आया है। यह बवासीरका वाचक है। वेदमें जहां औषधि प्रकरणमें 'दुर्नामन्' शब्द आता है वहां प्रायः बवासीरका संबंध रहता है। कई लोग 'दुष्ट वाणी आदि भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह 'दुर्नामन्' नाम बवासीरके लिये आया है। 'दुर्नाम, दुर्णाम, दुर्वाच्' ये शब्द बवासीरके विविध भेदोंके ही वाचक हैं।

दुष्ट स्वप्न

दुष्ट स्वप्न पित्तके कारण, पेटके दोषके कारण अथवा आमदोषके कारण होते हैं। वैद्यक ग्रंथोंमें इस अपामार्गको पित्तशामक, पाचक, अग्निप्रदीपक, दीपक, रुचिवर्धक कहा है। सूक्त १७ के पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें जो रोग कहे हैं उनका इन्हींसे संबंध है, जैसे—

१ दौष्वप्न्यं– दुष्ट स्वप्नका आना गाढ निद्राका न आना।
२ दौर्जीवित्यं– जीवितके विषयमें उदासीनता मनमें उत्पन्न होना।
३ रक्षः– विविध प्रकारके कृमिदोष होना।
४ अ–भ्वं– शरीरकी वृद्धि न होना, अपितु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग।
५ अ–राय्यः– राय् अर्थात् तेज, शोभा, कान्ति जो स्वस्थ शरीर पर होती है, वह न होना, फीका रंग होना।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक ग्रंथोंके पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढनेसे इनका आशय खुल जाता है। ये सब

अपचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक निश्चयसे हो सकता है।

सारक

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें ' सरां ' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें ' सरः ' पद है। दोनोंका आशय ' सारक, रेचक ' अर्थात् शौच शुद्धि करनेवाला है। शौच शुद्धि होनेसे भूख बढना, अग्निदीपन होना स्वाभाविक है। आगे तृतीय मंत्रमें ' रसस्य हरणं ' पद है। रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है। ' तृष्णामार ' रोग इसी कारण होता हैं। इस रोगकी यह दवा है। शरीरके रसका हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है। इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें ' शपथ ' शब्द बार बार आया है। शपथका अर्थ है दुभाषण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्यकी प्रवृत्ति दुर्भाषण करनेकी ओर हो जाती है। चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है। यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवनसे दूर हो जाता है। क्योंकि इससे अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्भाषण करनेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गकी प्रशंसा परक है; इसलिए उसके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

सूक्त १८ वेंमें मं. २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरेके घातके लिए दुष्ट मनुष्य किया करते हैं। क्षेत्रमें, गौओंके नाशके लिए और मनुष्योंके नाशके लिए करते हैं। एक प्रान्तमें हमने देखा है कि अन्त्यजोंमेंसे एक जाति जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है। खेतोंमें जहां गौवें घास खानेके लिए जाती हैं, वहांके घासमें कुछ विष रख देते हैं। घास खानेसे वह विष गौ आदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु घण्टा आध घंटामें मर जाता है। पशुके मरनेके पश्चात् वे ही अन्त्यज लोग उसको ले जाते हैं और खाते हैं। खेतमें गौओंके संबंधमें ये लोग घातक प्रयोग किया करते हैं।

इस उपायके विषयमें सू. १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिके उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है। वैद्यक ग्रंथके वचनमें अपामार्गका गुण विषनाशक लिखा है। इस गुणके कारण ही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिसे लाभ होता है। इस सूक्तके अन्य शपथादिके विषयमें पूर्व सूक्तके प्रसंगमें लिखा जा चुका है, वही यहां समझना चाहिए।

यहां इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बडी महत्वकी कही हैं जो हरएक पाठकको अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिए।

सत्यसे रक्षा

ऋतये सत्यं कृणोमि। (सू. १८ मं. १)

' रक्षाके लिये सत्यको स्वीकार करता हूं अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिए। सत्यसे ही सबकी रक्षा सम्भव है। दूसरेका घात करनेवाले इस बातको स्मरण रखें कि, इस घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है। सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्य रूप ही है, इनसे जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश

द्वितीय मंत्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि ' जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको कष्ट देना चाहते हैं अन्तमें उनका स्वयंका ही नाश होता है। जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है, उसी प्रकार उनका यह घातक बच्चा उनके ही पास जाता है। ' (सू. १८।२) यह बोध स्मरण रखने योग्य है। षष्ठ मंत्रमें यही बात दुहराई है ' दुष्ट मनुष्यने जिनका बुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परंतु उसी घातकको कष्ट हुआ। ' (सू. १८।६) ऐसा ही हुआ करता है। इसलिय घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश हो जाता है। इस प्रकार १८ वें सूक्तका विचार हुआ। अब १९ वें सूक्तका विचार करते हैं—

असत्यसे नाश

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥
(सू. १९, मं. ६)

इस सूक्तमें छठे मंत्रमें असत्यसे कर्ताका ही कैसा नाश होता है यह बात विस्तारपूर्वक कही है। पृथ्वीपर किया हुआ थोडा भी असत्याचरण चारों ओर फैलता है और वह कर्ताको कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है। (मं. ६)

इसलिये कभी असन्मार्गसे जाना नहीं चाहिये। जगत्में सुख और शान्ति फैलानेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत न हो और सत्यपालनमें ही दत्तचित्त हो।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि 'जहां यह औषधि पहुंचेगी वहां कोई भय नहीं रहेगा।' इतना इस अपामार्ग औषधिका महत्त्व है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिकी प्रशंसा की है। और शेष मंत्रोंमें काव्यमय वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है।

पिप्पली औषधि

कांड ६, सूक्त १०९

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – पिप्पली–भैषज्यं, आयुः।)

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी। तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥

पिप्पल्यः१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

असुरास्त्वा न्यखनन्देवास्त्वोदवपन्पुनः। वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

अर्थ-- (पिप्पली क्षिप्तभेषजी) पिप्पली औषध उन्माद रोगके लिए एक उत्तम औषधि है, (उत अति विद्धभेषजी) और बवासीरके लिए भी औषध है। (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने उसे समर्थ बनाया है, क्योंकि (इयं जीवितवै अलं) यह औषध जीवनके लिए पर्याप्त है ॥ १ ॥

(जननात् अधि आयतीः) जन्मसे आई हुई (पिप्पल्य समवदन्तः) पिप्पली कहती है कि (यं जीवं अश्नवामहै) जिस जीवको में खिलायी जाऊंगी (सः पुरुषः न रिष्याति) वह पुरुष मरता नहीं ॥ २ ॥

तू (वातीकृतस्य भेषजीं) वात रोगकी औषधि (अथो क्षिप्तस्य भेषजीं) और उन्माद रोगकी औषध है, ऐसे (त्वा) तुझको (असुराः न्यखनन्) असुरोंने पहिले खोदा था और (पुनः देवाः त्वा उदवपन्) फिर देवोंने लगाया था ॥ ३ ॥

भावार्थ— पिप्पली औषधी उन्माद और वात अथवा महाव्याधिकी औषधी है। यह एक ही औषधि आरोग्य और दीर्घायुके लिए पर्याप्त है ॥ १ ॥

जो रोगी पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगसे दुःखी नहीं होता, यह इस औषधिकी प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

इस वातरोग और उन्मादरोगकी औषधीका पता पहिले असुरोंको लगा, इसलिए इन्होंने इसको भूमिसे उखाडा और पश्चात् देवोंने इसको विशेषरूपसे बढाया ॥ ३ ॥

पिप्पली औषधि

पिप्पली औषधि

पिप्पली औषधि अकेली ही मनुष्यके आरोग्यके लिए पर्याप्त है, इतना निश्चयपूर्वक कथन प्रथम और द्वितीय मंत्रमें है। जो पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगी नहीं होता यह बात द्वितीय मंत्रमें विशेष रीतिसे कही है। इस विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

ज्वरघ्नी वृष्या तिक्तोष्णा कटुतिक्ता दीपनी।
मारुतश्वासकासश्लेष्मक्षयघ्नी च।
(रा. नि. व. ६)

*

मधुना सा मेदोवृद्धिकफश्वासकासज्वरघ्नी मेधाग्निवृद्धिकरी च । गुडेन सा जीर्णज्वराग्निमान्द्यहरी च । तत्र भागैकं पिप्पल्या भागद्वयं च गुडस्येति । (भा. प्र. १)

' पिप्पली ज्वरनाशक, वीर्यवर्धक है, मेद-कफ-श्वास-खांसी-ज्वर इनका नाश करती है; बुद्धि और भूख को बढाती है । शहदके साथ भक्षण करनेसे मेद, कफ, श्वास, खांसी और ज्वर दूर करती है, बुद्धि और पाचनशक्ति बढाती है । गुडके साथ भक्षण करनेसे जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य दूर करती है । पिप्पली एक भाग और गुड दो भाग लेना चाहिए । '

इससे पता लगता है कि इस पिप्पलीके सेवनसे कितना लाभ हो सकता है और देखिये—

(१) पिप्पली रसायन- बुद्धिवर्धक है । इस विषयमें चरकका कथन है—

तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ।
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा ॥
(चरक चि. १)

' घीमें भुनी और पलाशके क्षारसे मिश्रित पिप्पलियां शहद और घीके साथ मिलाकर सबेरे तीन और भोजनके पश्चात् तीन खानेसे उत्तम रसायनगुण प्राप्त होता है । ' यह रसायन बुद्धिवर्धक है । कमजोर बुद्धिवाले वैद्यकी अनुमतिसे इसका प्रयोग करें ।

(२) वर्धमान पिप्पली रसायन- पहिले दिन दस पिप्पली दूधमें उबालकर सेवन करना, दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस इस प्रकार दस दिन करना पश्चात् दस के अनुपातसे न्यून करके बीस दिनतक सेवन करना । षाष्टिक चावल दूधके साथ खाना और जितना पचन हो उतना दूध पीना और घी भी खाना । यह उत्तम मात्रा है, जो अशक्त हैं वे छः या तीनके अनुपातसे भी सेवन कर सकते हैं । इसके गुण बहुत हैं । मनुष्य सुदृढांग बन सकता है । परंतु ये सब प्रयोग उत्तम वैद्यकी अनुकूलतामें ही करने चाहिये । अन्यथा हानिकी संभावना रहेगी ।

रोहिणी वनस्पति

कांड ४, सूक्त १२

(ऋषिः - ऋभुः । देवता – रोहिणी – वनस्पतिः ।)

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥
यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि । धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥

अर्थ— हे औषधि ! तू (रोहणी असि) बढानेवाली है, तू (छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी) टूटी हुई हड्डीको पूर्ण करनेवाली है । हे (अ-रुन्धति) प्रतिबन्ध न करनेवाली औषधि ! (इदं रोहय) इसको भर दे ॥ १ ॥

(यत् ते रिष्टं) जो तेरा अंग चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युतं) जो अंग जला हुआ है और जो अंग (ते आत्मनि पेष्ट्रं अस्ति) तेरे अपने अन्दर पिस गया है, (धाता भद्रया) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिसे (तत् परुः पुरुषा पुनः सं दधत्) उस जोडको दूसरे जोडसे फिर जोड दे ॥ २ ॥

भावार्थ— यह रोहणी नामक औषधी है, जो टूटे हुए शरीरके अवयवको बढाती है । इसको रोहिणी और अरुंधती भी कहते हैं ॥ १ ॥

शरीरमें चोट लगी हो, अंग जल गया हो, अवयव पिस गया हो, तो भी इस औषधिसे हरएक जोड पुनः पूर्ववत् हो सकता है ॥ २ ॥

सं ते॑ मज्जा मज्ज्ञा भ॑वतु सम्ु ते परु॑षा परुः । सं ते॑ मांसस्य॒ विस्र॑स्तं समस्थ्यपिं रोहतु ॥ ३ ॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धी॑यतां चर्म॑णा चर्म॑ रोहतु । असृक्ते॒ अस्थि रोहतु मांसं मांसेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥
लोम॒ लोम्ना॒ सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् । असृक्ते॒ अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धे॑ह्योषधे ॥५॥
स उत्ति॑ष्ठ प्रेहि प्र द्र॑व रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । प्रति॑ तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥
यदि॑ कर्तं प॑तित्वा सं॑शश्रे यदि वाश्मा प्रहृ॑तो ज॒घान॑ । ऋभू रथ॑स्ये॒वाङ्गा॑नि सं द॑धत्परु॑षा परुः ॥७॥

अर्थ— (ते मज्जा मज्ज्ञा सं रोहतु) तेरी मज्जा मज्जासे बढे। (उ ते परुषा परुः सं) और तेरे जोडसे जोड बढ जावे। (ते मांसस्य विस्रस्तं सं) तेरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ भाग बढ जावे। (अस्थि अपि सं रोहतु) हड्डी भी जुडकर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

(मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां) मज्जा मज्जासे मिल जावे (चर्मणा चर्म रोहतु) चर्मसे चर्म बढे। (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढ जावे और (मांसं मांसेन रोहतु) मांस मांससे बढ जावे ॥ ४ ॥

हे औषधे ! (लोम लोम्ना सं कल्पय) रोमको रोमके साथ जमा दे। (त्वचा त्वचं सं कल्पय) त्वचाको त्वचाके साथ मिला दे। (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढे, (छिन्नं सं धेहि) टूटा हुआ अंग जोड दे ॥ ५ ॥

(सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तू उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले उत्तम लोहेकी पट्टीवाले, उत्तम नाभीवाले रथके समान (प्रद्रव) दौड और (उर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खडा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे) यदि आरेके गिरनेके कारण घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थरसे घाव हुआ है तो जिसप्रकार (ऋभुः रथस्य अंगानि इव) बढई रथके अवयवोंको जोडता है उसीप्रकार (परुषा परुः सं दधत्) जोडसे जोड जुड जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस औषधिसे शरीरकी मज्जा, जोड, मांस और अस्थि बढे और अवयव पूर्ण हों ॥ ३ ॥

मज्जा, चर्म, रुधिर, हड्डी और मांस भी इससे बढता है ॥ ४ ॥

रोम, त्वचा, रुधिर तथा टूटा अवयव इससे बढता है ॥ ५ ॥

हे रोगी ! तू इस औषधिसे आरोग्यको प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड, खडा होकर चल ॥ ६ ॥

आरेके गिरने, या पत्थरके लगनेसे शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

रोहिणी औषधि

रोहिणी औषधि

वैद्यग्रन्थोंमें इस रोहिणी औषधिका नाम ' मांसरोहिणी ' लिखा है, इसके नाम ये हैं—

अग्निरुहा, वृत्ता, चर्मकषा, वसा, मांसरोही प्रहारवल्ली, विकषा वीरवती ।

इसके गुण—

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा ।

' मांस रोहिणी वीर्यवर्धक और त्रिदोषका नाश करनेवाली है। ' और—

शीता कषाया कृमिघ्नी कण्ठशोधनी रुच्या, वातदोषहारी च । (रा. नि. व. १२)

' यह औषधि शीतवीर्य, कसेली रुचिवाली, कृमिदोष दूर

करनेवाली, कण्ठदोष हटानेवाली, रुचि बढानेवाली और वात दोष दूर करनेवाली है। '

इस सूक्तमें ' रोहिणी ' के नाम ' भद्रा और अरुन्धती ' हैं, परन्तु वैद्यशास्त्र ग्रन्थोंमें ये नाम एक ही वनस्पतिके नहीं है। वैद्यग्रंथोंमें इसका नाम ' मांसरोहि ' अथवा ' मांस रोहिणी ' कहा है, यह शब्द इस सूक्तकी ही बात सिद्ध करता है। मांसादि सप्त धातु बढानेवाली यह औषधि है ऐसा इस सूक्तने कहा है और वैद्यक ग्रंथ मांसको बढाती है ऐसा कहते हैं, इसमें बहुत विरोध नहीं है, क्योंकि जिससे रुधिर और मांस बढता है उससे अन्य धातु भी बढते ही हैं, क्योंकि अन्य धातु रुधिरके आगे स्वयं बनते हैं।

इसके अतिरिक्त इसको ' प्रहारवल्ली ' वैद्यक ग्रंथोंने कहा है। प्रहारवल्लीका अर्थ है घाव ठीक करनेवाली औषधि, यह वर्णन भी इस सूक्तके कथनसे संगत होता है। सातवां मंत्र यही वर्णन कर रहा है। इसका नाम वैद्यग्रन्थोंमें ' वीरवती ' अर्थात् ' वीरोंवाली ' है। वीर जिसके पास जाते हैं इस औषधिके पास वीर इसीलिये जाते हैं कि यह शस्त्रास्त्रोंके घावोंको अति शीघ्र ठीक करती है। महाभारतमें हम पढते हैं कि दिन भर युद्ध करनेवाले वीरोंके शरीर बाणोंके आघातसे व्रणयुक्त हो जाते थे, पश्चात् वे वीर रात्रीके समय कुछ औषधि लगाकर सो जाते थे, जिससे उनके शरीर सवेरे तक ठीक हो जाते थे और वे पुनः युद्ध करते थे। संभवतः वह वीरोंके पास रहनेवाली वल्ली यही ' रोहिणी ' होगी। इसीलिये इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें ' वीरवती ' लिखा है।

कुष्ठ औषधि

कांड ५, सूक्त ४

(ऋषिः - भृग्वङ्गिराः। देवता - कुष्ठो, तक्मनाशनम्।)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (तक्मनाशन कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ औषधे! (यः गिरिषु अजायथाः) जो तू पहाडों पर उत्पन्न होती है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें बल देनेवाली है, वह तू (तक्मानं नाशयन् इतः आ इहि) रोगोंका नाश करती हुई यहां हमारे पास आ ॥ १ ॥

(सुपर्ण-सुवने गिरौ हिमवतः परिजातं) गरुडोंके उत्पत्ति स्थल हिमालय पर होनेवाली इस औषधिका वर्णन (श्रुत्वा धनैः अभियन्ति) सुनकर धनोंके साथ वहां लोग जाते हैं और (तक्मनाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— कुष्ठ औषधि पर्वतों पर उगती है। बलवर्धक औषधियोंमेंसे यह सबसे अधिक बलवर्धक है। इससे क्षयादि रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

हिमालयकी ऊंची ऊंची चोटियों पर यह औषधि उगती है। उसे प्राप्त करनेके लिये लोग बहुत धन खर्च करके जाते हैं। और इस रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

यहांसे तीसरे उच्च द्युलोकमें जहां देवता बैठते हैं, वहां अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया । नावो हिरण्ययीरासन्याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः । स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥
उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् । तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥
उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता । यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥
शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः । कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौः दिवि अचरत्) सोनेकी बनी हुई और सोनेके बंधनोंसे बंधी हुई नाव द्युलोकमें चलती है । (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधि देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थानः आसन्) सोनेके मार्ग थे, और (अरित्राणि हिरण्ययाः) पतवार भी सोनेकी थीं तथा (नावः हिरण्ययीः आसन्) नावें भी सोनेकी थीं, (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया गया था ॥५॥

हे (कुष्ठ) कुष्ठ औषधे ! (मे इमं पूरुषं आवह) मेरे इस पुरुषको उठा (तं निष्कुरु) उसे हर तरहसे स्वस्थ कर दे और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरोग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अधिजातः असि) तू देवोंसे उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिका तू मित्र और हितकारी है । इसलिए (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षु आदिके लिए मेरे इस पुरुषको सुख दे ॥ ७ ॥

(सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्यां उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है । (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहां कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (विभेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे (कुष्ठ) कुष्ठ औषधे (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है । (ते पिता उत्तमः नाम) तेरा उत्पादक और रक्षक भी उत्तम है । (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर, (च तक्मानं अरसं कृधि) और ज्वरको निःसत्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामयं) सिरके रोग (अक्ष्योः उपहत्यां) आंखोंकी कमजोरी और (तन्वः रपः) शरीरके दोष (तत् सर्वं) इन सबको (दैवं वृष्ण्यं सं अह) दिव्य बल बढाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधि दूर करती है ॥ १० ॥

भावार्थ— सुवर्णके समान तेजस्वी आकाशनाव जहां चलती है, वहां अमृतका ही पुष्प रूप यह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया ॥ ४ ॥

उस आकाश नौकाके मार्ग भी सुवर्णके थे और पतवार भी सोनेके थी, जिनसे कुष्ठ औषधि यहां लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधि मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमके समान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान और चक्षु आदिके लिए सुखकारी है ॥ ७ ॥

हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी उन्नति करती है, इसलिए इसके यश बहुत गाये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है । जो उसे अपने पास रखता है, वह भी उत्तम होता है । इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे सिरके रोग, आंखोंकी व्याधि तथा शरीरके दोष दूर होते हैं । इस कुष्ठसे शरीरका बल बढता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कुष्ठ औषधि

कुष्ठ औषधि

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है। इस औषधिसे सिरके रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्य रोग, ज्वर, क्षय तथा कुष्ठ रोग भी इस औषधिसे दूर होते हैं। इसलिए सोमके समान ही इस औषधिका महत्व है। इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है। इसका रस पिया जाता है और इसका घृतादि बनाकर शरीर पर लेप किया जाता है। इस औषधिके नाम वैद्यग्रंथोंमें इस प्रकार हैं—

१ नीरुजं- नीरोगता उत्पन्न करनेवाली औषधि।

२ पारिभद्रकं- सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला।

३ रामं- आनन्द देनेवाला।

४ पावनं- शुद्धि करनेवाला।

इसके गुण इस प्रकार हैं—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्लं तिक्तं लघु।
हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान् ॥
(भा. प्र. पू. १)

विषकण्डूखर्जूदद्रुहृत् कान्तिकरं च ॥
(रा. नि. व. १०)

'यह कुष्ठ औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्र उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है। वात, रक्त, वीसर्प, खांसी, कुष्ठ, कफ इन रोगोंको दूर करती है। इसी प्रकार विष, खुजली, दाद आदि रोगोंको दूर करती है और कान्तिको बढाती है।

इस औषधिको हिन्दीमें 'कुठ' कहते हैं। इसका उपयोग अन्दर और बाहर दोनों तरफसे होता है। इसके कषायको पीनेसे अन्तः शुद्धि और इसके घृत, तैलादिसे बाह्य शुद्धि होती है। इससे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी ठीक हो जाते हैं।

कुष्ठ औषधि

कांड ६, सूक्त ९५

(ऋषिः – भृग्वंगिराः। देवता – वनस्पतिः।)

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत। गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहांसे तीसरे द्युलोकमें (देवसदनः अश्वत्थः) देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं) वहां अमृतके दर्शन होनेके समान (कुष्ठं देवाः अवन्वत) कुष्ठ औषधिको देवोंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौः) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बंधी नौका (दिवि अचरत्) द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधिको (देवाः अवन्वत) देवोंने प्राप्त किया है ॥ २ ॥

(ओषधीनां गर्भः असि) औषधियोंका मूल तू है। (उत हिमवतां गर्भः) और हिमवालोंका भी तू गर्भ है। (तथा विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमात्रका गर्भ है; (मे इमं अगदं कृधि) तू मेरे इस रोगीको नीरोग कर ॥ ३ ॥

लाक्षा (लाख)

कांड ५, सूक्त ५

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - लाक्षा ।)

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः । सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥१॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् । भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥२॥
वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला । जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥३॥
यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम् । तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥४॥
भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात् । भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति ॥५॥
हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे । रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥६॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नभः, पितामहः अर्यमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अर्यमा है। (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलाची है। सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है॥१॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्यकी रक्षा करती है। (शश्वतां जनानां हि भर्त्री न्यञ्चनी च असि) सब जनोंका भरण पोषण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है ॥ २ ॥

(वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको चाहनेवाली कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं आरोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढती है। तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है। (स्परणी नाम वै असि) तेरा नाम स्परणी भी है ॥ ३ ॥

(यत् दण्डेन, यत् इष्वा) जो डण्डेसे और जो बाणसे, (यत् वा हरसा अरुः कृतं) अथवा जो रगडसे घाव हो गया है, (तस्य त्वं निष्कृतिः असि) उससे तू बचाव करनेवाली है, (सा इमं पुरुषं निष्कृधि) वह तू इस पुरुषको चंगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् प्लक्षात् अश्वत्थात् खदिरात् धवात्) भद्र, पाकड, पीपल, खैर, धव (भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात्) बड, पलाश इन वृक्षोंसे (निः तिष्ठसि) निकलती है। हे (अरुं-धति) घावोंको भरनेवाली वनस्पति ! (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रंगवाली भाग्यशालिनी ! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्ण-वाली और शरीरके लिये हितकारी हे (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली ! तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) व्रण या रोगके पास पहुंचती है ॥ ६ ॥

भावार्थ - सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है। यह इंद्रियोंके लिए बहिनके समान सुखदायक है ॥ १ ॥

जो इस औषधिके रसका पान करता है वह जीवित रहता है। इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा, पुष्टि और नीरोगिता होती है ॥ २ ॥

बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्परणी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

डण्डे बाण अथवा किसीकी रगड लगनेसे जो व्रण होता है वह व्रण इस औषधिसे अच्छा हो जाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खेर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह घावको भरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकारी है। यह रोग दूर करती है इसलिये इसका नाम निष्कृति है ॥ ६ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे । अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥
अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे । सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रंगवाली भाग्यशालिनी ! हे (शुष्मे लोमश-वक्षण) बलशालिनी और बलोंवाली ! हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध ! (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है । (ते आत्मा वातः ह बभूव) तेरी आत्मा वायु है ॥ ७ ॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है । (तव पिता अजबभ्रुः) तेरा पालक अजबभ्रु अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है । (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह अस्ना उक्षिता असि) उसके मुखसे तू सींची गई है ॥ ८ ॥

(अश्वस्य अस्नः सम्पतिता) घोडेके मुखसे नीचे गिरी हुई (सा वृक्षान् अभिसिष्यदे) वह वृक्षोंको सींचती है । हे (अरुं-धति) घावको भरनेवाली ! (पतत्रिणी सरा भूत्वा) चूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ— यह सुवर्णके रंगवाली, बलवाली और अंदरसे तन्तु निकालनेवाली है । इसका नाम लाक्षा औषधि है । यह रसवाली है, परंतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानीना भी है । जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खातीं हैं, उनपर यह मिलती है । सूर्यके गतिशील किरणोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

सूर्य किरणसे तप्त होकर वृक्षोंसे बाहर आती है । यह वृक्षसे चूती है और बाहर आती है । यह व्रणोंको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा (लाख)

लाक्षा

लाक्षाका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है । इसको भाषामें लाही कहते हैं । लाख भी इसीका नाम है । इसके संस्कृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जतु, जतुका- कृमियोंसे बननेवाली ।
२ क्रिमिजा, कीटजा- कृमियोंसे बननेवाली ।
३ क्रिमिहा- क्रिमियोंका नाश करनेवाली ।
४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा- रक्षा करनेवाली ।
५ रङ्ग माता- रङ्ग जिससे बनता है ।
६ क्षतघ्ना, क्षतघ्नी- व्रणका नाश करनेवाली ।
७ खदरिका- खैरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली ।
८ पलाशी- पलाश वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली ।
९ द्रुमव्याधिः, द्रुमामयः- यह वृक्षका रोग है ।
१० दीप्तिः- यह तेजःस्वरूप है ।
११ द्रवरसा- द्रव रसरूप है ।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहे गये आशयको ही बता रहे हैं । देखिये—

यह लाक्षा खैर और पलाश तथा अन्याय वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कही है । जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें ' खदरिका और पलाशी ' ये हैं । इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें ' दीप्ति ' कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें ' हिरण्यवर्णा ' आदि शब्दोंसे हुआ है । ' द्रव रसा ' इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है । यही भाव नवम मंत्रके ' सरा ' पदसे जाना जाता है । सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उलट पुलट होनेसे भी बनते हैं ।

लाक्षाका नाम ' क्षत-घ्नी ' है । इसका अर्थ व्रणको ठीक करनेवाली है । यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है । ' डण्डेसे, बाणसे अथवा रगडसे होनेवाला व्रण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है ' इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए

गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं। अब इस लाक्षाके गुण देखिये—

तिक्ता कषाया श्लेष्मापित्तघ्नी विषघ्नी रक्तघ्नी विषमज्वरघ्नी च। (रा. नि. व. ६)

' लाक्षा तिक्त और कषाय है। तथा कफ, पित्त, विष, रक्तदोष और विषमज्वर को दूर करनेवाली है। ' इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पितामह, बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन मं. १, ७, ८ में आया है। इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चहिये। वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें।

प्रथम मंत्रमें सिलाची लाक्षाका वर्णन करते हुए ' देवानां स्वसा ' कहा है। यह लाक्षा देवोंकी बहिन है, अर्थात् इंद्रियोंकी सहायक है। ' देव ' शब्द यहां इंद्रियवाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके व्रणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इंद्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है। यह लाक्षा किस प्रकार पी जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका सेवन करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है। रक्षा करनेके कारण ही इसको ' रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा ' कहते हैं। यह व्रणको ठीक करती है, सडने नहीं देती और मनुष्यका भरण पोषण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है। द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वोक्त वैद्यक ग्रंथोंक्त गुणोंके साथ भी मिलता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय प्राप्त करती है, रोगोंका सामना करती है। इस कारण बहुत लोग इसको चाहते हैं। सब लोग इसकी स्पृहा करते हैं, इसलिए इसका नाम ही ' स्परणी ' है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारसे उत्पन्न हुए व्रण आदिको यह लाक्षा दूर करती है। रोगोंकी निष्कृति करनेके कारण इसका नाम ' निष्कृति ' है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि पिलखन, पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह ' अरुं-धति ' है अर्थात् व्रणको चंगा करनेवाली है। इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके घाव भर जाते हैं।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है। सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके समान तेज इसमें है। यह ' वपुष्टमा ' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है। शरीरको पुष्ट और तेजस्वी बनानेवाली है। ' रुत ' अर्थात् व्रण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है। रोगों और व्रणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको ' निष्कृति ' नाम प्राप्त हुआ है। यह बात प्रकृतिवाली है, मानो इसकी आत्मा ही बात है।

अष्टम मंत्रमें ' अजबभ्रु ' यह लाक्षाका पिता है, ऐसा कहा है। अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है। इन पर लाख उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है। वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करें और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करें।

*

शमी औषधि

कांड ६, सूक्त ३०

(ऋषिः – उपरिबभ्रवः । देवता – शमी ।)

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥
यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात्त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि । मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः मधुना संयुतं इमं यवं) देवोंने मधुरतासे युक्त इस यव धान्यको बोनेके लिये (सरस्वत्यां अधि मणौ अचर्कृषुः) सरस्वतीके तटपर मणि जैसी उत्तम भूमिमें बार बार हल चलाया । वहां (शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः आसीत्) शतक्रतु इन्द्र हलका स्वामी था और (सुदानवः मरुतः कीनाशाः आसन्) उत्तम दानी मरुत् किसान थे ॥ १ ॥

हे (शमि) शमी औषधि ! (यः ते मदः) जो तेरा आनन्ददायक रस (अवकेशः विकेशः) विशेष केश बढानेवाला है । (येन पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) जिससे तू पुरुषको बडा हर्षित करती है । इसलिये (त्वत् अन्या वनानि आरात् वक्षि) तेरेसे भिन्न दूसरा जंगल में तेरे समीपसे हटाता हूं, (त्वं शतवल्शा विरोह) तू सैकडों शाखावाली होकर बढती रह ॥ २ ॥

हे (बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्धे शतावरि शमि) बडे पत्तोंवाली उत्तम तेजस्वी, वृष्टिसे बडी हुई शतावरि शमि ! (माता पुत्रेभ्यः इव) जिस प्रकार माता पुत्रोंको सुख देती है, उसी प्रकार तू (केशेभ्यः मृड) केशोंके लिये सुख दे ॥ ३ ॥

खेती

प्रथम मंत्रमें जौ नामक धान्यको बोनेके लिये भूमिको उत्तम हल चलाकर तैयार करनेका विधान है । यह तो सर्व-साधारण खेतीके लिये ही उपदेश है ऐसा समझना चाहिये । जहां इंद्र हल चलाता है और मरुत् खेती करते हैं; वहां वह कार्य करनेमें मनुष्योंको कोई संकोच नहीं होना चाहिये । अर्थात् खेतीका कार्य दिव्य कार्य है वह मनुष्य अवश्य करें ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि शमीका रस आनंद देता है और बालोंको बढाता है इसलिये इससे लोग बडे हर्षित होते हैं । अतः शमी वृक्षके आसपास उगनेवाले अन्य वृक्ष हटाने चाहिये जिससे शमीका वृक्ष अच्छी प्रकार बढ जावे । यहां उद्यानका एक उत्कृष्ट नियम बताया है । जिस पौधेको बढाना हो उसके आसपास कोई जंगल बढने नहीं देना चाहिये । इससे उसकी उत्तम वृद्धि होती है ।

तृतीय मंत्रमें शतावरी और शमीकी प्रशंसा है । इससे केशोंको बडा लाभ होता है । इस सूक्तका विचार वैद्य अवश्य करें । इनसे बालोंकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार होती है यह विचारणीय है ।

सूर्यकिरण चिकित्सा

कांड ६, सूक्त ५२

(ऋषिः – भागलिः । देवता – मन्त्रोक्ताः ।)

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् । आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥
नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत । न्यूर्मयो नदीनां न्यदृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥
आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् । आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान्नि शमयत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (आदित्यः विश्वदृष्टः) सबका आदान करनेवाला, दिखाई देनेवाला और (अ-दृष्ट-हा सूर्यः) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला सूर्य (रक्षांसि निजूर्वन्) राक्षसोंका नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः पुरः) पर्वतोंसे आगे (दिवः उत एति) द्युलोकमें ऊपर आता है, अर्थात् उदित होता है ॥ १ ॥

(गावः गोष्ठे नि असदन्) गौवें गोशालामें बैठी हुई हैं । (मृगासः नि अविक्षत) मृग अपने स्थानमें प्रविष्ट हो गए हैं । (नदीनां ऊर्मयः नि) नदियोंकी लहरें चलीं गईं और अब वे (अदृष्टाः नि अलिप्सत) अदृष्ट होनेके कारण उनकी प्राप्ति की इच्छा की जाती है ॥ २ ॥

(कण्वस्य आयुः ददं) रोगीको आयु देनेवाली, (विपश्चितं श्रुतां) बुद्धि बढानेवाली प्रसिद्ध तथा (विश्व-भेषजीं वीरुधं आ आभारिषं) सब रोगोंकी औषधीको मैंने प्राप्त किया है और (अस्य अदृष्टान् नि शमयत्) इसके अदृष्ट दोषोंको दूर करते हैं ॥ ३ ॥

सूर्यकिरण चिकित्सा

सूर्यका महत्त्व

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें सूर्यका महत्त्व वर्णन किया है ' सूर्य ' सब जलरसोंका आदान करता है, इसलिये वह ' आदित्य ' कहलाता है । (विश्व- दृष्टः) उसको सब देखते हैं, वह आंखसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। वह सूर्य (अ-दृष्ट-हा) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला है। शरीरमें अथवा जगत्में जो रोग-बीज, दोष और हानिकारक रोग-मूल हैं, उनको सूर्यकी किरणें नष्ट करती हैं । (रक्षांसि-क्षरांसि-निजूर्वन्) राक्षसों अर्थात् क्षीणता करनेवाले रोगजन्तुओंका नाश करता है । इस प्रकारका यह सूर्य प्रति-दिन उदयको प्राप्त होता है । सूर्यके ये गुण सौर चिकित्साके करनेवालोंको स्मरणमें रखने चाहिये ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि दिनमें गौवें भ्रमण करती हैं और रात्रीमें गोशालामें आकर निवास करती हैं । मृग भी इसी प्रकार विश्रामके लिये अपने स्थानमें आते हैं । नदीकी लहरें भी कभी वेगसे उठती हैं, तो दूसरे क्षणमें चली जाती हैं । अर्थात् इस जगत्में कोई अवस्था स्थिर नहीं है । रोग भी इसी कारण नष्ट होनेवाले हैं । रोगी यह मनमें ठीक प्रकार समझे कि इस नश्वर जगत्में रोग भी नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर रूपसे रहनेवाले नहीं हैं । अतः रोग दूर होंगे और आरोग्य मिलेगा, यह निश्चय रखना उचित है ।

रोगीकी अवस्था इस सूक्तमें ' कण्व ' शब्दसे बताई है। शरीरकी पीडित अवस्थामें रोगी विलक्षण शब्द करता रहता है। इसको कण्व कहते हैं। ऐसी अवस्थामें रोगी यदि सुप्रसिद्ध (विश्व-भेषजी) सब रोगोंकी औषधीका सेवन करेगा वह निःसंदेह रोगमुक्त होगा । इस मंत्रमें जो सब रोगोंका शमन करनेवाली एक औषधी बताई है; वह प्रथम मंत्रोक्त सूर्यप्रकाश ही है । सूर्यकिरणें ही वल्लीके रूपमें हमारे पास आती हैं । इस सूर्यप्रकाशमें ऐसा सामर्थ्य है, कि वे दृष्ट और अदृष्ट सब प्रकारके रोगबीजोंका नाश करता है । जहां सूर्यप्रकाश होता है, वहां कोई रोगबीज नहीं रह सकता। इतना प्रभाव सूर्यकिरणोंमें है । इस विज्ञानका विचार करनेसे मनुष्य अपना रहन सहन योग्य प्रकार करके

सूर्य देवसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् नंगा शरीर सूर्यप्रकाशमें रखनेसे शरीरके रोगक्रिमी दूर होंगे, घरमें सूर्यप्रकाशके आनेसे घरके रोग दूर होंगे, नगरमें सूर्यप्रकाशके गलीगलीमें पहुंचनेसे सब नगर आरोग्यपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार सब मनुष्य इस सूर्यके प्रकाशसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। सूर्यकिरणें जिनपर गिरती हैं, वैसी वनस्पतियां खानेसे भी यही लाभ होते हैं। सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करनेवाली गौके दूध पीनेसे भी लाभ होते हैं। इस प्रकार योजनापूर्वक जानकर सूर्यकिरण चिकित्साका विषय सबको समझना चाहिये।

सूर्यकिरण चिकित्सा

कांड ७, सूक्त १०७

(ऋषिः – भृगुः। देवता – सूर्यः आपः च।)

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मय॑ः। आप॑ः समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥ १ ॥

अर्थ— (सूर्यस्य सप्त रश्मयः) सूर्यकी सात किरणें (समुद्रियाः आपः धाराः) समुद्रकी जलधाराओंको (दिवः अव तारयन्ति) द्युलोकसे नीचे लाती हैं। (ताः ते शल्यं असिस्रसन्) वे जलधाराएं तेरे शल्यको हटा देती हैं ॥ १ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके ऊपरके जलको बाष्प बनाकर ऊपर ले जाता है और उसके मेघ बनाता है। पश्चात् उसीकी किरणोंसे उन मेघोंसे वृष्टि होती है और भूमिपर जलप्रवाह बहने लगते हैं। यह जलचक्र इसप्रकार चलता रहता है।

मणिबन्धन

कांड १०, सूक्त ६

(ऋषिः – बृहस्पतिः। देवता – फालमणिः, वनस्पतिः, आपः।)

अ॒रा॒ती॒योर्भ्रातृ॑व्यस्य दु॒र्हार्दो॑ द्वि॒ष॒तः शिर॑ः। अपि॑ वृश्चा॒म्योज॑सा ॥ १ ॥
वर्म॑ म॒ह्यम॒यं म॒णिः फाला॑ज्जा॒तः क॑रिष्यति। पू॒र्णो म॒न्थेन॒ माग॑मद्र॒सेन॑ स॒ह वर्च॑सा ॥ २ ॥
यत्त्वा॑ शि॒क्वः प॒राव॑धी॒त्तक्षा॒ हस्ते॑न॒ वास्या॑।
आप॑स्त्वा॒ तस्मा॑ज्जीव॒लाः पु॒नन्तु॒ शुच॑य॒ः शुचि॑म् ॥ ३ ॥
हिर॑ण्यस्रग॒यं म॒णिः श्र॒द्धां य॒ज्ञं म॒हो दध॑त्। गृ॒हे व॑सतु॒ नोऽति॑थिः ॥ ४ ॥

अर्थ— (अरातीयोः भ्रातृव्यस्य) शत्रु वैरी (दुर्हार्दः द्विषतः शिरः) दुष्ट हृदयी और द्वेष करनेवालेका सिर (ओजसा अपि वृश्चामि) वेगसे मैं काटता हूं ॥ १ ॥

(फालात् जातः अयं मणिः) फालसे बनी हुई यह मणि (मह्यं वर्म करिष्यति) मेरी कवचके समान रक्षा करेगी। (मन्थेन रसेन वर्चसा सह पूर्णः) मन्थन-सामर्थ्य रस और वर्चसे युक्त होनेके कारण पूर्ण समर्थ यह मणि (मा आगमत्) मेरे पास आयी है ॥ २ ॥

(यत् त्वा शिक्वः तक्षा) जो तुझे कुशल बढई (वास्या हस्तेन परा अवधीत्) शस्त्रयुक्त हाथसे मारता है (तस्मात्) उससे (जीवलाः शुचयः आपः) जीवन देनेवाले शुद्ध जल (शुचिं त्वा पुनन्तु) तुझ पवित्र वीरको पवित्र बनावें ॥ ३ ॥

(अयं मणिः) यह मणि और (हिरण्यस्रक्) सुवर्णमाला, (श्रद्धां यज्ञं महः दधत्) श्रद्धा भक्ति, यज्ञ और महत्त्वको धारण करे और यह (नः गृहे अतिथिः वसतु) हमारे घरमें पूजनीय जैसा होकर रहे ॥ ४ ॥

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ७ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ८ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद्दिशः ।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ९ ॥

अर्थ—(तस्मै घृतं सुरां मधु अन्नं क्षदामहे) उसके लिये घी, वृष्टि जल, शहद और अन्न हम देते हैं, (सः नः पुत्रेभ्यः पिता इव) वह हमें जैसे पिता पुत्रोंको देता है, वैसे (श्रेयः चिकित्सतु) परम कल्याण देवे । यह (मणिः देवेभ्यः एत्य) मणि देवोंके पाससे यहां आकर (भूयोभूयः श्वः श्वः) वारंवार और प्रतिदिन हमें सुख देवे ॥ ५ ॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न, घीसे भरपूर, खादिरकी बनायी गई और वीरता बढानेवाली यह मणि है, (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसको बलवृद्धिके लिये बृहस्पतिने बांधा था, (तं अग्निः प्रति अमुञ्चत) उसे अग्नि मुझे देवे, धारण करावे, (सः अस्मै भूयो-भयः श्वः श्वः आज्यं दुहे) वह इसके लिये प्रतिदिन वारंवार घी देवे । (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ ६ ॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न, घीसे भरपूर, खादिर (खैर) की बनाई गई और वीरता बढानेवाली यह मणि है (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसे बलवृद्धिके लिए बृहस्पतिने बांधा था । (तं इन्द्रः ओजसे वीर्याय कं प्रति अमुंचत) उसे इन्द्र मुझे ओज, वीर्य और सुखके लिए देवे, मुझ पर धारण करावे । (सः अस्मै भूयोभूयः श्वः श्वः बलं इत् दुहे) वह इसके लिए प्रतिदिन बार बार बल देवे (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ ७ ॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न, घीसे भरपूर, खादिरकी बनाई गई और वीरता बढानेवाली यह मणि है । (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसे बलवृद्धिके लिए बृहस्पतिने बांधा था । (तं सोमः महे श्रोत्राय चक्षसे प्रति अमुंचत) उसे सोम महत्व, श्रोत्र और दृष्टिके लिए मुझे देवे ।(सः अस्मै भूयोभूयः श्वः श्वः वर्चः दुहे) वह इसके लिए प्रतिदिन बार बार वर्च देवे (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ ८ ॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न घीसे भरपूर खादिरकी बनाई गई और वीरता बढानेवाली यह मणि है । (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसे ओजके लिए बृहस्पतिने बांधा था । (तं सूर्यः प्रति अमुंचत) उसे सूर्य देव इस पर भी बांधे (तेन इमाः दिशः अजयत्) उससे यह सब दिशाओंको जीते, (सः अस्मै भूयोभयः श्वः श्वः भूतिं दुहे) वह इसके लिए प्रतिदिन दिनरात ऐश्वर्य देवे, (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार, अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ ९ ॥

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद्दानवानां हिरण्ययीः ।
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १० ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ११ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १२ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं बिभ्रत्सविता मणिं तेनेदमजयत्स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १३ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १४ ॥

अर्थ - (फालं घृतश्चुतं उग्रं खदिरं मणिं) फालसे उत्पन्न, घी से भरपूर, वीरता बढानेवाली यह खादिरकी मणि है, (यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसे ओजके लिए बृहस्पतिने बांधा था। (तं मणिं बिभ्रत् चन्द्रमाः) उस मणिको धारण करनेवाला चन्द्रमा (असुराणां दानवानां हिरण्ययीः पुरः अजयत्) असुरों और दानवोंकी सुवर्णयुक्त नगरियोंको पराजित करता है। (सः अस्मै श्वः श्वः भूयोभूयः श्रियं इत् दुहे) वह इसके लिये प्रतिदिन बारबार श्री देवे, (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वस कर ॥ १० ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था (सः अस्मै भूयः भूयः श्वः श्वः वाजिनं दुहे) वह इसके लिए प्रतिदिन बार बार अश्व देवे, (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ ११ ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तेन मणिना) उस मणिसे (अश्विनौ इमां कृषिं अभिरक्षतः) अश्विनौ देव इस खेतीकी रक्षा करते हैं। (सः भिषग्भ्यां) वह उन वैद्योंके द्वारा इसे (भूयोभूयः श्वः श्वः) प्रतिदिन बार बार (महः दुहे) बडा तेज या अन्न देता है। (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ १२ ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तं मणिं सविता बिभ्रत्) उस मणिको सविताने धारण किया था, (तेन स्वः अजयत्) उससे स्वर्गीय प्रकाशका यजन किया, (सः अस्मै भूयोभूयः श्वः श्वः सूनृतां दुहे) उसने इसके लिए प्रतिदिन और बार बार सत्य दुहा। (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ १३ ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तं मणिं अपः बिभ्रतीः) उस मणिको जल धारण करते हैं, और (सदा अक्षिताः धावन्ति) सदा अक्षय होकर दौडते हैं, (सः आभ्यः भूयोभूयः श्वः श्वः अमृतं इत् दुहे) उसने इनके लिए प्रतिदिन बारबार अमृत ही दुहा। (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ १४ ॥

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १५ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान्युधाजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १६ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥
ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥
अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥
अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥
तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् । तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

अर्थ— (यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तं शंभुवं मणिं) उस सुखदायी मणिको (राजा वरुणः प्रति अमुंचत) राजा वरुण धारण करे, (सः अस्मै भूयोभूयः श्वःश्वः सत्यं दुहे) उसने इसे प्रतिदिन बार बार सत्य दुहा, (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उसका विध्वंस कर ॥ १५ ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तं मणिं देवाः बिभ्रतः) उस मणिको देवोंने धारण किया और (युधा सर्वान् लोकान् अजयन्) युद्ध करके सब लोकोंको जीत लिया । (सः एभ्यः भूयोभूयः श्वः श्वः जितिं इत् दुहे) उसने इनके लिए प्रतिदिन बार बार विजय ही दुहा, (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ १६ ॥

(यं मणिं) जिस मणिको (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए (बृहस्पतिः अबध्नात्) बृहस्पतिने बांधा था, (तं शंभुवं इमं मणिं देवताः प्रत्यमुंचन्त) उसी सुखदायी मणिको देवोंने धारण किया (सः आभ्यः भूयोभूयः श्वःश्वः विश्वं इत् दुहे) उसने इनके लिए बार बार प्रतिदिन सब सुख दुहा, (तेन त्वं द्विषतः जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् उनका विध्वंस कर ॥ १७ ॥

(ऋतवः तं अबध्नत) ऋतुएं उसको बांधती रहीं (आर्तवाः तं अबध्नत) ऋतुसे उत्पन्न पदार्थोंने उसको बांधा । (संवत्सरः तं बध्वा) संवत्सर उसे बांधकर (सर्वं भूतं विरक्षति) सब भूतमात्रकी रक्षा करता है ॥ १८ ॥

(अन्तर्देशाः तं अबध्नत) अन्तर्दिशाओंने उसे बांधा, (प्रदिशः तं अबध्नत) दिशाओंने उसे बांधा, यह (प्रजापतिसृष्टो मणिः) प्रजापतिके द्वारा निर्मित मणि (मे द्विषतः अधरान् अकः) मेरे शत्रुओंको नीचे करती है ॥ १९ ॥

(अथर्वाणो अबध्नत) अथर्वाओंने इसे बांधा, (आथर्वणाः अबध्नत) आथर्वणिकों अर्थात् अथर्वाके वंशमें उत्पन्न लोगोंने बांधा था (तैः मेदिनः अंगिरसः) उससे बलवान् हुए अंगिरसोंने (दस्यूनां पुरः बिभिदुः) शत्रुओंके नगरोंको तोडा है (तेन त्वं द्विषतः जहि) इससे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २० ॥

(तं धाता प्रत्यमुञ्चत) उसे धाताने धारण किया था । (सः भूतं व्यकल्पयत्) वह भूतोंको बनानेमें समर्थ हुआ (तेन त्वं द्विषतः जहि) उसके बलसे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥ २१ ॥

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमद्रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत्सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥ २८ ॥

अर्थ —(यं असुरक्षितिं) जिस असुर-विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिये बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह मणि मेरे पास (रसेन वर्चसा सह आगमत्) रस और तेजके साथ आयी है ॥ २२ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह यह मणि मेरे पास (गोभिः अजाविभिः अन्नेन प्रजया सह) गौ, बकरी, भेड, अन्न और प्रजाके साथ (आगमत्) आयी है ॥ २३ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः) वह यह मणि (व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या) चावल, जौ तथा ऐश्वर्यके साथ (आ आगमत्) मेरे पास आयी है ॥ २४ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह यह मणि मेरे पास (मधोः घृतस्य धारया कीलालेन सह) घी, शहद और पेयकी धाराओंके साथ (आगमत्) आयी है ॥ २५ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह यह मणि मेरे पास (पयसा द्रविणेन श्रिया सह) दूध, धन और श्रीके साथ (आगमत्) आयी है ॥ २६ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः) वह यह मणि (तेजसा त्विष्या यशसा कीर्त्या सह) तेज, चमक, यश और कीर्तिके साथ (आगमत्) आयी है ॥ २७ ॥

(यं असुरक्षितिं) जिस असुर विनाशक मणिको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवताओंके लिए बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः) वह यह मणि (सर्वाभिः भूतिभिः सह) सब ऐश्वर्योंके साथ (मा आगमत्) मेरे पास आयी है ॥ २८ ॥

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये । अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥
उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः । यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥
यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा । स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३२ ॥
यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति । एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥
यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम् । तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥
एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।
तस्मिन्विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥

अर्थ— (तं इमं मणिं) इस मणिको (देवताः पुष्टये मह्यं ददतु) देवता पुष्टिके लिये मुझे देवें । यह (अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिं) शत्रुनाशक, क्षात्रतेज बढानेवाली, वैरीका विध्वंसक यह मणि है ॥ २९ ॥

(ब्रह्मणा तेजसा सह) ज्ञान और तेजके साथ (मे शिवं प्रति मुंचामि) मैं इस कल्याणकारी मणिको धारण करता हूं, यह मणि (असपत्नः सपत्नहा) शत्रुरहित और शत्रुघातक है, तथा (मे सपत्नान् अधरान् अकः) इसने मेरे शत्रुओंको नीचे किया है ॥ ३० ॥

(अयं देवजाः मणिः) यह देवोंसे उत्पन्न होनेवाली मणि (मां द्विषतः उत्तरं कृणोतु) मुझे शत्रुओंसे अधिक उत्तम अवस्थामें रखे । (यस्य दुग्धं) जिससे दुहा गया सार (इमे त्रयः लोकाः उपासते) ये तीनों लोक प्राप्त करते हैं । ऐसी (सः अयं मणिः) वह यह मणि (मा श्रैष्ठ्याय मूर्धतः अधिरोहतु) मुझे श्रेष्ठ स्थानके ऊपर चढावे ॥ ३१ ॥

(देवाः पितरः, मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव पितर और मनुष्य जिस पर सदा निर्भर रहते हैं, वह (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठ स्थान पर मुझे चढावे ॥ ३२ ॥

(फालेन कृष्टे उर्वरायां) फालसे जुती हुई भूमिमें (यथा बीजं रोहति) जैसे बीज उगता है, (एव मयि प्रजाः पशवः अन्नं वि रोहतु) वैसे ही मेरे पास संतान, पशु और अन्न बहुत हो जावें ॥ ३३ ॥

हे (यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ बढानेवाली मणे ! (त्वा शिवं यस्मै प्रति अमुचं) तुझ शुभ मणिको जिस पर मैं धारण कराऊं, हे (शतदक्षिण मणे) सौ प्रकारकी दक्षिणा देनेवाली मणि ! (तं त्वं श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्) उसे तू श्रेष्ठताके लिये बढा ॥ ३४ ॥

हे अग्ने ! (समाहितं एतं इध्मं जुषाणः) प्रदीप्त इस इंधनका सेवन करता हुआ (होमैः प्रति हर्य) होम हवनोंसे समृद्ध हो । (तस्मिन् जातवेदसि समिद्धे) उस अग्निके प्रदीप्त हो जाने पर हम (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (सुमतिं स्वस्ति प्रजां) उत्तम बुद्धि, कल्याण, संतान, (चक्षुः पशून्) दृष्टि और पशुओंको (विदेम) प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

इस सूक्तमें विशेष प्रकारकी मणिके धारण करनेका महत्त्व दर्शाया है ।

जंगिड-मणि

कांड २, सूक्त ४

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – चंद्रमाः, जङ्गिडः ।)

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् । मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ— (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंदके लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोगको दूर करनेवाली (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न सडनेवाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भारात्) जम्भाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक-रोगसे (अभि-शोचनात्) रोनेकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (वि-स्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाती है, (अयं) यह मणि (अत्त्रिणः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाती है। (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्वभेषजः) सर्व औषधियोंका रस ही है; वह (नः अंहसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्योंके द्वारा दिये हुऐ (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिके द्वारा हम (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्षमें (सहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्योंकि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करती है ॥ १ ॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जम्भाई बढानेवाले, क्षीणता करनेवाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आंखोंमें दुःखके आंसू लानेवाले रोगोंसे बचाती है ॥ २ ॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करती है और जिसमें बहुत अन्न खाने पर भी शरीर कृश ही होता रहता है; इस प्रकारके भस्मक रोगसे भी बचाती है। इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इसलिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥ ३ ॥

महापुरुषोंसे प्राप्त हुई और सुख देनेवाली यह जंगिड मणि शोषक रोग और बीजभूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् । अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः । अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (शणः च) सन और (जंगिडः च) जंगिड ये दोनों (विष्कंधात्) शोषक रोगसे (मा अभि-रक्षताम्) मेरा बचाव करें । इनमेंसे (अन्यः) एक (अरण्यात् आभृतः) वनसे लाया गया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतोंसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया गया है ॥ ५ ॥

(अयं मणिः) यह मणि (कृत्या-दूषिः) हिंसासे बचानेवाली है (अथो) और (अ-राति-दूषिः) शत्रु-भूतरोगोंको दूर करनेवाली है (अथो) ऐसी यह (सहस्वान् जंगिडः) बलवान् जंगिड मणि (नः आयूंषिः तारिषत्) हमारे आयुष्योंको बढावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— सन और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥

यह मणि नाशसे बचाती है और आरोग्यके शत्रुरूपी रोगोंसे दूर रखती है । यह प्रभावशाली मणि हमारी आयु बढावे ॥ ६ ॥

जंगिड मणि

सन और जंगिड

इस सूक्तमें 'सण' और 'जंगिड' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं. ५) । शण अथवा सन यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषामें भी इसका यही नाम है । सनके विषयमें राज-वल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है—

१ तत्पुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च ।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ (राजव. ३ प.)
२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ (राजनिघंटु व. ४)

'(१) सनका फूल रक्तपित्त रोगमें हितकारक है, मल-रोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है । (२) सनके ये गुण हैं– खट्टा, कषाय रुचिवाला, मल-गर्भ रक्तका स्राव करनेवाला, वमन करानेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है ।'

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें । यह सन (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५) । सन नामक जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है । रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सनका धागा ही अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मं. ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है । इस सनका नाम 'त्वकसार' है, इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत् रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथ पर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है । व्यायामके समय जब पसीना आता है, तब उस पसीनेसे उक्त सनके धागेके औषधिके रस शरीर पर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं ।

इस सनके धागेपर कौनसे रस लगाये जाते हैं और जिस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना चाहिए । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी नहीं कहा है ।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

'सन और जंगिड मणि मेरा रक्षण करें' यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि, सनके धागेमें जंगिड मणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सनका धागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगड मणि भी स्वयं गुणकारी है ।

जंगिडमणिके लाभ

१ दीर्घायुत्वं– आयु दीर्घ होती है । (मं. १)

आयूंषि तारिषत्- आयुष्य बढाती है। (मं. ६)

२ महत् रणं (रमणीयं)- बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः- अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ दक्षमाणः- (दक्षं) बल बढाना, बलवान् होना। (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः- शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः- इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः- इसमें सब औषधियां हैं। (मं. ३)

८ मयोभूः- सुख देती है। (मं ४)

९ कृत्यादूषिः- अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचानेवाली यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति-दूषिः- आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाली है। (मं. ६)

११ सहस्वान्- बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाती है। (मं. ६),

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोगके दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भारात् पातु- जम्भाका दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु- शरीरको विशेष क्षीण करनेवाले रोगसे यह मणि बचाती है। (मं. २)

१४ वि-स्कंधात् पातु- शरीरको सुखानेवाले रोगसे यह बचाती है। (मं. २)

१५ अभि-शोचनात्- रोनेकी प्रवृत्ति पैदा करनेवाली बीमारीसे यह बचाती है। (मं. २)

१६ अत्त्रिणः बाधते- (अद्-त्रिन्) बहुत खाने पर भी शरीर कृश ही होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं. ३)

१७ अंहसः पातु- पापवृत्तिसे बचाती है, अथवा हीन भावना मनसे हटाती है। (मं. ३)

१८ रक्षांसि सहामहे- रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है। [पाठक स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोगजन्तु-शास्त्र ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते। ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णनके पढनेसे पाठकोंको निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है। इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है।] फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नष्ट करती है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) रोगकी छूतके दोषको दूर करनेवाली है।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिकी बनायी जाती है। यह बडा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला। तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमेंसे बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इसलिये हमारा विचार ऐसा है कि यह मणि बहुधा वचाकी ही बनती होगी। वचाके गुण वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार बताए हैं—

१ वचागुणाः- तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथि-शोफघ्नी वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च। (राजनिघण्टु व. ६)

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी।

३ वचापर्यायाः ' मङ्गल्या। विजया। रक्षोघ्नी। भद्रा। '

(१) वचा के गुण-तीक्ष्णता, कटुता, उष्णतासे युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजनका नाश करनेवाली। वात ज्वर अतिसारका नाश करनेवाली। वमन करानेवाली। उन्माद और भूतरोगका नाश करनेवाली यह वचा है।

(२) वचा आयुष्य बढाती है, और वात-कफ-तृष्णाका नाश करती है। स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है।

(३) वचाके पर्यायवाची शब्द- (मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करनेवाली, (रक्षो-घ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली। '

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुणधर्मोंमें समानता है। पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनके गुण धर्म समान हैं। इसलिये हमारा विचार है, कि जंगिड मणि संभवतः इसकी ही बनायी जाती होगी। यह समानता देखिये—

वैद्यकग्रंथके शब्द- (वचाके गुण)	इस सूक्तके शब्द- (जंगिड मणिके गुण)
१ आयुष्या	१ दीर्घायुत्वाय (मं. १)
	आयूंषि तारिषत् (मं. ६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	२ रक्षांसि सहामहे (मं. ४)
३ वातघ्नी । उन्मादघ्नी	३ जम्भात् पातु (मं. २)
	अभिशोचनात् पातु । (मं. २)
४ मंगल्या, भद्रा, स्मृतिवर्धनी	४ अरिष्यन्तः (मं. २)
	दक्षमाणाः । सहस्रवीर्यः (मं. २)
५ विजया	५ अरातिदूषिः (मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं. २)
७ शोफघ्नी ज्वरघ्नी, कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	७ विश्वभेषजः (मं. ३)

इस प्रकार देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुण धर्म और जंगिडमणिके गणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचासे ही बनायी जाती होगी । केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं बर्ती जाती, अथवा नहीं बर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि ली जाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

चरकादि ग्रथोंमें जहां बडे बडे आयुष्यवर्धक और बल-वर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियों-के अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेनेका विधान किया है । इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा । तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंधविश्वासकी बात है, कि केवल मणि-धारणसे रोगमुक्त होनेका ही विधान किया जा रहा है ! क्या इससे तावीज, कवच, धागा, डोरा आदिकी अंधविश्वासकी बातें सिद्ध नहीं होंगी ? इसप्रकार-की शंकाएं यहां उपस्थित होनी संभव है; इसलिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो ' जंगिडमणि ' का वर्णन है वह तावीज या धागा डोरा या जादूकी चीज नहीं है । यह वास्तविक औषधि पदार्थ है । इसके पूर्वके तृतीय सूक्तमें पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियोंका वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है । ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है । इसलिये यह औषधिकी मणि है यह बात स्पष्ट है ।

मणिपर संस्कार

स्वयं यह मणि वनस्पतिकी है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनती है तथा यह जिस धागेमें बांधा जाती है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है । विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है । इसके नंतर—

अरण्यादन्य आभृतः ।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ (मं. ५)

' एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है । ' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है । इसमें ' आ-भृतः ' शब्द है, इसका धात्वर्थ, (आ) चारों ओर से (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, ' ऐसा होता है । अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें

भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इसलिये जंगिडमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है और इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, डोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वासकी चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इसमें औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हरड) की एक तीव्र जाती होती है, उसको हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करनी योग्य हैं, कोल्हापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहांके श्री० नरेशके पास वनस्पतिके जडकी मणियां मिलती हैं, इस मणिकी धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस विषयका अनुभव हमने कई वार अपने ऊपर किया है और अपने परिचितों पर भी किया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जडकी बनायी जाती है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि धागा और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जायें तो रोगोंका दूर होना शास्त्रदृष्टिसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

वचाके विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमति ली है, उनका कहना है, कि वचाकी मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण की जाये तो वह स्पर्शजन्य रोग [छूतसे फैलनेवाले रोग] की बाधासे दूर रख सकती है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोगोंके होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई वार प्रयोग भी किया है और लाभ ही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार ग्रंथिक सन्निपात रोगके दिनोंमें 'इश्रीशिया' नामक वनस्पतिके बीजोंको धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्टर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु बंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वासकी बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक सिद्धता करनेकी रीतिकी खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें। वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है।

खोजकी दिशा

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा। श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है। इसकी गंधसे अर्थात् उग्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोगजन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं। यही कारण है कि वचाको शरीरपर धारण करनेसे छूतसे फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है। प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु वचाकी उग्रगंधके कारण तत्काल मर जाते हैं। ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पुदीना, लहसुन, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक हैं। आर्यवैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है। यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पतिकी जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणियोंका अब भी प्राप्त होना संभव है।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य

प्रथम मंत्रके प्रारंभसे ही 'जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात' कही है। यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है। इस विचारके लिये प्रथम आयुष्यकी अल्पता क्यों होती है यह देखिये।

रोग– आधि और व्याधि–यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है। जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करती है अथवा नष्ट करती है, इससे जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्यवर्धक है।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होती है। परंतु वेदमें सैंकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे गए हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है। यदि दीर्घायुष्य होता है या नहीं, इस

विषयमें हम आर्य वैद्यककी साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी; क्योंकि आयुष्यवर्धनके कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्रमें कहे हैं। इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्यकी वृद्धिमें निश्चित है। इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्यवर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

जंगिडमणि स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाली होनेके कारण यदि उसे शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगताकी सिद्धता हुई और आयुष्यवर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्यवर्धन होगा।

बडा रण

प्रथम मंत्रमें 'महते रणाय' शब्द है। इसमें जो 'रण' शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता शोभा इत्यादि होता है। यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है। परंतु कईयोंके मतसे यहांके रण शब्दका अर्थ युद्ध है। इसलिये 'महत् रण' शब्दका अर्थ 'बडा युद्ध' है। यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भागका अर्थ निम्नलिखित होता है—

महते रणाय जङ्गिडं वयं बिभृमः॥ (मं. १)

'बडे युद्धके लिये हम जङ्गिड मणिको धारण करते हैं।' अर्थात् बडे युद्धमें हमारी विजय हो इसलिये हम जङ्गिड मणिको धारण करते हैं। जङ्गिड मणिके धारणसे हमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे। यह युद्ध कौनसा है? यह युद्ध अपना जीवन ही है। मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है।

शताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है। सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे। इसलिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होती है। जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्ति द्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमारी सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्य ही है।

बलवर्धन

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं। 'अरिष्यन्तः। दक्षमाणाः' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए, बलिष्ठ होनेवाले' यह है। रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमणके कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पदका अर्थ है। परंतु थोडासा विचार करनेपर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत्में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करनेके लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्यके लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिये। यह गुण 'दक्षमाणाः' बलवान् इस शब्द द्वारा बताया है। इसका अर्थ बलवान् होना है।

बल और विजय

इस गुणकी बडी आवश्यकता है। रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है। जितना बल बढेगा उतनी ही विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है। पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गम्भीरता अनुभव करें।

दूषण

इस सूक्तमें 'दूषण, दूषि' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है। देखिये—

विष्कन्ध दूषण— विष्कन्धको बिगाडनेवाला।
कृत्या दूषि — कृत्याको दोष लगानेवाला।
अराति दूषि — अरातिको दोष लगानेवाला।

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोगसे यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यहां सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रुको मारो, काटो या शत्रुका नाश करो। वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कई बार किया है। परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाहीमें दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अन्दर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतना ही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें

दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होती है।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांतका ज्ञान हो सकता है।

अत्रि

वेद मन्त्रोंमें 'अत्रि' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि और कई स्थानपर राक्षस भी इस शब्दका अर्थ है, पर यहां इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है। इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें सन्देह होना संभव है, इसलिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है।

'अद्' (खाना) धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ 'भक्षक' है। दूसरा 'अत्' (भ्रमण करना) धातुसे बनता है, तब इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है। यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे इसका अर्थ भक्षक-रोग अथवा भस्मरोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परन्तु कृश होता जाता है। दूसरा अत्रि शब्द 'भ्रमण करनेवाला' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोग-वाचक होनेकी अवस्थामें पागलका वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल हो जाता है, कारणके बिना भी वह भटकता रहता है इसलिये इसका वाचक यह शब्द हो सकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हित-कारी होगी। परन्तु यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इसलिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं हो सकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मा-दनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है।

शंखमणि

कां. ४, सू. १०

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- शंखमणिः, कृशनः।)

वाता॑ज्जा॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद्वि॒द्युतो॒ ज्योति॑ष॒स्परि॑। स नो॑ हिरण्य॒जाः श॒ङ्खः कृश॑नः पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥
यो अ॑ग्र॒तो रो॑च॒नानां॑ समु॒द्राद॑धि॑ जज्ञि॒षे। श॒ङ्खेन॑ ह॒त्वा रक्षां॑स्य॒त्रिणो॒ वि ष॑हामहे ॥ २ ॥

अर्थ— (वातात् अन्तरिक्षात्) वायुसे अन्तरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जातः) बिजलीसे और सूर्यादि ज्योतियोंसे भी सब प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशनः शंखः) वह सुवर्णसे बना मोती रूपी तेजस्वी शंख (नः अंहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्राद् अधि जज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शंखेन रक्षांसि हत्वा) शंखसे राक्षसोंका नाश करके (अत्रिणः वि सहामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगबीज दूर होते हैं, खूनका शोषण करनेवाले रोगोंके क्रिमी इससे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः । शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः । स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः । सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे ।

रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः ।

तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

अर्थ— (शंखेन अमीवां अमतिं) शंखसे रोगको और मति हीनताको (उत शंखेन सदान्वाः) और शंखसे सदा पीडा देनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं। यह (शंखः विश्वभेषजः) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (कृशनः अंहसः पातु) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(दिवि जातः) द्युलोकसे उत्पन्न हुआ (समुद्रजः) समुद्रसे जन्मा अथवा (सिन्धुतः परि आभृतः) नदियोंसे लाया गया यह (हिरण्यजाः शंखः) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (सः मणिः) वह मणि (नः आयुष्प्रतरणः) हमारे आयुष्यमें दुःखोंसे पार करनेवाली होवे ॥ ४ ॥

(समुद्रात् मणिः जातः) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न उसी प्रकार प्रकट हुआ है, जिस प्रकार (वृत्रात् दिवाकरः जातः) मेघसे सूर्य प्रकट होता है। (सः हेत्या) वह अपने शस्त्रसे (देवासुरेभ्यः) देवों और असुरोंसे (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(हिरण्यानां एकः असि) तू सुवर्ण जैसे चमकनेवालोंमें एक है, (त्वं सोमात् अधि जज्ञिषे) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है। (त्वं रथे दर्शतः) तू रथमें दिखाई देता है, (त्वं इषुधौ रोचनः) तू तूणीरमें चमकता है (नः आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयु बढा ॥ ६ ॥

(देवानां अस्थि कृशनं बभूव) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है। (तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति) वह आत्माको सत्तासे युक्त होता हुआ जलोंमें विचरता है। (तत् ते) वह तेरे ऊपर (वर्चसे बलाय आयुषे दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घ आयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायुष्य प्राप्त होनेके लिये (बध्नामि) बांधता हूं। यह (कार्शनः त्वा अभिरक्षतु) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— शंखसे आमके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होते हैं, बुद्धिकी सुस्ती हट जाती है; शंखसे शरीरकी अन्य पीडा हट जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है। यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके उद्गम स्थान पर भी प्राप्त होता है। यह सब आयुमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुणसे सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चंद्रमाके समान श्वेत है शूरोंके रथोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है। इससे आयुष्यकी वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

यह मानों देवोंका तेज है और वही शंख रूपसे समुद्रके जलके अन्दर प्राप्त होता है। इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है। यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखमणि

शंखसे रोग दूर करना

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्यशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें है, यही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्यशास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्यशास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें 'पूतः' शब्द है। इसका अर्थ 'पवित्र' है। स्वयं पवित्र होता हुआ सर्वत्र निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इसका उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण

वैद्यशास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे गए हैं—

शंखकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः॥
(सुश्रुत. सू. ४६)

'शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी, तेज बढानेवाला और श्लेष्मा बढानेवाला है।' तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफ-
श्वासविषघ्नश्च। (रा. नि. व. १९)

'कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, बल बढानेवाला, गुल्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है।' ये वैद्यशास्त्रमें कहे गए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोगनिवारक गुण ध्यानमें आ जाता है। इस शंखसे शंखद्रव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शंखवटी आदि अनेक औषधियां विविध रोग दूर करनेके लिये बनायी जाती हैं। इसीलिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बच्चोंको होनेवाले कई रोगोंके शमनके लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियां भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बडी औषधि है।

शंख प्राणी है

शंख केवल निर्जीव स्थितिमें बाजारोंमें बिकता है, परन्तु यह एक प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह हड्डीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल हड्डी जैसा ही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें कहा है—

देवानां अस्थि कृशनं बभूव,
तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति।
(सू. १०, मं. ७)

'देवोंकी हड्डी ही शंख रूपमें परिणत हुई है वह (आत्मन्वत्) आत्मासे- जीव सत्तासे- युक्त होकर जलोंके अन्दर विचरता है।' इससे निःसन्देह स्पष्ट होता है कि शंख आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त हड्डी जैसा, परन्तु उस हड्डीके घरके अन्दर रहनेवाला यह प्राणी ही है। इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें जो इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वभेषजः— बहुत रोगोंकी औषधि। शंखकी औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोगके रहनेसे मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधिके सेवन करनेसे यह पापप्रवृत्ति दूर होती है। और निरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्यकर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परावलंबी होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है। (मं. १, ३)

(३) आयुष्प्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विघ्नोंको हटानेवाला शंख है। (मं. ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति)— देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडायें होनी सम्भव हैं उनसे शंख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं, जिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होते हैं उनके कारण रोगी होती है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोंके अन्दर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधि उत्तम है। (मं. ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखें।

(५) अमीवां शङ्खेन (विषहामहे)— 'आम' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग 'अमीव' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे

पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं. ३)

(६) अमतिं शङ्खेन (विषहामहे)— मति, बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारण ही होते हैं। शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उक्त कारणसे मनके बुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी हट जाती है। (मं. ३)

(७) शङ्खेन सदान्वाः (विषहामहे)– शरीरमें, हरएक अवयवमें जिन रोगोंसें बडा दर्द होता है वे रोग 'सदान्वाः' कहे जाते हैं। (सदा नोनूयमानाः) रोगी सदा चिल्लाता रहता है इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है। (मं. ३)

(८) तेज, बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है। (मं. ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है।

रोग जन्तु

इस सूक्तमें रोगक्रमियोंको और उनसे होनेके विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका वर्णन इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) रक्षांसि— (रक्षः = क्षरः) = जिन रोगजन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है। (मं. २)

(२) अत्रिन्— (अत्ति इति) = जिस रोगमें बहुत अन्न खानेपर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, खून कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं। भस्मरोग तथा उसी प्रकारके अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है। (मं. ३)

ये क्रिमियोंके अर्थात् रोगके क्रिमियोंके नाम हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं।

शंखके गुण

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) समुद्रात् जज्ञिषे— यह समुद्रसे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति होनेसे यह शीतवीर्य है, गुणोंसें शीत है। (मं. १, २, ४, ५)

(२) सोमात् जज्ञिषे— सोम अर्थात् औषधियों अथवा चंद्रसे उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है। (मं. ६)

(३) हिरण्यजः— सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बलवर्धक आदि गुण इसमें हैं। (मं. १, ४, ६)

(४) विद्युत्— आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढानेवाला है। (मं. १)

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियां दूर होती हैं। बच्चेके गलेमें भी शंखकी मणि बांधते हैं, अथवा छोटे शंखको सुवर्णमें जडकर गलेमें आभूषण बनाते हैं। इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

प्रतिसर मणि

कां. ५, सू. ८

(ऋषिः– शुक्रः। देवता– कृत्यादूषणं, मंत्रोक्तदेवताः)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते। वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं प्रतिसरः) यह शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेवाली, (वीर्यवान् वीरः) वीर्ययुक्त वीर (सपत्नहा परिपाणः) शत्रुका नाश करनेवाली और सब प्रकारकी रक्षा करनेवाली, (सुमङ्गलः शूरवीरः) मङ्गल करनेवाली शूरवीरका चिन्हरूप (मणिः वीराय बध्यते) मणि वीर पुरुषके ऊपर बांधी जाती है ॥ १ ॥

भावार्थ— यह मणि (या पदक) शूरवीर पराक्रमी शत्रुनाशक मंगलकारी है, अतः यह वीरके शरीरपर बांधी जाती है ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः । प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥
अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः ॥ ३ ॥
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः । ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः ॥ ४ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥
अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अर्थ—(अयं मणिः) यह मणि (सपत्नहा सुवीरः) शत्रुका नाश करनेवाली, उत्तम वीर (सहस्वान् वाजी) शत्रुवेगको सहन करनेवाली बलवान् (सहमानः उग्रः वीरः) शत्रुपराजय करनेवाली उग्र वीर (कृत्याः दूषयन् एति) घातक प्रयोगोंको विफल करती हुई आती है ॥ २ ॥

(अनेन मणिना इन्द्रः वृत्रं अहन्) इस मणिसे इन्द्रने वृत्रका नाश किया, (अनेन मनीषी असुरान् पराभावयत्) इसीसे संयमी वीरने असुरोंका पराभव किया। (अनेन उभे इमे द्यावापृथिवी अजयत्) इसीसे ये दोनों द्युलोक और पृथिवी लोक जीते, (अनेन चतस्रः प्रदिशः अजयत्) इसीसे चारों दिशाओंको जीता ॥ ३ ॥

(अयं स्राक्त्यः मणिः) यह प्रगति करनेवाली मणि (प्रतीवर्तः प्रतिसरः) शत्रुओंपर हमला करनेवाली और उनपर धावा करनेवाली (ओजस्वान् विमृधः वशी) बलशाली युद्धमें गमन करनेवाली और वशी है, यह (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबकी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४ ॥

(अग्निः तत् आह) अग्निने वह कह दिया, (सोमः तत् उ आह) सोमने भी वह कहा, (बृहस्पतिः सविता इन्द्रः तत्) बृहस्पति, सविता और इन्द्रने भी वही कहा है। (ते पुरोहिताः देवाः) वे अग्रेसर देव (प्रतिसरैः मे कृत्याः प्रतीचीः अजन्तु) हमलोंसे मेरे ऊपर आनेवाले घातक प्रयोग विरुद्ध दिशासे हटा देवें ॥ ५ ॥

(द्यावापृथिवी अन्तः दधे) द्युलोक और पृथ्वी लोकको मैं अपने अन्दर धारण करता हूं (उतः अहः उत सूर्यं) दिनको और सूर्यको भी अन्दर रखता हूं। (ते पुरोहिताः देवाः) वे अग्रेसर देव (प्रतिसरैः मे कृत्याः प्रतीचीः अजन्तु) हमलोंसे मेरे ऊपर होनेवाले घातक प्रयोग विरुद्ध दिशासे हटा देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह मणि बलवान् शत्रुनाशक, उग्र वीर है जो सब शत्रुके घातक प्रयोगोंको दूर करती है ॥ २ ॥

इस मणिसे इन्द्रने वृत्रको मारा, राक्षसोंका पराभव किया, द्यावापृथिवीको जीत लिया और सब दिशाओंमें विजय प्राप्त की ॥ ३ ॥

यह शत्रुपर धावा करनेवाली, बलवान् शत्रुको वश करनेवाली मणि हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

सब देव इस मणिके द्वारा मेरे ऊपर किये घातक प्रयोग हटा देवें ॥ ५ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य और दिनकी शक्तियां मैं अपने अन्दर धारण करता हूं। ये सब मेरे ऊपर किये गए विनाशक प्रयोग हटा देवें ॥ ६ ॥

ये स्राक्त्यं म॒णिं जना॒ वर्मा॑णि कृ॒ण्वते॑ । सूर्य॑ इ॒व दिव॑मा॒रुह्य॒ वि कृ॒त्या बा॑धते व॒शी ॥ ७ ॥
स्राक्त्येन॑ म॒णिन॒ ऋषि॑णेव मनी॒षिणा॑ । अजै॑षं॒ सर्वा॒: पृत॑ना॒ वि मृधो॑ हन्मि र॒क्षस॑: ॥ ८ ॥
या: कृत्या आ॑ङ्गिर॒सीर्या॑: कृ॒त्या: आ॑सु॒रीर्या॑: कृ॒त्या: स्व॒यंकृ॑ता॒ या उ॑ चा॒न्येभि॒राभृ॑ता: ।
उ॒भयी॒स्ता: परा॑ यन्तु परा॒वतो॑ नव॒तिं ना॒व्या॒३ अति॑ ॥ ९ ॥
अ॒स्मै म॒णिं वर्म॑ बध्नन्तु दे॒वा इन्द्रो॒ विष्णु॑: सवि॒ता रु॒द्रो अ॒ग्नि: ।
प्र॒जाप॑ति: परमे॒ष्ठी वि॒राड् वै॑श्वान॒र ऋष॑यश्च॒ सर्वे॑ ॥ १० ॥
उ॒त्तमो अ॒स्योष॑धीनामन॒ड्वान्जग॑तामिव व्या॒घ्र: श्वप॑दामिव ।
यमैच्छा॒मावि॑दाम॒ तं प्र॑ति॒स्पाश॑न॒मन्ति॑तम् ॥ ११ ॥

अर्थ— (ये जनाः स्राक्त्यं मणिं) जो प्रगतिशील इस मणिका (वर्माणि कृण्वते) कवचोंके स्थानपर उपयोग करता है, वह (सूर्यः इव दिवं आरुह्य) सूर्यके समान द्युलोक पर चढ कर (वशी) सबको वशमें करता हुआ (कृत्याः वि बाधते) घातक प्रयोगोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

(मनीषिणा ऋषिणा इव) ज्ञानी ऋषिके समान इस (स्राक्त्येन मणिना) प्रगतिशील मणिके द्वारा (सर्वाः पृतनाः अजैषं) सब शत्रुसेनाओंको पराभूत करता हूं और (रक्षसः मृधः वि हन्मि) राक्षसोंको युद्धोंमें मारता हूं ॥८॥

(याः आङ्गिरसीः कृत्याः) जो आंगिरस घातक प्रयोग हैं, (याः आसुरीः कृत्याः) जो असुरोंके घातक प्रयोग हैं, (याः स्वयंकृताः कृत्याः) जो स्वयं किये हुए घातक प्रयोग हैं, (याः उ अन्येभिः आभृताः) जो दूसरोंके द्वारा किये गये हैं, (उभयीः ताः नवतिं नाव्याः अति) दोनों तरहके वे सब प्रयोग नब्बे नदियोंसे भी परे (परावतः परा यन्तु) दूर स्थानको जावें ॥ ९ ॥

(इन्द्रः विष्णुः, सविता, रुद्रः, अग्निः, प्रजापतिः, परमेष्ठी, विराड्, वैश्वानरः) इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्, और वैश्वानर, ये सब (देवाः) देव तथा (सर्वे च ऋषयः) सब ऋषि (अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु) इस वीरके शरीरपर मणिरूप कवचको बांधें ॥ १० ॥

जिस प्रकार (जगतां अनड्वान् इव) गतिशीलोंमें बैल और (श्वपदां व्याघ्रः इव) श्वापदोंमें बाघ उत्तम होता है। (ओषधीनां उत्तमः असि) उसी प्रकार औषधियोंमें तू उत्तम है, (यं ऐच्छाम) जिसकी हम इच्छा करें (तं प्रतिस्पाशनं) उस प्रतिस्पर्धीको (अन्तितं अविदाम) मरा हुआ पावें ॥ ११ ॥

(यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणिको धारण करता है, (सः इत् व्याघ्रः भवति) वह निःसन्देह बाघके समान (अथो सिंहः अथो वृषा) सिंहके समान अथवा बैलके समान (अथो सपत्नकर्शनः) शत्रुका दमन करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ— जो लोग कवचरूप इस मणिको धारण करते हैं, वे सूर्यके समान तेजस्वी होकर अपने ऊपर किये हुए घातक प्रयोगोंको हटा देते हैं ॥ ७ ॥

इस मणिके द्वारा सब शत्रुसेनाको जीत लिया है और दुष्टोंको मार दिया है ॥ ८ ॥

सब प्रकारके घातक प्रयोग इसके द्वारा दूर होते हैं ॥ ९ ॥

सब देव और ऋषि अपनी शक्तियोंसे इस मणिको मेरे शरीरपर बांधें ॥ १० ॥

यह मणि सबसे उत्तम है। इसके धारण करनेपर जिसको चाहे जीत सकते हैं ॥ ११ ॥

जो इस मणिको धारण करता है वह बलवान् होकर अपने सब शत्रुओंको जीतता है ॥ १२ ॥

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा । अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः । सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् । अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्संजयो मणिः । प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् । इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

अर्थ—(यः इमं मणिं बिभर्ति) जो इस मणिको धारण करता है वह (सर्वाः दिशः विराजति) सब दिशाओंमें शोभित होता है। (एनं अप्सरसः न घ्नन्ति) इसको अप्सराएं नहीं मारतीं और (न गन्धर्वाः न मर्त्याः) न गन्धर्व और नाहि मनुष्य मार सकते हैं ॥ १३ ॥

(कश्यपः त्वां असृजत) कश्यपने तुझे बनाया है, (कश्यपः त्वा समैरयत्) कश्यपने तुझे प्रेरित किया है। (इन्द्रः त्वा मानुषे संश्रेषिणे बिभ्रत्) इन्द्रने तुझे मानवी संग्राममें धारण किया और (अजयत्) विजय प्राप्त की। ऐसे (सहस्रवीर्यं मणिं) सहस्र सामर्थ्यवान् मणिको (देवाः वर्म अकृण्वत) देवोंने कवच रूप बनाया है ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! (यः त्वा कृत्याभिः) जो तुझे मारक प्रयोगोंसे, (यः त्वा दीक्षाभिः) जो तुझे दीक्षाओंसे अथवा (यः त्वा यज्ञैः जिघांसति) जो तुझे यज्ञोंसे मारना चाहता है (तं) उसको (त्वं) तू (शतपर्वणा वज्रेण प्रत्यक् जहि) सैंकडों पर्वोंवाले वज्रसे प्रत्येक स्थानमें मार ॥ १५ ॥

(अयं इत् वै) यह निश्चयसे (प्रतिवर्तः) शत्रुपर हमला करनेवाली (परिपाणः संजयः) रक्षक और विजयी, (सुमंगलः मणिः) उत्तम मंगल करनेवाली मणि है, (प्रजां धनं च रक्षतु) वह हमारी संतान और संपत्तिकी रक्षा करे ॥ १६ ॥

हे शूर इन्द्र ! (नः अधरात् असपत्नं) हमारे नीचेसे अविरोध, (नः उत्तरात् असपत्नं) हमारे ऊपरसे अविरोध, (नः पश्चात् असपत्नं) हमारे पीछेसे अविरोधदर्शक (ज्योतिः पुरः कृधि) ज्योति हमारे सन्मुख कर ॥ १७ ॥

भावार्थ— इस मणिको धारण करनेवाला सब दिशाओंमें विराजता है और इसका वध कोई कर नहीं सकता ॥ १३ ॥

कश्यपके द्वारा इस मणि निर्माण करनेकी कलाका प्रारंभ हुआ। इसको इन्द्रने सबसे पहिले धारण किया था और जगत्में विजय भी प्राप्त की थी ॥ १४ ॥

इस मणिधारणसे सब मारक प्रयोग दूर होते हैं। हर एक प्रकारके मारक प्रयोग इससे हटते हैं ॥ १५ ॥

शत्रुको दूर करके रक्षा करनेवाली यह मणि है। इसको धारण करनेवालेका कल्याण होता है, प्रजा और धनकी रक्षा इससे होती है ॥ १६ ॥

हमारी रक्षा चारों ओरसे होती रहे और हमारे सन्मुख प्रकाशका मार्ग स्थिर रहे ॥ १७ ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः । वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि ॥ १९ ॥

आ मारुक्षद्देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये । इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥ २० ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी मे वर्म) द्यावापृथिवी मेरे लिये कवच धारण करावें, (अहः वर्मः सूर्यः वर्म) दिन और सूर्य मुझे कवच पहनावें । (इन्द्रः च अग्निः च धाता च) इन्द्र, अग्नि और धाता ये तीनों देव प्रत्येकमें (मे वर्म दधातु) मेरे लिये कवच पहनावें ॥ १८ ॥

(सर्वे विश्वे देवाः) सब देव (यत् न अतिविध्यन्ति) जिसका अतिक्रमण कर नहीं सकते (तत् उग्रं बहुलं ऐन्द्राग्नं बृहत् वर्म) वह उग्र, इन्द्र और अग्निका बडा कवच (मे तन्वं सर्वतः त्रायतां) मेरे शरीरकी रक्षा सब ओरसे करे। (यथा) जिससे मैं (जरदष्टिः) वृद्धावस्थातक कार्य करनेवाला और (आयुष्मान् असानि) दीर्घायु होऊं ॥ १९ ॥

यह (देवमणिः) दिव्य मणि (मा मह्यै अ-रिष्ट-तातये) मुझपर बडी सुख समृद्धिके लिये (आरुक्षत्) आरूढ होवे । (इमं मेथिं) इस शत्रुनाशक (तनूपानं त्रिवरूथं) शरीररक्षक और तीनों बलोंके रक्षकमणिको (ओजसे अभि संविशध्वं) बलके लिये अपने शरीरपर बांधो ॥ २० ॥

(अस्मिन् इन्द्रः नृम्णं विदधातु) इसमें इन्द्र बल धारण करे, (देवासः इमं अभि सं विशध्वं) देव इसमें प्रविष्ट हों (यथा) जिससे (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौवर्षकी दीर्घायुके लिये (आयुष्मान् जरदष्टिः असत्) दीर्घजीवी और वृद्धावस्थातक सुदृढ रहे ॥ २१ ॥

(स्वस्तिदा विशांपतिः वृत्रहा) कल्याण करनेवाला, प्रजापालक शत्रुनाशक, (विमृधः वशी) शत्रुओंको वशमें करनेवाला, (जिगीवां अपराजितः सोमपा अभयंकरः) विजयी, अपराजित, सोमरस पीनेवाला, सौम्य (वृषा इन्द्रः) बलवान् इन्द्र (ते मणिं बध्नातु) तेरे शरीरपर मणिको बांधे । (सः सर्वतः दिवा नक्तं) वह सब ओरसे दिनरात (त्वा विश्वतः पातु) तेरी रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ— सब देव इस कवचको धारण करनेमें मेरे सहायक हों । यह दैवी शक्तिसे युक्त हो ॥ १८ ॥

सब दैवी शक्तिसे युक्त इस मणिरूप कवचसे मेरी उत्तम रक्षा होवे और मेरी आयु दीर्घ होवे ॥ १९ ॥

इस दिव्य मणिके शरीरपर धारण करनेसे मेरी रक्षा होवे और मेरे बलकी वृद्धि होवे ॥ २० ॥

इसमें सब देव अपने बलकी स्थापना करें जिससे मुझे शतायुवाला दीर्घजीवन प्राप्त हो ॥ २१ ॥

शूर वीर शत्रुनाशक बलवान् विजयी जेता पुरुष इस मणिको शरीरपर बांधे जिससे उसकी दिनरात रक्षा होवे ॥ २२ ॥

प्रतिसर मणि

मणिधारण

इस सूक्तमें मणिधारणका विषय है। कईयोंका कथन है कि यहां 'मणि' शब्दसे वीर पुरुषका ग्रहण किया जावे। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। इस सूक्तमें कही गई मणि किसी वनस्पतिकी बनायी जाती है और वह शरीरपर धारण की जाती है। संभवतः गलेमें बांधी जाती होगी। जिस प्रकार आजकलके सैनिकोंको विशेष शौर्यवीर्य धैर्यके कार्य करनेपर 'पदक' दिया जाता है और वह पदक छातीपर लटकाया जाता है, उसी प्रकारका यह मणि गलेमें या हाथपर किंवा बाहुपर बांधी जाती है। यह एक शौर्यका अथवा जनहितके कार्य करनेका चिन्ह है। इसके धारण करनेसे वीरकी प्रतिष्ठा बढती है, उसका उत्साह बढता है, और उत्साह बढनेसे वह मनुष्य अधिक पराक्रम करनेके लिये समर्थ होता है।

पहिले किये हुए शौर्यके कार्यके लिये अधिकारी पुरुषोंसे इनाम मिलजानेपर अधिक पराक्रम करनेका साहस मनुष्य करता है, अर्थात् वह इनाम, या पदक, अथवा अन्य प्रकारका सन्मान वीरता बढानेवाला, रक्षाका कार्य करनेवाला, उत्तम वीरता करनेवाला, उग्रता बढानेवाला इत्यादि गुणविशिष्ट है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है। इसी उद्देश्यसे इस सूक्तमें इस मणिके गुण 'सुवीरः, वाजी, उग्र' आदि कहे हैं। अन्य वर्णन भी इसी दृष्टिसे विचार करके जानने योग्य हैं।

एक शंका

कई लोग कहते हैं कि वृक्षकी लकडीसे बनी हुई वह 'मणि' वीरता बढानेवाली, मंगल करनेवाली और बल बढानेवाली कैसे हो सकती है, चूंकि लकडीके मणिमें यह सामर्थ्य नहीं होता, अतः यहांके मणि शब्दसे 'वीर सेनापति' अर्थ लेना योग्य है। यह युक्ति अथवा यह विचार-पद्धति विवेकयुक्त नहीं है। सरकारका सिपाही हाथमें एक विशेष प्रकारका काष्ठ लेकर, और विशेष प्रकारकी पोशाख धारण करके हजारों लोगोंमें जाता है और निडर होकर उनको धमकाता है और विशेष कार्य करता है। यह सामर्थ्य उसके अन्दर उस सरकारी पोशाख और सरकारी चिन्हके काष्ठ-धारणसे ही आता है। वस्तुतः देखा जाय तो उसकी शारीरिक शक्ति अन्य लोगोंके समान ही होती है। परंतु सरकारी चिन्ह धारण करनेसे उसकी शक्ति कई गुना बढ जाती है। इसी प्रकार यह विशेष सन्मानकी मणि जब महाराजाके द्वारा किसी वीर पुरुषको दी जाती या शरीरपर बांधी जाती है, तो यह राजचिन्ह होनेसे इसके धारणसे उस पुरुषका बल और वीर्यका बढ जाना स्वाभाविक है।

इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार पाठक करें और इसका आशय समझें। यह सूक्त इस दृष्टिसे देखनेसे बहुत सरल है अतः प्रत्येक मंत्रका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

शरीरकी रचना

कांड ११, सूक्त ८

(ऋषिः – कौरुपथिः। देवता – अध्यात्मं, मन्युः।)

यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ १ ॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब उत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके उसे अपने घर ले आया, उस समय (के जन्याः आसन्) कौन कन्या–पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ? ॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बडे महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, (ते जन्याः ते वराः आसन्) वे ही कन्यापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥
अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः । इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ६ ॥
ये त आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः । यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥ ७ ॥
कुतः इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताऽजायत ॥ ८ ॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत । ॥ ९ ॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत् । शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है। (सः वै अद्य महत् वदेत्) वही निश्चयसे आज ही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है ॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्ति, (व्यान-उदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान और वाणी तथा मन, (ते वै आकूतिं आवहन्) ये ही निश्चयसे संकल्पशक्तिको धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विनौ) ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव जब (अजाताः आसन्) उत्पन्न हुए नहीं थे, (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे ? ॥५॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे अन्तः आस्तां) बडे संसार सागरमें थे । (कर्मणः तपः ह जज्ञे) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ, (ते तत् ज्येष्ठं उपासते) वे देव उस श्रेष्ठतपकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

(या इतः पूर्वा भूमिः आसीत्) जो इससे पूर्वकी भूमि थी, (यां अद्धातयः इत् विदुः) जिसको बुद्धिमान् लोगोंने जान लिया था, (यः वै तां नामथा विद्यात्) जो उसे अलग अलग नामसे जानता है, (सः पुराणवित् मन्येत) उसे पुराणवित् कहा जाता है ॥ ७ ॥

(कुतः इन्द्रः, कुतः सोमः कुतः अग्निः अजायत) इन्द्र, सोम और अग्नि किससे उत्पन्न हुए ? (त्वष्टा कुतः समभवत्) त्वष्टा किससे उत्पन्न हुआ और (धाता कुतः अजायत) धाता किससे बना ? ॥ ८ ॥

(इन्द्रात् इंद्रः, सोमात् सोमः) इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ । (त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टासे त्वष्टा उत्पन्न हुआ तथा (धातुः धाता अजायत) धातासे धाता पैदा हुआ ॥९॥

(ये ते दश देवाः) जो वे दस देव (पुरा देवेभ्यः जाताः आसन्) पूर्व समयमें देवोंसे उत्पन्न हुए थे, (ते) वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्त्वा) अपने पुत्रोंको स्थान देकर, (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें रहने लगे ? ॥ १० ॥

(यदा केशान् अस्थि स्नाव) जब केशों हड्डियों, स्नायुओं (मांसं मज्जानं आभरत्) मांस और मज्जाको इस देहमें भर दिया, और (शरीरं पादवत् कृत्वा) शरीरको पांववाला बनाया, तब वह भरनेवाला (कं लोकं अनुप्राविशत्) किस लोकमें अनुकूलताके साथ प्रविष्ट हुआ ? ॥ ११ ॥

*

कुतः केशान्कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥ १२ ॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् । सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् । पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत्समदधादृषिः ॥ १४ ॥
शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः । त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत्संधा समदधान्मही ॥ १५ ॥
यत्तच्छरीरमशयत्संधया संहितं महत् । येनेदमद्य रोचते को अस्मिन्वर्णमाभरत् ॥ १६ ॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन्तदजानाद्वधूः सती । ईशा वशस्य या जाया सास्मिन्वर्णमाभरत् ॥ १७ ॥
यदा त्वष्टा व्यतृणत्पिता त्वष्टुर्य उत्तरः । गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥ १९ ॥

अर्थ— (कुतः केशान् कुतः स्नाव) किससे केशोंको और किससे स्नायुओंको (कुतः अस्थीनि आभरत्) कहांसे हड्डियोंको इसने भरा ? (कः अंगा पर्वाणि मज्जानं) किसने अवयवों पर्वों और मज्जाको तथा (मांसं कुतः आभरत्) मांसको कहांसे भर दिया ? ॥ १२ ॥

(ते देवाः संसिचः नाम) वे देव 'संसिच्' अर्थात् सींचनेवाले इस नामके हैं (ये संभारान् समभरन्) जो संभारको भर देते हैं, (सर्वं मर्त्यं संसिच्य) सब मरण धर्मवाले शरीरको सींच कर (देवाः पुरुषं आविशन्) ये देव पुरुषके अन्दर प्रविष्ट हुए हैं ॥ १३ ॥

(कः ऋषिः) कौनसा ऋषि है जिसने (उरू अष्ठीवन्तौ पादौ) जांघों और जानुवाले पावोंको (शिरः हस्तौ मुखं) सिर हाथ और मुखको (पृष्ठीः बर्जह्ये पार्श्वे) पीठ हंसली और पसलियोंको (तत् समदधात्) जोड दिया है ? ॥ १४ ॥

(शिरः हस्तौ अथो मुखं) सिर हाथ और मुख, (जिह्वां ग्रीवाः च कीकसाः) जीभ गर्दन और हड्डियां (तत् सर्वं त्वचा प्रावृत्य) इस सबपर चर्मका वेष्टन करके (मही संधा समदधात्) बडी जोडनेकी शक्तिने जोड दिया है ॥ १५ ॥

(यत् तत् महत् शरीरं) जो यह बडा शरीर (संधया संहितं) संधा नामक जोडनेकी शक्ति द्वारा जोडा गया, (येन इदं अद्य रोचते) जिससे आज यह प्रकाशता है, (अस्मिन् कः वर्ण आभरत्) इसमें किसने वर्णको भर दिया है ? ॥ १६ ॥

(सर्वे देवाः उपाशिक्षन्) सब देवोंने शिक्षा दी, (तत् सती वधूः अजानात्) उसे सती वधूने-अर्थात् बुद्धिने जान लिया । (या वशस्य ईशा जाया) जो सबको वशमें रखनेवालेकी ईश-शक्ति नामक भार्या है (सा अस्मिन् वर्ण आभरत्) उसने इसमें वर्णको भर दिया है ॥ १७ ॥

(यः त्वष्टुः पिता उत्तरः त्वष्टा) जो त्वष्टाका पिता उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है उसने । यदा व्यतृणत्) जब इस शरीरमें छिद्र किये, (मर्त्यं गृहं कृत्वा) तब मरणधर्मवाला घर करके (देवाः पुरुषं आविशन्) देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

(स्वप्नः तन्द्रीः निर्ऋतिः) निद्रा, आलस्य, पापभावना ये (पाप्मनः देवताः वै नाम) पापी मनके देवता हैं तथा (जरा खालत्यं पालित्यं) वृद्धावस्था, खंजापन और श्वेत बाल होना ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् । बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २० ॥
भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः । क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २१ ॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च । शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥ २२ ॥
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् । शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥
आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये । शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥
आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः । चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥ २७ ॥
आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्राः स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥ २८ ॥
अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

अर्थ—(भूतिः च अभूतिः च) ऐश्वर्य और दारिद्र्य, (रातयः याः अरातयः च) दान और कंजूसी, (क्षुधः च सर्वाः तृष्णा च) भूख और सब प्रकारकी तृष्णा (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुई ॥ २१ ॥

(स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं) चोरी, दुराचार और कुटिलता (सत्यं यज्ञः बृहत् यशः) सत्य, यज्ञ और बडा यश (बलं च क्षत्रं ओजः च) बल, क्षात्रतेज और सामर्थ्य ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥२०॥

(निन्दाः च वै अनिन्दाः च) निन्दा और स्तुति (यत् च हन्त इति न इति च) जो हां और ना करते हैं, (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च शरीरं प्राविशत्) श्रद्धा, दक्षता और अश्रद्धा ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

(विद्याः च वै अविद्याः च) विद्या और अविद्याएं (यत् च अन्यत् उपदेश्यं) जो अन्य उपदेश करने योग्य है, वह (ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और ब्रह्मवेद शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(आनन्दाः मोदाः प्रमुदः ये अभीमोदमुदः च) आनन्द, मोद, प्रमोद और हास्यविनोद ये सब (हसः नरिष्टा नृत्तानि) हास्य, चेष्टा और नृत्य (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

(आलापाः च प्रलापाः च ये अभीलापलपः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप, तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) आयोजना, प्रयोग और योग ये (सर्वे शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च या क्षितिः) अभौतिक और भौतिक शक्तियां (व्यानोदानौ वाङ्मनः) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं॥२६॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आशीर्वाद और घोषणा, (संशिषः च विशिषः च याः) संमतियां और विशेष अनुशासन (चित्तानि सर्वे संकल्पाः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना, (त्वरणाः याः कृपणाः च) त्वरा और कृपणता, (गुह्याः शुक्राः स्थूलाः, ताः अपः बीभत्सौ) गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा बीभत्स भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डीकी समिधा बनकर (अष्ट आपः असादयन्) आठ प्रकारके जलोंने सब शरीरकी बनावट की है, (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह । शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥
तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥ ३३ ॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ— (याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवता (या विराट् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुए, (शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरमें वही प्रजापति नामक अधिष्ठाता है ॥ ३० ॥

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुषकी आंख सूर्य (प्राणं वातः वि भेजिरे) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसकी अन्य आत्मा (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्मात् वै विद्वान्) इसलिये निश्चयसे ज्ञानी विद्वान् (पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है । (हि सर्वाः देवताः अस्मिन् आसते) क्योंकि सब देवता इसमें उसी प्रकार निवास करते हैं (इव गावः गोष्ठे) जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं ॥ ३२ ॥

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विष्वङ् विगच्छति) तीन प्रकारसे सर्वत्र जाता है । (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकेन निसेवते) यहां एकसे सेवन करता है ॥ ३३ ॥

(स्तीमासु अप्सु वृद्धासु) गीला करनेवाले जलोंकी वृद्धि होनेपर उसमें (अन्तरा शरीरं हितं) अन्दर शरीर रखा गया है । (तस्मिन् अन्तरा अधि शवः) उसके बीचमें यह शवरूपी शरीर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उसे शव कहते हैं ॥ ३४ ॥

शरीरकी रचना

शरीरकी रचना और योग्यता

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है । उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेष ही विलक्षण है । मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी चरमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं । इस मानवी शरीरकी रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है ।

एक संकल्प था, उसकी कन्या ' संकल्पशक्ति ' थी । इस शक्तिका विवाह होना था । दूसरा आत्मा था उसका मन्यु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिके साथ करनेका निश्चय हुआ । इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें मुखिया था, उसीका नाम ' ज्येष्ठवर ' था, यही ' मन्यु ' भी कहा जाता था । (मंत्र १)

इस महान् अमर्याद संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे । एक पक्ष तप करनेवाले संयमियोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था । कर्म करनेवालोंमें भी एक सकाम कर्म-वाले और दूसरे निष्काम कर्मवाले थे । इसतरह ये दो पक्षके लोग थे । इनमें वधूके पक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे । इनमें ब्रह्म ही सबसे मुखिया वर था । (मं० २)

दस बडे देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस हैं । ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानते हैं उनको ही बडे ब्रह्मका ज्ञान होता है और वे ही उसका उपदेश कर सकते हैं । अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिए अत्यन्त आवश्यक है । (३)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, आंख, कान (क्षितिः = भूमितत्त्वसे उत्पन्न) नाक, वाणी, मन और (अ-क्षितिः = अभौतिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, ये ही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं। और बुरेभले विचार मनुष्य करता रहता है। (मं. ४) इनमें प्राण, अपान, व्यान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करने वाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्म करते हैं। इस कारण इनको तप करनेवाले ऋषि कह सकते हैं। दूसरे देव आंख, नाक, कान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, कर्म करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विश्राम देना पडता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं। अन्न देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं और अन्नके न मिलने पर ये कृश हो जाते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते जाते हैं। प्राणोंके समान ये भूखे रहकर भी तपस्या नहीं कर सकते। आंख, नाक आदिको विश्राम चाहिए, निद्रा चाहिए और भोग भी चाहिए। यहां 'संकल्पशक्ति' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है। इस वधूपक्षके साथ ये आंख, नाक, कान आदि भोगविलासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अपान आदि तपस्वी लोग हैं। उस तरह विवाह करनेके लिए इसशरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और यहां यह विवाह-संस्कार बडे धूमधामसे होता है।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बडे देव इस विश्वमें हैं। इनकी शक्ति बडी भारी है। इन बडे देवोंसे अंशरूप छोटे देव आंख, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं। इनमें कई वधूपक्षवाले और कई वरपक्षवाले हैं। दोनों-का यहां मेल हुआ है। इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है।

ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें जब रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहां विविध रूपमें नहीं उतरे थे, तब वे जहां रहते थे अर्थात् जिस श्रेष्ठ देवके साथ रहते थे उसी श्रेष्ठ देवताका नाम 'ज्येष्ठ ब्रह्म' है। इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बडे विश्वमें कार्य करते थे। परंतु वहांसे इस छोटे विश्वमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास नहीं हुआ था। (मं. ५) अर्थात् यह समय शरीररचनाके पूर्वका है। शरीररचनाके समय सब देवताओंके अंश यहां इस पिण्डदेह-में उतरे और निवास करने लगे, यहां आकर अपना तप शुरु किया और कई अपने कर्म करने लगे। इस तरह यहां-का संसार चलने लगा। इसीका नाम शरीरनिर्मिति है।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया। यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि कर्मसे ही तप होता है, कर्म न किया जाय तो तप बनता ही नहीं, अतः कर्म मुख्य है, श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। (मं. ६) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके विना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्यको शुभ कर्म करने चाहिए।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतिकी भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिए ये दस देव अंशरूपसे यहां आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, आदिके नाम तथा उसके धर्म जो जानता है, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं। (मं. ७) जो पहिले था और जो फिर नया बनता है उसको पुराण (पुरा अपि नवं) कहते हैं।

ये जो देव इस पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहांसे आये हैं? मूल-देव कहां थे और ये कहांसे यहां आये और किस स्थानपर आकर बसे? इसकी खोज करनी चाहिये। (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता इन बडे छोटे अंशरूप जो देव उत्पन्न हुए उनके भी ये ही नाम हैं। जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहां इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। (मं. ९) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वात्माके विश्वरूपी देहमें रहेनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी देहमें रहनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डदेहमें रहेनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र है। इस तरह दस बडे देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रह रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको इस पिण्डदेहमें यथायोग्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। (मं० १०) विश्वमें बडा सूर्य है, उसका अंशरूप पुत्र 'नेत्रेंद्रिय' को नेत्रके स्थानमें रखकर सूर्यदेव अपने द्युलोकके स्थानमें ही विराजता है। इस तरह अन्यान्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये। हरएक देवताके नामका उच्चार करके यहां वारंवार वही बात लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो देवोंके अंशावतारकी कल्पना पुराण-वाङ्मयमें है वह यही है। हरएक देवका अंशरूप अवतार मानव-देहमें (अथवा प्राणीके देहमें) हुआ है। इस अंशरूप

देवको ही अवतार कहा जाता है। बडे देवका एक छोटासा अंश यहां उतरा है और इस पतनशील देहका तारण करनेके लिये यहीं रह रहा है। जब ये अंशावतार यहांसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होजाता है, फिर यह देह उठता नहीं, जलाया जाता है अथवा त्यागा जाता है। देवोंसे पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके चले जानेपर इसे कोई छूता भी नहीं।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहां केश, हड्डियां, स्नायु, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरको हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त किया, तब वे देव कहां गये ? (मं ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहां रहे अथवा यहांसे चले गये ? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करके रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही ये जाते हैं। इस देहमें कौनसा देव कहां रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारसे इस तरह है—

विश्वके देव	शरीरमें देवतांश
परब्रह्म	जीव, आत्मा
सूर्य	नेत्र (आंख)
भूमि	नासिका (नाक)
आपः	रसना (जिव्हा)
अग्नि	वाणी (वाक्) मुख
दिशा (आकाश)	कान
वायु, रुद्र	प्राण, त्वचा
औषधि वनस्पतयः	केश (बाल)
लोहिनीः आपः	रक्त, रुधिर
द्यौः	मस्तक, मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, छाती
पृथ्वी	पांव
पर्वत (पर्ववान्)	पर्व (जोड, संधी)
मृत्यु-आपः	वीर्य (रज)
अश्विनौ	श्वास-उच्छ्वास

इस तरह अनेक देवोंके अंश यहां शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवताओंके अंश अवतार हैं। इसका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तारसे किया है-विशेषतः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, स्नायु, हड्डी मज्जा, पर्व-जोड, मांस कहांसे किससे और किस तरह भर दिए, गये, ऐसा प्रश्न [मंत्र १२ में] पूछा गया है। पूर्वोक्त कोष्टकके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है।

इन देवताओंका नाम ' संसिच् ' है। सम्यक् सिंचन करनेवाले, सींचनेवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले, जीवनमय करनेवाले ये देव हैं। इन सब देवोंने (सर्वं मर्त्यं संसिच्य) सब मरणधर्मवाले अंगोंको अथवा देहको जीवन-धर्मसे युक्त किया है। इसी कार्यके लिए ये सब देव (पुरुषं आविशन्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इस शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रह रहे हैं। (मं. १३)

किस ऋषिने ऊरु, पांव, जानु, सिर, हाथ, मुख, पीठ, पसलियां, जिव्हा, गर्दन, गर्दनकी हड्डियां, त्वचा ये सब भाग बनाये और जोडे ? (मं० १४-१५) इसका उत्तर अगले मंत्रने दिया है कि अन्यान्य देवोंने अपने अपने कार्य पूरे किए, अपने अपने अवयव बना दिए, तब ' संधा ' नामक देवताने इनको जोड दिया और इस प्रकार जोडनेसे यह शरीर अखण्ड एक जैसा बन गया। इसमें एक दूसरे देवताने रंग, शोभा और कान्ति भरी। (मं० १६)

ये सब देव संमिलित हुए, इन देवोंका यहां संमेलन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली। यही सती देवी सब अवयवोंको अपने वशमें रखनेवाले आत्मदेवकी भार्या है। यही भार्या यहांकी कान्ति, शोभा और रमणीयता रखनेवाली है। (मं० १७) इसी वधू और वरकी शादी होनेका वर्णन इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें है।

ये सब देव बडे कारीगर हैं। अतः त्वष्टा नाम कारीगर देवताका है। जो छोटे अंशरूप देव इस शरीरकी कारीगरी करनेके लिए यहाँ आये होते हैं, उनमें जो सबका अधिष्ठाता देव होता है, उसको सब कारीगरोंका कारीगर होनेसे ' त्वष्टा ' कहते हैं। इसका पिता, परमात्मा, सब देवोंका देव, सब कारीगरोंका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह भी बडा ' त्वष्टा ' ही है। उससे शक्ति पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें सुराख करते हैं, तब एक एक सुराखसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थानमें विराजता है। इस (मर्त्यं गृहं कृत्वा) मर्त्य घरकी सुयोग्य रचना करके (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव मनुष्यके देहमें घुसकर अपने अपने स्थानमें रहते हैं। (मं० १८) यह घर वस्तुतः मरनेवाला है, परंतु यहां देवोंकी अमर शक्तियां रहनेके कारण यह मरनेवाला देह अमरसा बना हुआ है। जब देव यहांका यज्ञ समाप्त करके चले जाते हैं, उस समय यह देह मर जाता है। देवोंकी अमर शक्ति इस तरह अनुभवमें आती है।

इस शरीरमें निद्रा-जाग्रति, तन्द्री (सुस्ती)- उद्योगिता, निर्ऋति (पापवासना)- पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा (वृद्धत्व)- तारुण्य, खालित्य (गंजापन)- बहुकेश होना, पालित्य (श्वेतत्व,-कृष्णत्व) बालोंका श्वेत होना और काले

होना, स्तेय (चोरी)- अस्तेय, दुष्कृत-सुकृत, वृजिनं (कुटिलता) सरलता, सत्य-असत्य, यज्ञ अयज्ञ, यश-अयश, बल-बलहीनता, क्षात्र-निर्बलता, ओज (शरीरशक्ति) अशक्ति, भूति (ऐश्वर्य) अभूति (निर्धनता), (राति) दान (अराति) कंजूसी, क्षुधः (भूख)-भूख न लगना, तृष्णा-प्यास न लगना, निन्दा-स्तुति (अनिन्दा), हां और ना करना (हन्त इति न इति), श्रद्धा-अश्रद्धा, दक्षता-अदाक्षिण्य, विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, आनन्द-दुःख, मोद-कष्ट, हास्य-रोदन, नरिष्ट (अनाश)- नाश, नृत्य-अनृत्य, आलाप प्रलाप-मौन, प्रयोग-वियोग, ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए। ये भाव शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।
(मं० १९-२५)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, चक्षु, श्रोत्र, क्षिति, अक्षिति, वाणी, मन ये दस ही शक्तियां शरीरमें रहती हैं और उक्त कार्य करती हैं। (मं. २६)

आशीर्वाद-क्रोधके शब्द, अनुकूल-प्रतिकूल शब्द, संकल्प विकल्प, स्थिरता-चंचलता, त्वरा-शक्ति, कृपणता-उदारता, गुह्य-प्रकट, शुक्र-निर्वीर्य, स्थूल-कृश, बीभत्स-सभ्य ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। (मं० २७-२९) इस यज्ञके हवनके लिए रेतका घी बनाकर उस रेतकी आहुति स्त्रीके गर्भाशयमें डालनी होती है। उस रेतके साथ सब देव शरीरमें घुसते हैं। वीर्यके प्रत्येक अणुमें पिताके संपूर्ण शरीरका अर्थात् उस शरीरके हरएक इंद्रियका सत्त्वांश रहता है और उस सत्त्वांशके साथ पिताके शरीरके देवताका अंश भी रहता है, अथवा देवतांशको ही सत्त्वांश समझ लीजिए। पिताके सदृश पुत्रके शरीरके अंग प्रत्यंग होते हैं, इसका यही कारण है। इस रेतमें शरीरका सब सत्त्व होता है, इसलिए पुत्र बढकर पिता जैसा होता है। इससे रेतका घी बनाकर सब देव शरीरमें किस रीतिसे घूसते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

जो सब देवता हैं और जो पानी है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, ये सब देव रेतके साथ शरीरमें घुसते हैं। (मं० ३०) जल तो प्रवाही पदार्थ-रूपसे गर्भाशयमें रहता है। उसमें वीर्यके साथ सब देवतांश पहुंचते हैं, सब विराट् पुरुषका सत्त्व वहां पहुंचता है, स्वयं ब्रह्मका अंश जीवभावसे वहां पहुंचता है। इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवयव अपने रहने योग्य बना लेते हैं। हरएक स्थानमें योग्य सुराख बनाते हैं और वहां ठीक रीतिसे रहते हैं। ब्रह्मका अंश जीवभावसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमें प्रजापति-संज्ञक जीवात्मा होकर सबका पालन करता है। जब तक यह इस शरीरमें रहता है, तभीतक अन्य देवोंका निवास यहां रहता है। जब यह ब्रह्मांश शरीरको छोड देता है, तब अन्य देव भी छोडकर उसके साथ चले जाते हैं। इसलिए इनका पालक होनेसे शरीरमें यही प्रजापति कहलाता है।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आंख बना है, वायु प्राण बना है। और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रह रहे हैं। यहां सबको उष्णता देनेका कार्य अग्नि कर रही है। (मं. ३१) जब अग्निदेव अपना कार्य स्थगित करते हैं, तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अन्यान्य देव यहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

जैसे गौवें गोशालामें यथाक्रम रहती हैं, उसी तरह सब देवता इस शरीरमें यथाक्रम रहते हैं। जहां जिस देवताने रहना योग्य समझा वहीं वह देवता रहता है। ये सब देवता मानो गौवें हैं और ये सब गौवें इस शरीररूपी गोशाला में रहती हैं। इन सब देवतारूपी गौवोंका एक ग्वाला है, उसका नाम आत्मा है, जो ब्रह्मका अंश यहां रह रहा है। इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म इन्द्र, वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव।

बडी गोशाला--विश्व--विराट्

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है। यह गोशाला अपना शरीर ही है। इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गोरूपी हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका ग्वाला, गोपाल, भगवान् है। वही अंशरूपसे यहां आया है और सबका तारण कर रहा है। इसी कारण इस पुरुषको (इदं ब्रह्म) 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं। क्योंकि सब देवता इसके आधीन रहते हैं।
(मं० ३२)

इस पुरुषमें तीन भाग हैं। एक भागसे यहांके पार्थिव भोग भोगे जाते हैं, दूसरे भागसे दिव्य सुख प्राप्त किया जाता है और तीसरे भागसे दोनोंका संबंध जोडा जाता है। (मं० ३३) ये तीन भाग स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामसे प्रसिद्ध हैं।

जीवात्मा
देवतांश मन, आंख, प्राण, वाणी
आदि देवोंके अंश।

छोटी गोशाला--देह

जब गर्भाशयमें वीर्यबिंदु चला जाता है, तब वहाँ रजमें वह स्थिर होकर गर्भ बढने लगता है। वहां बुद्‌बुदावस्था होनेसे जलमें शवके तैरनेके समान वहां गर्भ बढने लगता है। उसके चारों ओर एक प्रकारका जल रहता है। इस जलसे इसकी रक्षा होती है। इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको शव अथवा (के-शव) उदकमें शवरूप कहा जाता है।
(मं.० ३४)

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है। यह अद्‌भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यहीं देवोंका मन्दिर है और यही सप्त ऋषियोंका आश्रम है। हरएक मनुष्योंको यह प्राप्त हुआ है। इसको अपनी तपस्यासे उन्नत करें और साधक अपना जीवन सफल करें।

अंजन

कांड ४, सूक्त ९

(ऋषिः - भृगुः। देवता - त्रैकाकुदांजनम्।)

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (जीवं त्रायमाणं) जीवकी रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आंखोंके लिए हितकारक (विश्वेभिः देवैः दत्तं) सब देवों द्वारा दिया हुआ, (कं) सुखस्वरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवनके लिए सीमारूप है, ऐसा तू (एहि) यहां आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवां परिपाणं असि) गौओंका रक्षक है (अर्वतां अश्वानां) वेगवान् घोडोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिए तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन! तू (उत परिपाणं असि) निःसंदेह संरक्षक है और (यातुजंभनं) बुराइयोंका नाश करनेवाला है। (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है; (अथो जीव-भोजनं असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-भेषजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्राणीमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिए सहायक, आंखके लिए हितकारी, सब देवोंसे प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वनस्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गोएं और घोडोंके लिए भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उत्तम संरक्षक, बुराइयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करनेवाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः । ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् । नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥
असन्मंत्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् । सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः । वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥
यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (अञ्जन) अञ्जन ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्र सर्पसि) जिसके अंग अंगमें और जोड जोडमें तू व्यापता है, (ततः यक्ष्मं वि बाधसे) वहांसे रोगको हटा देता है, (मध्यमशीः उग्रः इव) मध्य स्थानमें रहनेवाले प्राणके समान तू उग्र है ॥ ४ ॥

हे अञ्जन ! (यः त्वा बिभर्ति) जो तुझे धारण करता है (एनं शपथः न प्राप्नोति) इसको शाप प्राप्त नहीं होता है, (न कृत्या) न हिंसक कर्म और (न अभिशोचनं) न शोक ही उसके पास आता है। (विष्कन्धं एनं न अश्नुते) पीडा इसको नहीं घेरती है ॥ ५ ॥

हे अञ्जन ! तू (असन्मंत्रात्) बुरी मंत्रणासे, (दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नसे (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्मसे, (शमलात्) अशुद्धिसे, (उत दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयतासे, (तस्मात् घोरात् चक्षुषः) उस भयंकर नेत्र विकारसे (नः पाहि) हमारा बचाव कर ॥ ६ ॥

हे अञ्जन ! (इदं विद्वान्) इस बातको जाननेवाला में (सत्यं वक्ष्यामि) सत्य बोलता हूं (न अनृतं) असत्य नहीं । हे (पूरुष) मनुष्य ! (तव अश्वं गां आत्मानं) तेरे घोडे, गौ और आत्माको (अहं सनेयं) में आरोग्य देऊं ॥ ७ ॥

(तक्मा, बलासः, आत् अहिः) ज्वर, कफरोग और उदावर्तरोग अथवा सर्प ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं । (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिककुद् नाम ते पिता) त्रिककुब नामक तेरा पालक है ॥ ८ ॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिककुबसे बना हुआ अञ्जन (हिमवतः परि जातं) हिमयुक्त पर्वतपर उत्पन्न हुआ, वह (सर्वान् यातून् जम्भयत्) सब पीडकोंको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुधान्यः च) सब दुष्टोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ— यह अञ्जन जिन अवयवों और संधियोंमें पहुंचता है वहांसे रोग हटा देता है ॥ ४ ॥

इस अञ्जनको जो लोग लगाते हैं उनको दुष्ट भाषण, शाप, हिंसाके कर्म, अन्य शोकके कारण और अन्य पीडाएं कष्ट नहीं देतीं ॥ ५ ॥

इस अञ्जनसे बुरा विचार, बुरी संमति, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कर्म, अशुद्धता, हृदयके दुष्ट भाव और आंखके भयंकर रोग दूर होते हैं ॥ ६ ॥

में इस अञ्जनके गुण जानता हूं इसलिए सच कहता हूं कि इससे मनुष्य घोडे, गौवें आदिकोंको आरोग्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

ज्वर, क्षय, कफविकार, उदावर्तनामक पेटका रोग अथवा सर्पका विष आदि इस अञ्जनके प्रयोगसे दूर हो जाते हैं । ऊंचे पर्वतोंपरके पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीडाएं दूर होती हैं ॥ ९ ॥

*

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे । उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ— (यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुदोंसे उत्पन्न हुआ हो (यदि यामुनं उच्यसे) तुझे यामुन कहा जाता हो, (ते उभे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कल्याण सूचक हैं। हे अञ्जन ! (ताभ्यां नः पाहि) उनसे हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ— त्रैकाकुद और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कल्याण प्राप्त होता है। इससे हमारी रक्षा होवे ॥ १० ॥

अंजन

वैद्य शास्त्रमें अंजनके मुख्य दो नाम हैं, ' यामुनं ' अथवा, यामुनेयं और सौवीरांजनं, इसके पर्याय शब्द ये हैं- पार्वतेयं, अंजनं, यामुनं, कृष्णं, नादेयं, मेचकं स्रोतोजं, दुष्वप्नदं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, चक्षुष्यं, वारिसंभव, कपोतकं (रा० नि० व. १३)

इन नामोंमें ' पार्वतेयं, यामुनं ' ये दो शब्द हैं येही दो शब्द इस सूक्त के प्रथम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं। अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये —

पर्वतस्य असि । (मं० १
पर्वतानां त्रिककुत्० ते पिता (मं० ८)
त्रैककुदं आंजनं हिमवत परिजातं । (मं० ९)
त्रैकाकुदं (आंजनं) यामुनं उच्यसे । (मं० १०)

पर्वतसे यह अंजन बना है। अंजनका पिता पर्वत है। हिमपर्वतपर यह अंजन हुआ। इसको यामुन कहते हैं। ' अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रंथमें इस प्रकार कहे हैं—

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं
ग्राहकं मधुरं स्निग्धं हिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं
नेत्रदोषहरं वातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च ।
(वै. निघं.)

शीतलं कटु तिक्तं कषायं चक्षुष्यं रसायनं
कफवातविषघ्नं च ॥ (रा. नि. व. १३)

ये वैद्यक ग्रंथमें कहे अञ्जनके गुण हैं इनमेंसे कई गुण इस सूक्तमें कहे हैं, देखिये—

१ ' अक्ष्यं ' (मं. १) आंखोंके लिए हितकारी, ' घोरात् चक्षुषः पाहि ' (मं. ६) आंखके भयंकर रोगसे बचाता है। यहा भाव वैद्यक ग्रंथमें ' चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं ' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (मं. ८ में) तक्मा (क्षय ज्वर), बलास (कफ, श्वास, और अहि (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यही बात उक्त वैद्यक ग्रंथके वर्णनसे ' हिक्का (श्वास), क्षय (क्षयरोग), विष (विषबाधा) का नाश करनेवाला ' इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अंदरके अवयवोंपर भी इस अंजनका प्रभाव पडता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, वह भी वैद्यक ग्रंथमें ' कफपित्तवातघ्नं ' अर्थात् वात पित्त कफके दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अंजनसे होता है इसलिए सर्व रोग दूर करनेवाला यह अंजन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मंत्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिए। यह सूक्त सुबोध है और विषय उपयोगी है। इसलिए वैद्योंको इस अंजनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसको प्रकट करना चाहिए।

पाशोंसे मुक्तता

कांड ६, सूक्त ११२

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – अग्निः ।)

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥
उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥
येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व ॥ ३ ॥

अर्थ – हे अग्ने (अयं ज्येष्ठं मा वधीत्) यह बडे भाईका वध न करे। (एषां मूलबर्हणात् एनं परिपाहि) इनके मूलविच्छेदसे इसकी रक्षा कर। (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे। (विश्वे देवाः तुभ्यं अनुजानन्तु) सब देव तुझे अनुमति देवें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (त्वं पाशान् उन्मुञ्च) तू पाशोंको खोल (येभिः त्रिभिः एषां त्रयः उत्सिताः आसन्) जिन तीनोंसे इनके तीन बन्धनमें पडे हैं। (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे। (पितापुत्रौ मातरं सर्वान् मुञ्च) पिता पुत्र और माता इन सबको छोड दे ॥ २ ॥

(येभिः पाशैः परिवित्तः विबद्धः) जिन पाशोंसे बडे भाईके पूर्व विवाह करनेवाला बांधा गया है, (अंगे अंगे आर्पितः उत्सितः च) हरएक अंगमें जकडा और बांधा है, (ते विमुच्यन्तां) वे तेरे पाश खुल जांय (हि विमुचः सन्ति) क्योंकि वे खुले हुए हैं। हे (पूषन्) पोषक देव। (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघात करनेवाला अंदर विद्यमान पाप दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ – छोटा भाई बडे भाईके नाशके लिए प्रवृत्त न होवे, किसीका मूल उच्छिन्न न होवे। रोग जडसे दूर हों और सब देवतोंकी अनुकूलता होवे ॥ १ ॥

सब बंधनवाले पाश तोड दे। तीन गुणोंसे तीन लोग बांधे गए हैं। रोग जडसे दूर हों और माता पिता और पुत्र कष्टोंसे बचें ॥ २ ॥

जिन कमजोरियोंके कारण बडे भाईके पूर्व ही छोटा भाई शादी करता है, वे लोभके पाश हरएक अवयवमें बांधे गए हैं। वे पाश खुले हों और गर्भघात आदि प्रकारके सब दोष दूर हों ॥ ३ ॥

गृह सुख बढानेके उत्तम आदेश इस सूक्तमें हैं।

दो देवोंका सहवास

कांड ७, सूक्त २९,

(ऋषिः - मेधातिथिः । देवता - अग्नाविष्णू ।)

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥
अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्नाविष्णू) अग्नि और विष्णु । (वां तत् महि महित्वं नाम) तुम दोनोंका वह बडा महत्त्वपूर्ण यश है, जो तुम दोनों (गुह्यस्य घृतस्य पाथः) गुह्य घृतका पान करते हो । तथा (दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ) प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको धारण करते हो और (वां जिह्वा घृतं प्रति आ चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिव्हा प्रत्येक यज्ञमें उस रसको प्राप्त करती है ॥ १ ॥

हे अग्नि और विष्णु ! (वां धाम महि प्रियं) तुम्हारा स्थान बडा प्रिय है । उसको तुम (घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः) घीके गुह्य रसका सेवन करते हुए प्राप्त करते हो । (दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ) प्रत्येक घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (वां जिह्वा घृतं प्रति उत् चरण्यात्) तुम दोनोंकी जिव्हा उस घृतको प्राप्त करती है ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि और विष्णु ये दो देव एक स्थानमें रहते हैं, उन दोनोंकी बडी भारी महिमा है । वे दोनों गुप्त रीतिसे गुहामें बैठकर घीका भक्षण करते हैं, प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको रखते हैं और अपनी जिव्हासे गुह्य घीका स्वाद लेते हैं ॥ १ ॥

इन दोनों देवोंका एक ही बडा भारी प्रिय स्थान है । ये दोनों घीके गुह्य रसका स्वाद लेते हैं । हरएक घरमें स्तुतिसे बढते हैं और गुह्य घीके पास ही इनकी जिव्हा पहुंचती है ॥ २ ॥

दो देवोंका सहवास

इस सूक्तमें एक स्थानमें रहनेवाले दो देव हैं ऐसा कहा है । एक अग्नि और दूसरा विष्णु है । ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमेश्वरका वर्णन इसके पूर्व हो चुका है । ' विष्णु ' शब्दका दूसरा अर्थ ' सूर्य ' है, सूर्य, भी बहुतही बडा है और इस ग्रहमालाका आधार तथा कर्ता धर्ता है । उसकी अपेक्षा अग्नि बहुतही अल्प और छोटा है । सूर्यके साथ हमारे अग्निकी तुलना की जाय तो दावानलके साथ चिनगारीकी ही कल्पना हो सकती है । अग्नि उत्पन्न होती है, अर्थात् इसका जन्म होता है यह बात हम देखते हैं, जन्मके बाद वह कुछ समय जलती रहती है और पश्चात् बुझ जाती है । ठीक यह बात जीवात्माके जन्म होने, उसकी आयुसमाप्तितक जीवित रहने और पश्चात् मरनेके साथ तुलना करके देखिये, तो पता लग जायगा कि यदि ' विष्णु ' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमात्माका ग्रहण किया जावे, तो यहां ' अग्नि ' शब्दसे छोटे जीवात्माका ग्रहण किया जा सकता है । उत्पन्न होना, जीवित रहना और बुझ जाना ये तीन बातें जैसी अग्निमें हैं वैसी ही जीवात्मामें हैं और उसके साथ सदा रहनेवाला विश्वव्यापक परमात्मा है । यह बात वेदमें अन्यत्र भी कही है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते । (ऋ. १।१६४।२०)

'दो सुंदर पंखवाले पक्षी साथ रहते हैं, परस्पर मित्र हैं, ये दोनों एक ही वृक्षपर रहते हैं।'

यह जो दो पक्षी कहे हैं, उनमेंसे एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है। इसी प्रकार साथ रहनेवाले दो देव, एक अग्नि और दूसरा सूर्य, अथवा एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा है। यहां अग्निका जीवात्माके किन गुणोंके साथ साधर्म्य है वह ऊपर कहा है। देहके साथ वारंवार संबंधित होनेके कारण पूर्वोक्त तीनों धर्म जीवात्माके ऊपर आरोपित होते हैं, क्योंकि जीवात्मा न तो जन्मती है और न मरती है। शरीरके ये धर्म उसपर लगाये जाते हैं। ये दोनों—

दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ (मं. १)

'घर घरमें सात रत्नोंको धारण करते हैं।' ये सात रत्न यहां प्रत्येक जीवात्माके प्रत्येक घरमें हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि ये सात रत्न हैं, इसीसे साधारणतः सब प्राणी और विशेषतः मनुष्य सुशोभित होते हैं, इनमें रमणीयता है। ये मनुष्यके आभूषण हैं अतः ये रत्न ही हैं। जो जेवरोंमें पहने जाते हैं वे वस्तुतः रत्न नहीं हैं; ये आत्माके सात रत्न ठीक रहे तोही जेवर और भूषण शरीरको शोभा देते हैं, अन्यथा जेवरोंसे कोई शोभा नहीं होती। पाठक प्रत्येक शरीरमें रखे हुए इन सात रत्नोंको देखें। यजुर्वेदमें कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः० ॥ (यजु० ३४।५५)

'प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि रखे हैं, ये सात इस सभास्थानकी गलती न करते हुए रक्षा करते हैं, ये सात नदियां सोनेवाले इस जीवात्माके लोकमें जाती हैं।' इत्यादि वर्णन भी इन्हीं इंद्रियोंका ही वर्णन है, सात रत्न, सात ऋषि, सात रक्षक, सात जलप्रवाह इत्यादि वर्णन इन्हीं जीवात्माकी सात शक्तियोंका है। ये सात रत्न जबतक यह जीवात्मारूपी अग्नि इस शरीर रूपी हवन कुण्डमें जलता रहता है तबतक रहते हैं, जब यह बुझ जाता है, तब ये रत्न भी शोभा देना बंद कर देते हैं।

गुह्यस्य घृतस्य पाथः।। (मं. १)
घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः। (मं. २)
धां जिह्वा घृतं प्रति आ (उत्) चरण्यात्।
(मं. १-२)

'ये दोनों गुह्य घी पीते हैं। इनकी जिह्वा इस घीकी ओर जाती है।' यह गुह्य घृत कौनसा है? यह एक विचारणीय बात है। गुहामें जो होता है वह 'गुह्य' कहलाता है। यहां 'गुहा' शब्दसे 'बुद्धि' अथवा 'अन्तःकरण' विवक्षित है। इसमें जो इंद्रियरूपी गौसे दुहे हुए दूधका बनाया हुआ घी होता है, वह गुह्य किंवा गुप्त घी है। यह घी इस बुद्धिमें अथवा हृदयकंदरामें रखा रहता है और इसका ये गुप्त रीतिसे सेवन करते हैं। यह बात अब पाठकोंको विदित हो गई होगी, कि इस रूपकका क्या तात्पर्य है।

वां महि प्रियं धाम। (मं. २)

'इनका स्थान बडा है और प्रिय है।' क्योंकि यहां प्रेम भरा रहता है। सबको यह प्यारा है। सब इसकी ही प्राप्तिके लिए यत्न करते हैं। ऐसा इनका स्थान है तथा—

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ। (मं. २)

'घर घरमे उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं।' अर्थात् हरएक शरीरमें जहां जहां उत्तम ईश्वरकी स्तुति होती है, जहां उसके शुभ गुणोंका गायन होता है, वहां एक तो परमेश्वर भावकी वृद्धि होती है, और उन गुणोंकी धारणासे जीवात्माकी शक्ति बढती है यह तो जीवात्माकी वृद्धिका उपाय ही है।

यहां शरीरके लिए 'दम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस शरीरमें इंद्रियोंका शमन होता है और मनोवृत्तियोंका दमन होता है उसका नाम 'दम' है। दो प्रकारके शरीर हैं। एकसे भोगवृत्ति बढती है और दूसरेसे दम वृत्ति बढाई जाती है। जिससे दमवृत्ति बढती है उसका नाम यहां 'दम' रखा है और इस दमसे 'सप्त रत्न' भी उत्तम तेजःपुंज स्थितिमें रहते हैं और वहां ही आत्माकी शक्ति विकसित होती है।

ब्रह्मचर्य

कांड ११, सूक्त ५

(ऋषिः - ब्रह्मा। देवता - ब्रह्मचारी।)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥
ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥
इयं समित्पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

अर्थ— ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिए (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकको धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीका अनुसरण करते हैं। (त्रयः त्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्-सहस्राः) छः हजार देव हैं। (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अंतः गर्भं) अपने अंदर धारण करता है। उस ब्रह्मचारीको अपने (उदरे) उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रितक (बिभर्ति) रखता है, जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है, तब उसको (द्रष्टुं) देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयन्ति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं ॥ ३ ॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पहिली (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है। इस (समिधा) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी (पृणाति) पूर्णता करता है। (समिधा, मेखलया, श्रमेण, तपसा) समिधा, मेखला, श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा (ब्रह्मचारी) वह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— (१) पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यन्त जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है. (२) इससे उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं, (३) इस प्रकार वह पृथिवी और द्युलोकको अपने तपसे धारण करता है, और (४) उसी तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर आदि सब ब्रह्मचारीके सहायक होते हैं। और ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका सहायक बनता है ॥ २ ॥

(१) जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है, वह उसको अपने अंदर ही प्रविष्ट करता है। (२) मानो वह शिष्य उस गुरुके पेटमें तीन-रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। (३) जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सम्मान सभी विद्वान् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी पूर्णता करता है। तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है ॥ ४ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ— (ब्रह्मणः पूर्वः) ज्ञानके पूर्व (ब्रह्मचारी जातः) ब्रह्मचारी होता है । (घर्मं वसानः) उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है । (तस्मात्) उस ब्रह्मचारीसे (ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म) ब्रह्म-संबंधी श्रेष्ठ ज्ञान (जातं) प्रसिद्ध होता है । तथा (सर्वे देवाः अमृतेन साकं) सब देव अमृतके साथ होते हैं ॥ ५ ॥

(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ-श्मश्रुः) बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है । (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्र ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केन्द्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म) ज्ञान, (अपः) कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इंद्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

(इमे) ये (उर्वी गंभीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने (ततक्ष) बनाये हैं । (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है । इसलिए (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर (देवाः संमनसो भवन्ति) सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— ज्ञान प्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है । ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है । (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्मजागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है और वारंवार उनमें चेतना बढाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

जो एक समय आचार्यके पास विद्यामाताके गर्भमें रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राजाके धर्म और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रु निवारक वीर बनकर शत्रु-ओंका नाश करता है ॥ ७ ॥

आचार्य ही पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, मानो वह अपने शिष्यके लिए यह लोक ही बना देता है । ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है । अतः उस ब्रह्मचारीमें सब देवता रहते हैं ॥ ८ ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥ १० ॥
अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥
अभिक्रन्दन्स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १२ ॥
अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥ १३ ॥

अर्थ— (प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोककी (भिक्षां आजभार) भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनकी दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है। क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (अर्पिताः) स्थापित हैं॥९॥

(अन्यः अर्वाक्) एक पास है और (अन्यः दिवः पृष्ठात् परः) दूसरा द्युलोकके पृष्ठ भागसे परे है। ये दोनों (निधी) कोश (ब्राह्मणस्य गुहा) ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। (तौ) उन दोनों कोशोंकी (ब्रह्मचारी तपसा) ब्रह्मचारी अपने तपसे (रक्षति) रक्षा करता है। तथा वही (विद्वान्) विद्वान् ब्रह्मचारी (तत् केवलं ब्रह्म) वह केवल ब्रह्मज्ञान (कृणुते) विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

(अर्वाक् अन्यः) इधर एक है और (इतः पृथिव्यः अन्यः) इस पृथिवीसे दूर दूसरा है। ये (अपि) दोनों अग्नि (इमे अंतरा नभसी) इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें (समेतः) मिलते हैं। (तयोः दृढाः रश्मयः) उनकी बलवान् किरणें (अधि श्रयन्ते) फैलती हैं। (ब्रह्मचारी तपसा) ब्रह्मचारी तपसे (तान् आतिष्ठति) उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है ॥ ११ ॥

(अभिक्रंदन् स्तनयन्) गर्जना करनेवाला (अरुणः शितिंगः) भूरे और काले रंगसे युक्त (बृहत् शेपः) बडा प्रभावशाली (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जानेवाला मेघ (भूमौ अनु जभार) भूमिका योग्य पोषण करता है। तथा (सानौ पृथिव्यां) पहाड और भूमि पर (रेतः सिञ्चति) जलकी वृष्टि करता है। (तेन) उससे (चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) चारों दिशायें जीवित रहती हैं ॥ १२ ॥

(अग्ने, सूर्ये, चन्द्रमसि, वायौ) अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु (अप्सु) जल इनमें (ब्रह्मचारी समिधं आ दधाति) ब्रह्मचारी समिधा डालता है। (तासां अर्चींषि पृथक्) उनके तेज पृथक् पृथक् (अभ्रे) मेघोंमें (चरन्ति) संचार करते हैं। (तासां) उनसे (वर्षं) वृष्टि (आपः) जल और (आज्यं) घी और (पुरुषः) पुरुषकी उत्पत्ति होती है ॥ १३ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवीलोकको प्राप्त किया। इन दो लोकोंमें ही सब अन्य भुवन स्थापित हुए हैं, दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उक्त दोनों लोकोंको दो समिधायें बनाकर ज्ञान यज्ञ द्वारा उपासना करता है॥ ९ ॥

स्थूल शरीर और मन ये दो कोश मनुष्यमें हैं इन दोनों की रक्षा करता हुआ ब्रह्मचारी ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

दो अग्नि हैं जो इस त्रिलोकीमें कार्य कर रहे हैं, उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥

मेघ ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की शांति करता है। ब्रह्मचारी उससे यह बोध लेवे ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारीका अग्निहोत्रके समय अग्निमें आहुति डालना जगत्को तृप्त करना है ॥ १३ ॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः । जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत्प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान्मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥
आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः । प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

अर्थ — (आचार्यः मृत्युः, वरुणः, सोमः, ओषधयः, पयः) आचार्य ही मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्त्विक भाव हैं, वे (जीमूताः आसन्) मेघरूप हैं, क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) वह स्वत्व स्थिर है ॥ १४ ॥

(अमा) एकत्व, सहवास (केवल घृतं कुणुते) केवल शुद्ध तेज उत्पन्न करता है। (आचार्यः वरुणः भूत्वा) आचार्य वरुण बनकर (प्रजा-पतौ) प्रजापालकके विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको (मित्रः ब्रह्मचारी) मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः)अपनी आत्मशक्तिसे (अधि प्रायच्छत्) देता है ॥ १५ ॥

(आचार्यः ब्रह्मचारी) आचार्यको ब्रह्मचारी होना चाहिए, (प्रजापतिः ब्रह्मचारी) प्रजापालकको भी ब्रह्मचारी होना चाहिए । इस प्रकारका (प्रजापतिः) प्रजापति (विराजति) विशेष शोभता है । जो (वशी) संयमी (वि-राट्) राजा होता है, वही (इन्द्रः अभवत्) इंद्र कहलाता है ॥ १६ ॥

(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्यरूप तपके साधनसे (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है । (आचार्यः) आचार्य भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारीकी ही (इच्छति) इच्छा करता है ॥ १७ ॥

(कन्या ब्रह्मचर्येण) कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् (युवानं पतिं) तरुण पतिको (विंदते) प्राप्त करती है। (अनड्वान्) बैल और (अश्वः) घोडा भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य पालन करनेसे ही (घासं जिगीर्षति) घास खाता है ॥ १८ ॥

(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्यरूप तपसे (देवाः) सब देवोंने (मृत्युं) मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया । (इन्द्रः ह ब्रह्मचर्येण) इन्द्र ब्रह्मचर्यसे ही (देवेभ्यः) देवोंको (स्वः) तेज (आभरत्) देता है ॥ १९ ॥

भावार्थ — आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके सत्त्वकी उन्नति करता है ॥ १४ ॥

गुरुशिष्यके सहवाससे ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है । आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये, सब राज्याधिकारी–प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये । जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वे ही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वे ही इंद्र कहलायेंगे ॥ १६ ॥

राजा राजप्रबंध द्वारा सब लोगोंसे ब्रह्मचर्य पालन कराके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारी की इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है । बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसलिये घास खाकर उसे पचा सकते हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं । तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इंद्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है ॥ १९ ॥

*

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः । संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये । अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥
पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति । तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥
देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद्ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

अर्थ— (ओषधयः वनस्पतिः) औषधियां, वनस्पतियां, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, (अहोरात्रे, भूतं) अहोरात्र भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारीसे (जाताः) हुए हैं ॥ २० ॥

(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्याः ग्राम्याश्च) आरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः पशवः) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्याः) आकाशमें संचार करनेवाले जो (पक्षिणः) पक्षी हैं, वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (जाताः) हो गए हैं ॥ २१ ॥

(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ (पृथक्) पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं । (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें स्थित हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

(देवानां) देवोंका (एतत्) यह (परि-पूतं) उत्साह देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोच-मानं) तेज (चरति) चलता है । उससे (ब्राह्मणं) ब्रह्मसंबंधी (ज्येष्ठं ब्रह्म जातं) श्रेष्ठ ज्ञान हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर मनके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाला ज्ञान (ब्रह्मचारी बिभर्ति) ब्रह्मचारी धारण करता है । इसलिये (तस्मिन् विश्वे देवाः) उसमें सब देव (अधि समोताः) रह रहे हैं । (प्राणापानौ, व्यानं, वाचं मनः, हृदयं, ब्रह्म) वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान (आत्) और (मेधा) मेधा (जनयन्) प्रकट करता है । इसलिये हे ब्रह्मचारी ! (अस्मासु) हम सबमें (चक्षुः श्रोत्रं, यशः, अन्नं) चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट कर ॥ २४-२५ ॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ! (तानि) उनके विषयमें (कल्पत्) योजना करता है । (सलिलस्य पृष्ठे) जलके समीप तप करता है । इस (समुद्रे) ज्ञान समुद्रमें (तप्यमानः) तप्त होनेवाला यह ब्रह्मचारी (सः स्नातः) जब स्नातक हो जाता है तब (बभ्रुः पिंगलः) अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण (सः पृथिव्यां) वह इस पृथिवीपर (बहु रोचते) बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है ॥ २० ॥
सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं ॥ २१ ॥
ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५ ॥
ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मचर्य

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्तव्यकर्म व्यक्त कर रहा है। ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बडा होनेके लिये (चारी) पुरुषार्थ करता रहता है। ' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ- वृद्धि, महत्त्व, बडप्पन, ज्ञान, अमृत आदि है। ' चारी ' शब्दका भाव-आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं-' अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुरुषार्थ करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिए परम पुरुषार्थ करना।' यह मुख्य भाव ' ब्रह्मचारी ' शब्दमें है। उक्त पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शरीरमें वीर्य स्थिर होनेसे ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये ब्रह्मचारीको वीर्यरक्षण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि ' ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति।' अर्थात् ' अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोकको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है।' पृथिवीसे लेकर द्युलोक पर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है। यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी शक्ति बडी होनेके कारण हमारा ही घात होगा। परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; हम उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तब हम सबका अभ्युदय हो सकता है। यही भाव इस मंत्र भागमें कहा है।

जब ब्रह्मचारी सृष्टिका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबको आधार देती है; यह देखकर, वह निराश्रितोंको आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है। जलदेवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चसे नीच स्थानमें पहुंचता है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके घमंडमें रहना उचित नहीं है, इसलिये में नीचसे नीच अवस्थामें रहनेवाले पतित जनोंके उद्धारके लिए तथा उनकी आत्माओंको शांत करनेके लिए अवश्य यत्न करूंगा। अग्निदेवताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंको प्रकाश देनेके लिए मुझे इस प्रकार जलना चाहिये और उत्पन्न होना चाहिए। वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, में भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता करूंगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, में भी ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित होऊंगा। चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभाका निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, में भी इसी प्रकार अमृतरूपी शांतिका स्रोत बनूंगा। इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्न्यादि देव उसके लिए आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसको उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन लिए है उसका यही तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनको धारण करनेका यत्न करता है। इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंको ही अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका उस ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण बढानेका भाव बढ जाता है। हरएक मनुष्यकी उन्नतिका यही वैदिक मार्ग है। आजकल दोष देखनेका ही भाव बढ गया है, इसलिए प्रतिदिन मनुष्य गिरता ही जाता है। इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक धर्मके मार्गमें ही आकर सब जगत्में शांतिस्थापना द्वारा अपनी अपनी आत्माकी शांति बढानी चाहिए। शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि—

यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि। (शत० ब्रा० ६।३।२३)

अर्थात् ' जो देव करते आये हैं वह में करूंगा।' यही बात उक्त स्थानपर कही है। इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका यत्न करता है। इस तपस्यासे देव भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर उसके साथ अथवा वास्तविक रीतिसे उसके शरीरमें ही निवास करने लगते हैं। इसका वर्णन आगेके मंत्र भागमें है—

देवताओंकी अनुकूलता

जो ब्रह्मचारी उक्त देवताओंका निरीक्षण और गुणग्रहण करता है, उसमें अंशरूपसे निवास करनेवाले देवता उसके

साथ अनुकूल बनकर रहते हैं। मंत्र कहता है कि —

' तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ति। ' अर्थात् ' उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं। ' उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास निम्न प्रकारसे होता है, देखिये—

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्।
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्।
६ चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्।
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

(ऐतरेय उ० २।४)

(१) ' अग्नि वक्तृत्वका इंद्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षुका रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया, (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानमें रहने लगीं, (५) औषधि वनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपानका रूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगा। '

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चंद्र, मृत्यु, आप इन आठ देवताओंका निवास उक्त आठ स्थानमें हुआ है। इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहरके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है, तथा इसी आत्माकी शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायन्त देवाः देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३
२ ये त आसन् दश जाता देवाः देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥
७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणः पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥
८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

(अथर्व ११।८)

' (१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हुए। जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा, वह ही (अद्य) आज (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा (२) जो पहिले देवोंसे दस देव हुए थे, पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं? (३) सिंचन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामग्रीके एकत्रित करते हैं। (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (त्वष्टुः पिता) कारीगर जीवका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) हड्डियोंकी समिधायें बनाकर, रेतका घी बनाकर (अष्ट आपः) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवता हैं, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट् है, ब्रह्म ही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ। (७) सूर्य चक्षु बना; वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इसके इतर आत्माका देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इसलिये इस पुरुषको (विद्वान्) जाननेवाला ज्ञानी (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं उसी प्रकार इकट्ठे रहते हैं, कि जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु, आदि देवता इस शरीरमें निवास करती हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका

थोडा थोडा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका "अंशावतरण" है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशको जानता है, वह अपनी आत्माकी शक्ति जान लेता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभमनुसंविदुः॥
(अथर्व. १०।७।१७)

"जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानते हैं, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं, वे स्कंभको उत्तम प्रकार जानते हैं।"

अपने शरीरके अंदर ब्रह्मका अनुभव करनेका यह फल है। परमात्माके सक्षात्कारका यही मार्ग है। इसलिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंका अधिष्ठाता जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिए। पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्के वचनसें प्रत्येक देवताके अंशका स्थान समझना चाहिए।

बाहरके सृष्टिमें अग्नि, वायु आदि देवता विशाल रूपमें हैं। उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं और इस प्रकार यह जीवात्माका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि ये सब देवता मनके साथ हैं, वा मनविहीन हैं? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रने ही दिया है. कि 'तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति' अर्थात् 'उस ब्रह्मचारीमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं।" इस मंत्रके 'सं-मनसः देवाः' ये दो शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं। इनका अर्थ देखिये—

सं = मिले हुए, अनुकूल, मनसः = मनसे युक्त,

देवाः - अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश।

"जो ब्रह्मचारी सृष्टयंतर्गत अग्नि वायु, आदि विशाल देवताओंका निरीक्षण और अनुकरण करके उपदेश लेता है, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है; उस ब्रह्मचारीके अन्दर वेही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारीके मनके साथ अपना मन मिलाकर उक्त देव निवास करते हैं।"

प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारी के अनुकूल होकर रहता है। इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियशक्तियां उसके वशमें रहती हैं, इतना ही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न ही होता है अर्थात् प्रत्यक इंद्रिय स्थानीय उस देवताके अंशके भी मन भिन्न भिन्न होते हैं। आंख, नाक, कान, मुख, हृदय, नाभी, शिश्न, हाथ, पांव आदि प्रत्येक इन्द्रिय और अवयवका मन विभिन्न है, परंतु सबके विभिन्न मनोंको अपने-आधीन रखनेवाला "जीवात्माका मुख्य मन" होता है। ब्रह्मचर्यके नियमानुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है। उसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे व्यवहार करता है उस स्वचछंद पुरुषके इंद्रियस्थानीय देवता गण भी स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे अंतमें इस मनुष्यका ही नाश होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि वह नियमानुसार आचरण करके इन्द्रियस्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहे।

देवताओंका साम्राज्य

अपने शरीरमें इस प्रकार 'देवताओंका साम्राज्य' समझना और सब देवताओंका अधिष्ठाता मैं हूं इस विचारको अपने मनमें दृढ करना चाहिये। अपनी मनकी शक्ति शरीरकी प्रत्येक इंद्रियमें जाकर वहां कैसा विलक्षण कार्य करती है, वह विचारपूर्वक देखनेसे अपनी आत्मशक्तिका अनुभव हरएकको प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवसे इंद्रियशमन और इंद्रियदमन साध्य होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंगका बनी है। इन देवताओंमें भूस्थानीय, अंतरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं। सर्व देवताओंका निवास शरीरमें है, ऐसा कहनेसे उक्त त्रिलोकीका ही निवास इस शरीरमें है, यह बात स्पष्ट ही है। क्योंकि भुलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहते हैं। जब उक्त तीनों लोकोंके एक एक पदार्थका अंश शरीरमें आता है, तो मानो त्रैलोक्यका ही थोडा अंश लेकर यह मानव देह बनाया गया है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न स्थानमें दिये कोष्टकसे हो सकता है—

त्रिलोकीका कोष्टक

बाह्य स्थानका त्रिलोक (समष्टि)

लोक	देवता		मनुष्यकी इन्द्रियें
स्वर्गलोक [द्युलोक स्वः]	द्यौ सूर्य दिशा अग्नि	— सिर —	सिर आंख कान मुख, वागिन्द्रिय
भुवर्लोक [अंतरिक्षलोक भुवः]	इन्द्र चन्द्र वायु और मरुत्	कंठ, फेंफडे, हृदय	आत्मा मन मुख्य और गौण प्राण
भूलोक [पृथिवीलोक भूः]	मृत्यु आप, जल भूमि	नाभि-शिश्न, पांव	अपान रेत, वीर्य पांव

शरीरमें त्रिलोक (व्यष्टि)

इस प्रकार बाहरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी त्रैलोक्यका आधार है। देखिये —' स दाधार पृथिवीं दिवं च ' अर्थात् वह पूर्वोक्त संयमी ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकको भी आधार देता है। इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग अनुभवकी बात ही बता रहा है। यहां किसी अलंकारकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे मंत्रोक्त बातको अपने अंदर ही देख सकता है। केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं है, प्रत्यक्ष होनेवाली बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये। जो रीति यहां बताई है, उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही मंत्रोक्त बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

अब मंत्रका अंतिम भाग कहता है ' स आचार्यं तपसा पिपर्ति। ' अर्थात् उक्त प्रकारका ' ब्रह्मचारी अपने तपसे अपने आचार्यका पालन और पूर्णत्व करता है। ' जो तप ब्रह्मचारीको करना है उसका स्वरूप मंत्रके तीन चरणोंमें कहा ही है। सृष्टिके अग्नि आदि देवताओंका निरीक्षण करना, उनको अपने अनुकूल बनाना, उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करना तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहते हैं, उनको अपने मनके अनुकूल चलाना, यह सब तप ही है। इस प्रकारका तप जो ब्रह्मचारी करता है, वही आचार्यको परिपूर्ण बनाता है। अर्थात् नियम विरुद्ध आचरण करनेवाले विद्यार्थी गुरुजीकी पूर्णता तो क्या करेंगे, वे उनमें न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं, यह बात स्पष्ट ही है।

उक्त मंत्रभागमें ' पिपर्ति ' पद है। इसका अर्थ ' (१) पालन करता है और (२) परिपूर्ण करता है ' यह है। तात्पर्य यह कि आचार्यके पालनपोषणका भार विद्यार्थियोंपर [किंवा विद्यार्थियोंके पालकोंपर] होता है, तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका भार भी विद्यार्थियोंपर ही रहता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और मनुष्य ये चारों वर्णोंके लोग ब्रह्मचारीका अनुकरण करते हैं। यह मंत्रका प्रथम कथन है। ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है, वैसा ही व्यवहार इतर लोग करने लगते हैं। यह बात ब्रह्मचारीको अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए। इससे ब्रह्मचारी पर एक विलक्षण जिम्मेवारी आ जाती है। यदि कोई दोष

ब्रह्मचारीके आचरणमें होगा, तो उसका अनुकरण अन्य लोग करेंगे।

विशेषतः गुणोंकी अपेक्षा दोषोंका अनुकरण अधिक होता है। श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा अन्य लोग करते हैं ऐसा कहते हैं। परंतु यह नियम सदाचारके अनुकरणकी अपेक्षा दुराचारके अनुकरणके विषयमें अधिक सत्य प्रतीत होता है ! ! यदि बडा आदमी अच्छा आचरण करेगा, तो उसके अनुसार छोटे आदमी आचरण करेंगे, यह निश्चित नहीं है, परंतु यदि बडा आदमी बुरे कार्य करेगा, तो बहुधा उसका अनुकरण अन्य लोग करने लगेंगे। इसलिये बडे आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक शुद्ध रखना चाहिये। यही जिम्मेवारी ब्रह्मचारीपर भी रहती है, क्योंकि अपने स्थानपर ब्रह्मचारीकी प्रशंसा होगी, वहांके छोटे मोटे लोग उसको देखकर उसके समान बननेका यत्न करेंगे। जो बाहरसे विशेष विद्या पढकर आता है, उसपर इसी प्रकार जिम्मेवारी होती है, इसलिये नव शिक्षितोंको अपनी जिम्मेवारी समझकर ही व्यवहार करना उचित है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है, वह ब्रह्मचारीके देहमें भी है। अर्थात् इसके देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिल जुलकर रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं। शरीरके अंदर ज्ञान ग्रहण करके ज्ञान संचय करनेवाले जो भाग हैं उनको देव किंवा ब्राह्मण समझिये। देहमें विरोधी दोषोंको हटानेवाले जो सूक्ष्म संरक्षणविभाग होते हैं, उनको क्षत्रिय मानिये। जो पोषक अंश होते हैं उनको वैश्य कह सकते हैं और जो स्थूल भारवाहक अंश होंगे उनको शूद्र कहिये। शरीरमें मज्जा ब्राह्मण हैं, वीर्य क्षत्रिय है, रस वैश्य है और अस्थि शूद्र है, इनके लिए आप चाहे अन्य शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं। यहां केवल उक्त कथनका भाव ध्यानमें रखना चाहिये। चातुर्वर्ण्यके चार शब्द जो इस मंत्रमें आये हैं, वे भी गुणकर्मबोधक तथा भावबोधक ही हैं।

मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये सब ब्रह्मचारीके अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यव्यवहार करते हैं। यह जितना ब्राह्म समाजमें सत्य है, उससे कई गुना अधिक शरीरके शक्तिकेंद्रोंके अंदर सत्य है। शरीरके अस्थि-रस-वीर्य-मज्जा आदि मूलभूत आधारतत्त्व ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहते हैं। ब्रह्मचारीके शरीरकी सब शक्तियां उसके अनुकूल रहती हैं। क्योंकि वह संयमी पुरुष होता है। शरीरमें अंगों, अवयवों, इंद्रियों और तत्त्वोंका चातुर्वर्ण्य है, वह सभी उसके अनुकूल होता है, यह बात अब पाठकोंके मनमें आगई होगी। उक्त रीतिसे विचार करनेपर इस वैदिक भावका प्रकाश पाठकोंके मनमें पड सकता है और वैदिक विचारकी सूक्ष्मता भी ज्ञात हो सकती है।

तीन और तीस देव

अग्नि, वायु इंद्र आदि बाह्य देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, इतना कहनेमात्रसे शरीरके अंदरके देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, यह बात सिद्ध हो ही चुकी है, क्योंकि संपूर्ण देवताओंके अंश मनुष्य शरीरमें विद्यमान हैं। अर्थात् जो उनके गुणधर्म बाहर हैं, वे ही अंदर हैं; इसमें विवाद नहीं हो सकता। अब इन देवताओंकी संख्या कितनी है इसका उत्तर इस मंत्रने निम्न-प्रकार दिया है —

त्रयः	—	तीन	३
त्रिंशत्	—	तीस	३०
त्रिशताः	—	तीन सौ	३००
षट् सहस्राः	—	छः हजार	६०००

पहिले मंत्रके स्पष्टीकरणके कोष्टकमें बताया ही है कि, नाभिसे निचला भाग पृथिवी स्थानीय, नाभिसे गलेतक का भाग अंतरिक्षस्थानीय और सिर द्युस्थानीय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदमें अन्यत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता हैं, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

सिरमें मस्तिष्क है उसका देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसका देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तथा जठरमें अग्नि-देवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवता मुख्य हैं। प्रत्येक देवताके आधीन दस गौण देवता हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मिलकर ३३ देवता होते हैं। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहता है। अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं। इस भावको लेकर निम्नमंत्र देखिये—

१. यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
२. यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
३. यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ॥
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
अथर्व० (१०।७)

'(१) जिसके अंगमें तैंतीस देव रह रहे हैं। (२) जिसके अंगोंके गात्रमें तैंतीस देव विशेष सेवा करते हैं, उन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं। (३) तैंतीस

देव जिसके कोशका सदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है ? '

यह वर्णन परमात्मामें पूर्णरूपसे और जीवात्मामें अंशरूपसे लगता है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपसे परमात्माके साथ जगत्में हैं और अंशरूपसे जीवात्माके साथ शरीरमें हैं। परमात्माका व्यापकत्व और महत्त्व तथा जीवात्माका अव्यापकत्व और अणुत्व छोड दिया जाय, तो तत्त्वरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकार के वर्णन सहस्रों स्थानोंमें हैं।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है। ये तैंतीस देव मेरुपर्वतमें रहते हैं। ' मेरुपर्वत ' पृष्ठवंश ही है, जिसको रीढ मेरुदंड आदि कहा जाता है। इस पृष्ठवंशमें छोटी छोटी हड्डियां एकके ऊपर दूसरी लगी हुई हैं और बीचके संधि-पर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। योगमें जिस ' ग्रंथिभेदन ' के माहात्म्यका वर्णन किया है, वे ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधनों द्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इस प्रत्येक स्थानका अत्यंत महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत-अथवा मेरुदंडके सबसे ऊपरके भागमें, मस्तिष्कके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थिति को ' ब्रह्मलोककी प्राप्ति ' कहते हैं।

ये तैंतीस देवता अथवा तीन और तीस देवता ब्रह्मचारीके आधीन होते हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रममें वीर्यरक्षण-पूर्वक योगाभ्यास द्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य-सूक्तमें बारबार कहा है कि ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तृप्त और स्वाधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्राणसे भरना और पूर्ण विकसित करना है।

• उक्त तैंतीस देवोंसे भिन्न (त्रिशताः) तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये ' शिवजीके त्रि-शतगण ' होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पृष्ठवंशके साथ साथ छ चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, (२) नाभि-स्थानके पास स्वाधिष्ठानचक्र और (३) मणिपूरकचक्र, (४) हृदयस्थानके पास अनाहतचक्र, (५) कण्ठस्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों भौहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तियोंके अंश केंद्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानोंमें छः हजार शक्तियां बंट गयी हैं। यहां ' तीन सौ ' और ' छः हजार ' यह संख्या गिनतीकी है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी योगी ही इस विषयमें कह सकता है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३, ३३; ३३० इसी प्रकार बताई है। सहस्त्रों, लाखों और करोडों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मज्जातंतुओंका मुख्य केंद्र है, उसके आधीन मस्तक, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीन उसके और सूक्ष्म सौ सौ विभाग मिलकर तीनसौ, इसप्रकार सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग अगणित हैं। इनको करोडोंमें बांटना अथवा लाखोंमें बांटना यह केवल कल्पनागम्य ही होगा, परंतु इस विषयमें सत्यासत्यका निर्णय विशेष अधिकारी पुरुष ही कर सकता है।

इस प्रकार (१) तीन, (२) तीस, (३) तीन सौ और (४) छः हजार देवताओंका स्वरूप स्थान और माहात्म्य है। ब्रह्मचारीके आधीन ये सब देव रहते हैं। जो ब्रह्मचर्य नहीं रखता और योगादि साधन नहीं करता, उसके आधीन उक्त देव रह नहीं सकते। जब ये देव स्वाधीन नहीं रहते, और स्वेच्छासे अपना व्यवहार करने लगते हैं, तब बडी भयानक अवस्था हो जाती है। प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे मनुष्यकी अवस्था कितनी गिर सकती है, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, सद्ग्रंथपठन, सत्समागम, उच्च विचारोंका धारण यम नियम, ईश्वरोपासना आदि सब साधनासे यही करना है कि, अपने शरीरमें विद्यमान देवता-ओंके अंश अपने आधीन हो जांय, अर्थात् अपने अंदरकी संपूर्ण शक्तियां स्वाधीन होकर आत्माकी शक्ति पूर्णतासे विकसित हो जाये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी परम सिद्धिका वर्णन इस मंत्रमें हुआ है। पाठक इस मंत्रके अर्थकी अधिक खोज करें और जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके इस दृष्टिसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें।

अब अगले तृतीय मंत्रमें, ब्रह्मचर्याश्रममें करने योग्य

'तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण' बताया है। साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अंधकारमें रहता है, उन तीनों अज्ञानोंका निवारण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है।

गुरुशिष्य--सम्बन्ध

इस तृतीय मन्त्रके पहिले अर्धभागमें कहा है कि, 'जब आचार्य ब्रह्मचारीको शिष्य मानकर अपने पास रखता है तब वह उसको अपने अंदर कर लेता है।' यहां अंदर करनेका तात्पर्य केवल अपने परिवारमें अथवा कुलमें संमिलित करना इतना ही नहीं है, प्रत्युत उस विद्यार्थीको अपने हृदयमें रखना है। हृदयमें अथवा गर्भमें रखनेका भाव यह है कि, उससे छिपाकर कुछ भी नहीं रखना है। जिसका प्रवेश अपने घर में अथवा परिवारमें होता है, उससे कोई बात छिपी नहीं रहती। परन्तु इस ब्रह्मचारीका प्रवेश तो अन्दरके गर्भमें होता है, इसलिए हृदयकी कोई बात उससे छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका सम्बन्ध है। गुरु अपने शिष्यसे कोई बात छल कपटसे छिपाकर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है, उसे पूर्ण रीतिसे शिष्यको पढावे तथा शिष्य भी आचार्यके पेटमें रहकर भी उस गुरुको किसी प्रकार क्लेश न देवे।

तीन रात्रिका निवास

इस मन्त्रका दूसरा कथन है कि, 'वह आचार्य अपने पेटमें उस ब्रह्मचारीको तीन रात्रिका समय व्यतीत होनेतक धारण करता है।' उदरमें ब्रह्मचारीको धारण करनेका तात्पर्य बताया ही है। यहां तीन रात्रिका भाव देखना है। मन्त्रमें 'तीन दिन' ऐसा नहीं कहा है, परन्तु 'तिस्रः रात्रीः (तीन रात्रियां)' ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अन्धकारका भाव बताता है और अन्धकार अज्ञानका बोधक स्पष्ट ही है। अर्थात् तीन रात्रियोंका तात्पर्य तीन प्रकारका अज्ञान है। इसलिए तीन राततक गुरुके पास रहनेका आशय ऐसा विदित होता है, कि तीन प्रकारके अज्ञानके दूर होनेतक गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान स्थूलसूक्ष्म सृष्टिविषयक होता है, दूसरा अज्ञान आत्माके विषयमें होता है और तीसरा आत्मा अनात्माके सम्बन्धके विषयमें अज्ञान होता है। इन तीनों अज्ञानोंको दूर करना ही विद्याध्ययनका उद्देश्य है। उक्त तीनों प्रकारके गाढ अज्ञान रूपी अन्धकारकी रात्रिमें जीव सोते हैं। आचार्यकी कृपासे ज्ञानसूर्यका उदय होनेके कारण वह प्रबुद्ध शिष्य रात्रिका समय व्यतीत करके स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है।

*

इन तीन रात्रियोंका विषय कठोपनिषद्में भी आया है। पाठक विस्तारपूर्वक वहीं देखें। यहां थोडासा दिग्दर्शन किया जाता है।

> तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्
> अतिथिर्नमस्यः। (कठ उ. १।९)

यम नचिकेतासे कहता है कि 'तू नमस्कार करने योग्य ब्राह्मण अतिथि मेरे घरमें तीन रात्रि भूखा रहा है' इसलिए---

> त्रीन् वरान् वृणीष्व। (कठ उ. १।९)

'तीन वर मांग।' तत्पश्चात् नचिकेताने तीन वर मांग लिए। उत्तरमें यम महाराजने (१) आत्मविद्या (२) जगद्विद्या और दोनोंका सम्बन्ध बतानेवाली (३) कर्मविद्या ही बताई है। इस उपनिषद्में नचिकेताको विद्या देनेवाले गुरुका नाम 'यम' है, इस ब्रह्मचर्यसूक्तके १४ वें मन्त्रमें भी 'आचार्यो मृत्युः' अर्थात् 'आचार्य मृत्यु है' ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिए प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य सूक्तके साथ कठोपनिषद्का सम्बन्ध है और कठोपनिषद्की कथाका स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्यके स्पष्टीकरणसे होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

मंत्रका तीसरा कथन है कि, 'जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके उदरसे बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब विद्वान् इकट्ठे होते हैं।' पूर्वोक्त तीन रात्रियोंकि समाप्त होनेतक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है किंवा गुरुके आधीन रहता है। जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतासे जगत्में संचार करनेके योग्य होता है। मंत्रके अंतिम चरणमें 'जातं' पद है। इसका अर्थ 'जिसने जन्म लिया है' ऐसा होता है। गुरु पिता है और विद्या माता है। इस विद्यारूपी मातासे इस समय जन्म होता है। यह दूसरा जन्म है, इस विषयमें कहा है---

> स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
> शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥
> (आप० ध० सू० १।१।१५-१७)

'वह आचार्य विद्यासे उस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है। यह श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।' इस प्रकार आचार्य द्वारा जो द्वितीय जन्म होता है, वही श्रेष्ठ जन्म है। इस जन्मको प्राप्त करनेसे ही द्विज बनते हैं। द्विज बननेसे सर्वत्र सन्मान होता ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेसे सर्वत्र सन्मान होना योग्य ही है।

गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक जब अपने अपने घर वापस आ जाते हैं, तब वहांके लोग उनका बहुत सन्मान करते हैं।

इस चतुर्थ मंत्रमें पृथिवीकी प्रथम समिधासे ' भोग ' और द्युलोककी द्वितीय समिधासे ' ज्ञान ' का तात्पर्य यहां अभीष्ट है। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओंके द्वारा अंतरिक्षस्थानीय हृदयकी संतुष्टि और पूर्णता करना ब्रह्मचारीका उद्देश्य है। इस मंत्रके ' पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः ' ये तीनों शब्द बाह्यलोकोंके वाचक नहीं हैं, क्योंकि द्युलोक तो इसके लिए अप्राप्य ही है। इस कारण अपने अंदरके स्थानोंका ही भाव यहां लेना उचित है। सभी शिक्षाप्रणाली हृदयकी शुद्धताके लिये ही होनी चाहिये। केवल भोगोंकी समृद्धि अथवा केवल ज्ञानसमृद्धि होनेसे भी कार्य नहीं होगा। केवल उदरपोषण अथवा केवल ग्रंथावलोकन होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता, अपितु जब हृदयकी शुद्धि पवित्रता और निर्मलता होगी, तभी जीवनोद्देश्यकी पूर्ति होती है। इस उद्देश्यको स्पष्ट करनेके लिये यह मंत्र है। भूमिका और द्युलोकका ज्ञान इन दोनोंका उपयोग अंतःकरणकी शुद्धि करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्में शांति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञान विज्ञानका प्रचार करते हैं अथवा भोग बढानेमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु वेद यहां सबको सावधान कर रहा है और स्पष्टतासे बता रहा है कि, इन ' भोग और ज्ञान ' का समर्पण जब हृदयकी पूर्णताके लिये होगा, तभी मानवजातिकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रभागसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

श्रमका तत्त्वज्ञान

अब अगले मंत्रभागमें कहा है कि, ' ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तपसे सब लोगोंको सहारा देता है ' समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है ' मेखला ' कटिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। जनताके हितके कार्य तथा सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदय निःश्रेयस्का साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा ' कटिबद्ध ' रहना चाहिये। ' श्रम ' का तात्पर्य परिश्रम है। सब प्रकारके पुरुषार्थ करना परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः। (ऋ. ४।३३।११)

' श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते ' तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है कि—

नाऽनाश्रांताय श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥
पुष्पिण्यो चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरे अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति ॥ २ ॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ॥
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।
चरैवेति चरैवेति ॥ ३ ॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्।
चरैवेति चरैवेति ॥ ४ ॥
चरन्वै मधु विंदति चरन् स्वादुमुदुंबरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन्।
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥ (ऐत. ब्रा. ७।१५)

' (१) श्रम किये बिना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। सुस्त मनुष्य ही पापी है। पुरुषार्थीका मित्र ईश्वर है। इसलिए प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो ॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होतीं हैं, फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न करनेवाले पापभाव मार्गमें ही मर जाते हैं। इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो ॥ (३) जो बैठता है, उसका दैव बैठता है; जो खडा होता है उसका दैव खडा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है, तथा जो चलता है उसका दैव भी पास आ जाता है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥ (४) सो जाना कलियुग है, आलस्य छोडना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है। इसलिये पुरुषार्थ करो ॥ (५) मधुमक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठा फल प्राप्त करते हैं। सूर्यकी जो शोभा है, वह उसके निरलस भ्रमणके कारण ही है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥ '

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है। तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥ (ऋ. १।७२।२)

' (श्रम-युवः) परिश्रम करनेवाले, (पद-व्यः) मार्ग पर चलनेवाले, (धियं-धाः) धारणावती बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोग ही (अग्नेः परमे पदे) आत्माग्निके सुंदर परम स्थानको प्राप्त करते हैं। ' तथा—

श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति । (ऋ. ८।६७।६)

'परिश्रम करके यज्ञ करनेवालेके लिए ही (ईश्वरका) संरक्षण प्राप्त होता है ।' इस प्रकार परिश्रमका महत्त्व वेद वर्णन करता है। परिश्रम करनेवाला पुरुषार्थ, प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है। देखिये, तपका स्वरूप कितना व्यापक है—

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः । (तै आ. १०।८)

'ऋत, सत्य, अध्ययन, शांति, इंद्रियदमन, मनोविकारोंका शमन, दान, यज्ञ, (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान, (स्वः) आनंद आदि सब तप ही हैं।' विचार करनेसे पता लग जायगा कि जन्मसे लेकर मरनेतक हरएक योग्य प्रयत्न तप ही है। तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुचते हैं और तपसे ही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है इसीलिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, 'ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोगोंको पूर्ण उन्नत करता है।' यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा और तपका आचरण नहीं करेगा, तो न उसकी उन्नति ही हो सकती है और न वह दूसरोंका भला ही कर सकता है। (१) आत्मशक्तिकी समिधा अर्पण करनी है, (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करना है, (३) आनंदसे परिश्रम करके प्रारंभ किया हुआ शुभ कर्म करना है, तथा (४) सत्यनिष्ठा–पूर्वक सब योग्य श्रेष्ठ कार्य करते हुए जो कष्ट हों, उनको शांतिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होनेतक प्रारंभ किये हुए शुभ कार्यको बीचमें ही न छोडना, ये बोध इस मंत्र द्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्युको स्वीकार करनेकी तैयारी

इस मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये–

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणा-नयैनं मेखलया सिनामि ॥ (अथर्व. ६।१३३।३)

'(मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इसलिये (भूतात्) मनुष्योंमें यमके लिये और एक पुरुषकी (याचन्) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष आयेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे, तपसे, परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांध दूंगा।'

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूं, अपितु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं। अर्थात् घरके प्रलोभन दूर हो चुके हैं। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरकी मृत्यु होनेके पूर्व दूसरा जन्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जो 'द्वि-जन्मा' होते हैं, उनको 'द्विज' होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही पडता है। यहां ब्रह्मचारीके प्रसंगमें आचार्यही मृत्युका कार्य करता है। मातापितासे प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें योग्य परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी दृष्टिसे गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है, ब्रह्मचर्यसूक्तमें भी 'आचार्यको मृत्यु' ही कहा है। तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है। कि 'मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं। इस प्रकार मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलका विद्यामृत पान करता हुआ आनंदसे कह रहा है कि 'मैं इच्छा करता हूं कि जनता और भी पुरुष इसी प्रकार मृत्युको–आचार्यको समर्पित करे' अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह भावना होनी चाहिए कि, वह अपने गुरुकुलमें और ब्रह्मचारियोंको आकर्षित करे। इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां जावें, ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी 'ज्ञान, तप, परिश्रम' आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये। एक ब्रह्मचारीका दूसरे सहपाठीमें यही संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानता है, वह दूसरोंको समझावे। दूसरोंके हितार्थ परिश्रम करे और दूसरेका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

सब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझें, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही हो चुका है! वह अब केवल माता पिताओंकाही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उस का पिता है!! इतनाही नहीं अपितु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युकेलिए समर्पित समझने लगा है!!! जो आनंदसे मृत्युको ही स्वीकारनेके लिये कटिबद्ध होता है, जो अपनी अस्थियोंकी समिधा बनानेके लिए सिद्ध हो चुका है, जो अपने वीर्य, बल, पराक्रमके आश्यसे राष्ट्रीय नरमेध

में आहुतियां देनेके लिये उत्सुक है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसको अन्य क्लेश सता नहीं सकते, परिश्रमोंके भयसे वह स्वकार्यसे परावृत्त नहीं हो सकता। यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम।

तपसे उन्नति

पंचम मंत्रमें तपका महत्त्व कहा है। ब्रह्मचर्यमें 'धर्म और तप' का जीवन व्यतीत करना चाहिये। गर्मी-उष्णताका नाम धर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो क्लेश होते हैं, उनको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। इन दोनोंकी सहायतासे ही हरएक की उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीरकी आयुष्य बढती है, हानिलाभका ध्यान छोडकर कर्तव्यतत्पर होनेसे फलसिद्धितक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल बढना ही उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात 'घर्मं वसानः तपसा उदतिष्ठत्।' अर्थात् 'उष्णता धारण करके कष्ट सहन करनेसे उच्च होता है।' इस मंत्रभागमें स्पष्टतासे कही है।

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह ज्ञानी बनता है और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार होता है, यह भाव 'तस्मात् ज्येष्ठं ब्रह्म जातं' इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक वैतनिक हों अथवा अवैतनिक हों, परंतु वे उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्यकी पूर्णता करनेवाले चाहिये। उक्त प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिन्होंने प्राप्त की है उस प्रकारके धर्मोपदेशकोंसे ही ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुष्ठानी ब्रह्मचारी 'देवः अमृतेन साकं' सब देवोंको अमरपनके साथ मिला देता है। यहांके 'देव' शब्दसे व्यवहार करनेवाले सज्जन लेना युक्त है। 'भूदेव' ब्राह्मण हैं, वीरोंका नाम 'क्षात्रदेव' है वैश्योंको 'धनदेव' कहते हैं, तथा शूद्रोंको 'कर्मदेव' कहते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निषाद आदि पंचम 'वनदेव' भी उक्त ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना इस प्रकारके सुयोग्य सुज्ञ धर्मज्ञानी उपदेशकके लिए साध्य हो सकता है इसलिए वेदमें अन्यत्र कहा है।

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत्। तां पुरं प्र णयामि वः। तामा विशत, तां प्रविशत। सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ (अथर्व. १९।१९।८)

'ब्रह्मचारियोंसे ही ज्ञानकी उत्क्रांति होती है। उस ज्ञानकी नगरीमें आपको मैं ले जाता हूं। उसमें प्रवेश कीजिये, उसमें घुस जाइये। वह ज्ञानकी नगरी ही आपको सुख और संरक्षण देवे।'

यह ज्ञानका महत्त्व है। पूर्वोक्त प्रकारके सच्चे ब्रह्मचारी ही इस ज्ञानकी उन्नति करते हैं। अन्य वेतनेच्छुक उपदेशकोंसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता। यह ज्ञानकी नगरी ज्ञानियोंके विचारक्षेत्रमें हुआ करती है। जो सज्जन उस विचार क्षेत्रमें पहुंच जाते हैं, उसमें घुस जाते हैं और वहां निवास करते हैं, उन्हें ही सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। कोई दूसरा मार्ग इस नगरीतक नहीं जाता।

वास्तविक रीतिसे हरएकको इस पवित्र भूमिमें जाना चाहिये जो इसमें प्रविष्ट होता है वह देवताका अंश बन जाता है, देखिए-

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमंगम्। (ऋ. १०।१०९।५; अथर्व. ५।१७।५)

'ब्रह्मचारी (विषः) सत्कर्मोंको (वेविषत् चरति) करता हुआ चलता है, इसलिये वह देवोंका एक अंग बन जाता है।'

ब्रह्मचारी नियमानुकूल व्यवहार करता है तथा सत्कर्म दक्षतापूर्वक करता है, इसलिये वह देवोंका अवयव, भाग किंवा अंग समझा जाता है। कोई उसको साधारण मनुष्य न समझे। ब्रह्मचारी साधारण मनुष्य नहीं है वह देवोंका अंग है। परंतु जो नियमानुकूल चलनेवाला होता है वही इस प्रकार श्रेष्ठ है, न कि नकली ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है।

षष्ठ मंत्रके पूर्वार्धमें ब्रह्मचारीका रहन सहन अत्यंत सीधा साधा होनेकी सूचना दी गई है। काला कंबल अथवा कृष्णाजिन ही उसका ओढनेका वस्त्र है, शीत निवारणार्थ अग्नि जलानेका साधन समिधायें सिद्ध हैं, हजामत आदिकी झंझट नहीं है। इस प्रकारका सीधा साधा ब्रह्मचारी होना चाहिए।

जहांतक सीधेसाधेपनका अवलंबन होना संभव हो; उतना होना आवश्यक है। खादीका लंगोट, खादीकी धोती, उत्तरीय और कुर्ता काला कंबल यही ब्रह्मचारीकी पोशाक है। इस प्रकार सादगीके साथ ब्रह्मचर्य नियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन करता हुआ, अपने आपको पवित्र बनानेके कर्ममें दत्तचित्त होकर, विद्याध्ययन बडी मेहनतसे करता है और सुफलताके साथ सफलता प्राप्त करता है। इस रीतिसे विद्याध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् वह जनपदमें भ्रमण करता है और लोकसंग्रह करता है। एक विचारसे लोगोंको एकत्रित करके, उनको महान् कार्यमें प्रवृत्त करना 'लोक-संग्रह' का तात्पर्य है। जनताकी उन्नति करनेके लिए इस प्रकार वह कार्य करता है, वारंवार भ्रमण करके व्याख्यानादि द्वारा वह सर्वत्र जागृति कर देता है। पूर्वसे उत्तर समुद्रतक वह प्रचार करता करता पहुंच जाता है, अर्थात् पूर्व अवस्थासे उच्चतर अवस्थातक वह स्वयं पहुंचता है और जनताको पहुंचाता है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्याश्रमरूपी पूर्व अवस्थासे गृहस्थाश्रमरूपी उत्तर अवस्थाको वह प्राप्त करता है।

'समुद्र' (सं+उत्+द्रु) शब्द हलचलका वाचक है। (सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति अथवा हलचल करनेका नाम समुद्र है। इस समुद्रमें अब वह अपनी नौका चलानेको सिद्ध होता है। जनताकी उन्नति करनेके लिये जो जो हलचल करना आवश्यक है वह हलचल अब वह करने लगता है।

ब्रह्मचारीकी हलचल

सप्तम मंत्रमें कहा है कि प्रथम अवस्थामें ब्रह्मचारी माता पिता और घरबारके मोहजालको तोडकर, अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझ कर, सब प्रकारके कष्ट और क्लेश सहन करनेके दृढ निश्चयके साथ, गुरुकुलमें निवासकर विद्याकी प्राप्तिके कार्यमें लगा हुआ था। इसी अवस्थामें वह विद्यासमाप्तितक रहा, सीधासाधा रहना सहना और उच्चविचार करना यही स्वभाव उसका बन गया था। जब वह विद्याके गर्भसे बाहर आगया अर्थात् जब वह द्विज बना, तब वह (ब्रह्म) सत्यज्ञानका प्रचार करने लगा, सत्यज्ञानके प्रचारसे लोगोंको (आपः) सत्कर्मोंका उपदेश उसने दिया। सत्यज्ञान तथा सत्कर्मका ज्ञान जनतामें होनेसे जनतामें स्वकर्तव्य के प्रति जागृति उत्पन्न हो गई स्वकीय परिस्थितिकी जागृतिसे (लोकं) लोगोंको अपने वास्तविक स्थानका पता लगा। हमारा जन्मसिद्ध अधिकार यह है, यह हमारी योग्यता है। हमारी उन्नति इस रीतिसे हो सकती है, इत्यादि बातोंका ज्ञान जनतामें हुआ। इतना ही करके वह ब्रह्मचारी चुप न रहा, अपितु उसने (प्रजापतिं) प्रजाके पालन करनेवालेके धर्म भी बताये। राजाको इस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, अधिकारियोंके ये कर्तव्य हैं, इत्यादि सब उत्तम प्रकारसे बताया। साथ साथ परमेष्ठी परमेश्वरका स्वरूप भी लोगोंबताया। जगत्का सच्चा नियंता वह एक ही परमेश्वर है, उसके सम्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यको खडा रहना है, वही सबका सच्चा न्यायकारी है, इसलिये उसको सर्वोपरि मानना चाहिए इत्यादि सत्य व धर्मानुकूलतत्त्वोंका उन्होंने उपदेश किया।

इसप्रकार ब्रह्मचारीके द्वारा जो जागृति हुई उससे राष्ट्रके सब लोगोंको पता लगा कि, ये सुर हैं और ये असुर हैं। असुरोंको दूर किए और सुरोंके अधिष्ठातृत्वमें राष्ट्रके रहे बिना सत्य धर्मकी स्थिरता नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय होते ही सब जनताने उसीको अपना इंद्र अर्थात् प्रमुख बनाया। और वह असुरोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा। पहिले जो केवल ज्ञान प्रचारके कार्य करता था, वही अब क्षात्रधर्मका कार्य करने लगा है। 'इन्द्र' शब्द '(इन्)' शत्रुओंका (द्र) विदारण करनेवाला' इस अर्थमें यहां है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है और अनुमान होता है कि, ब्रह्मचर्य अवस्थामें जो अध्ययन होता है, उसमें ब्रह्मवर्चस्के साथ ही क्षात्रतेजका भी संवर्धन होना आवश्यक है। हरएक ब्रह्मचारीको ब्रह्म-क्षत्रत्वका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। जनताका हित करते समय जो जो कार्य आवश्यक हो उनको उत्साहके साथ करनेका बल और ओज उसमें होना चाहिये। यह आशय यहां इस मंत्रमें प्रतीत होता है,

अब वही ब्रह्मचारी इंद्र अर्थात् क्षात्र बलका मुखिया बन कर (असुरान् ततर्ह) असुरोंको भगा देता है। 'ततर्ह' शब्द विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। असुर वे होते हैं कि, जो संपूर्ण जनताको उपद्रव देनेवाले होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें अ० १६, श्लो० ६ से १८ तक असुरोंके लक्षण कहे हैं। 'निरीश्वरवादी, नास्तिक, गर्विष्ठ, घमंडी, स्वार्थी, दुष्ट, भोगी, कामी क्रोधी अत्याचारी, क्रूर' आदि असुरोंके लक्षण वहां दिये हैं। सब घातक प्रवृत्तिके लोग असुर होते हैं। सब जनता इनसे त्रस्त होती है, इसलिये उक्त ब्रह्मचारी जनताका मुखिया बनकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शांति देता है। यही ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ है।

आठवें मन्त्रमें कहा है कि, ' आचार्य ततक्ष ' अर्थात् ' आचार्य आकर बनाता है । ' ' तक्ष् ' धातुका अर्थ बढईके हथियारोंसे काम करना, आकार बनाना, लकडीसे त्रिविध पदार्थ बनाना, कल्पनासे नवीन यंत्रादिककी रचना योग्य रीतिसे करना ' है । इस धातुसे ' तक्षक, तक्षन् ' ये शब्द बने हैं, जिनका अर्थ ' बढई, लकडीका काम करनेवाला, लकडीसे विविध आकार बनानेवाला ' ऐसा होता है । ' तक्षण ' शब्दका भाव काटना ही है, तथा बढईके औजार हथियार आदिका नाम ही ' तक्षणी ' है । इससे पाठकोंको विदित होगा कि, ' ततक्ष ' शब्दका भाव ' आकार घडना है । ' गुरु आचार्य ' परमेश्वर ' भी है, योगदर्शनमें भगवान् पतंजली महामुनिने कहा ही है कि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (यो. द.)

' वह ईश्वर प्राचीनोंका भी आचार्य है क्योंकि वहां कालकी कोई मर्यादा नहीं है । ' इस कथनसे आचार्योंका आचार्य और गुरुओंका गुरु परमेश्वर है । और वह पृथिवीसे लेकर द्युलोक तकके संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है । भाव स्पष्ट ही है । जो कार्य परात्पर गुरु परमेश्वर करता है, वही कार्य यहां शिष्यकी मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है । संपूर्ण सृष्टिकी यथावत् कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना, यह काम अध्यापकका ही है इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गुरुशिष्यके लिए पृथ्वी और द्युलोक बनाता है । सृष्टिकी कल्पना हमारे ज्ञानमें ही है, सृष्टिविषयक जितना ज्ञान हमें होता है, उनकी ही सृष्टि हमारे लिए होती है । जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता, उन पदार्थों का अस्तित्व ही हमारे लिए नहीं होता । अर्थात् ज्ञानपूर्वक ही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिए हुआ करता है । इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ उन पदार्थोंको भी देता है । आचार्य पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यन्त सभी पदार्थोंका ज्ञान देता है इसलिए इन लोकोंको भी मानो वह शिष्यको समर्पित करता है ।

जो इस समय आचार्य है, वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था । उस समय उसके गुरुने त्रिभुवनविषयक जो जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके उसने आचार्य बननेके पश्चात् वही ज्ञान अपने शिष्यको दिया । ज्ञान देनेसे ऋषि ऋण उतर जाता है । इसी प्रकार इस शिष्यको भी उचित है कि वह गुरुसे प्राप्त त्रिभुवन और उसका ज्ञान अपने पास रक्षित रखे । इसी मंत्रमें कहा है कि ' ते रक्षन्ति तपसा ब्रह्मचारी ' अर्थात् ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका रक्षण करता है ' आचार्य जो जो बात शिष्यके लिये घडता है, बनाता है तैयार कर देता है अथवा ज्ञानरूपसे देता है उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये । ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्योंके मनमें है, यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं ।

मन्त्रके अन्तिम भागमें कहा है कि उक्त प्रकारके ' ब्रह्मचारीमें उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं । प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार हो ही चुका है । इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियां और अवयव उसके मनकी इच्छासे अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है । मन आदि आंतरिक इंद्रियोंका दमन और सब बाह्य इंद्रियोंका शमन होनेसे दान्त और शान्त होता है । यही संयम है जिसको पूर्ण रीतिसे ' सं-यम ' सिद्ध होता है, उसीका नाम ' यम ' है और उत्तम यमका नाम ही ' सं-यम ' है । इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व ' यम ' अथवा ' सं-यमी ' बनता है । आचार्यका ही नाम ' यम ' होता है ।

ब्रह्मचारीकी भिक्षा

नवम मन्त्रका कथन अब देखिए-- ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उससे दोनों लोकोंकी भिक्षा लेता है । भूलोककी भिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और द्युलोककी भिक्षासे उसको आत्मिकज्ञान प्राप्त होता है । इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है । पृथिवी और द्युलोकका सम्बन्ध शारीरिक और आत्मिक अभिवृद्धिके साथ है यह बात पूर्व स्थलमें बता दी है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कहां रहते हैं, यह भी पहिले बताया ही है । आचार्यके पाससे वह ज्ञानमय भिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत संपूर्ण विश्वकी भिक्षा अर्पण करता है । पृथिवी और द्युलोकके अंदर संपूर्ण विश्व आगया है । अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके संपूर्ण साधन इस भिक्षासे उस ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं ।

ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ

जब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोंसे संपन्न हो जाता है, तब वह ब्रह्मचारी उक्त दोनोंसे लोकोंकी दो समिधायें बनाकर हवन करता है । इस ज्ञानयज्ञमें उस ब्रह्मचारीको अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है । यही उसका सर्वस्व-त्याग है ।

जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर, इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी भलाईके लिए करनेका नाम ही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण व्यक्तिकी अंतिम सफलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिए अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है. यही पूजा और उपासना है। जिसके पास जो शक्ति है, उसका व्यय संपूर्ण समाजके उदयके लिए करना ही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

दो कोश

दसवें मन्त्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोकका कोश है और दूसरा द्युलोकका कोश है। दोनों कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रहते हैं। ब्राह्मण अर्थात् गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी भिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान्‌की बुद्धिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक तथा सब अन्य विश्व रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्यको उपदेश द्वारा उनको प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और द्युलोक वास्तवमें ज्ञानीकी बुद्धिमें हैं, बुद्धिमें ही संपूर्ण जगत्‌का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको उक्त विश्वका दान करता है।

कोशरक्षक ब्रह्मचारी

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कोश शिष्यकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यंतका संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजानोंका किस रीतिसे संरक्षण होता हैं। मंत्रमें ही कहा है कि, 'तपसे' संरक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढाता है, वही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता हैं। तपके बिना, कष्ट सहन करनेके बिना उनका रक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे कही है।

दो अग्नि

ग्यारहवें मंत्रमें अग्नियोंका वर्णन है। पृथिवीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरी अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अंतरिक्षमें मिल जाती हैं। इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिकारी होता है। पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होगा कि, (१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) बुद्धिमें रहनेवाले दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंकी दो अग्नि ये सब एक ही मुख्य बातको बता रहे हैं।

शरीरमें भूस्थानीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है। जाठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी

बारहवें मंत्रमें मेघोंको ब्रह्मचारी कहा है। वृष्टि करनेवाले मेघ बडी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं। दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहीन होते हैं परंतु बडी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्ट ही होते हैं। इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जलहीन होते हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादके समान अपनी बडी विशाल आवाजसे व्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें 'नवजीवन' फैलाता है। परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो व्याख्यानोंका घटाटोप तो करते हैं, परंतु उनके खोखले व्याख्यानोंसे किसीका भी लाभ नहीं होता। इसका कारण पहलेमें वीर्यके साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते।

बडे ब्रह्मचारीका कार्य

तेरहवें मंत्रमें सबसे बडा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधायें डाल देता है। उस समिधासे उक्त देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके जलसे बहता है, जल उसीकी शांतिसे दूसरोंको शांति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिरूप समिधा इनमें रखता है, उस कारण अन्यादि देव अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है।

इससे वृष्टि और जल गिरता है, जलसे वृक्षवनस्पतियां, उससे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष किंवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बडे ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है और यमनियमादिकोंका पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मामें जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु, (५) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक् (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) वीर्य आदि हैं। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है और इनको प्रज्वलित करता है। वक्तृत्वशक्ति, वृष्टि, विचारशक्ति, जीवनकी कला और वीर्य तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी उक्त अग्नियोंमें डालता है और उनको प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है। जब उक्त शक्तियां बढ जाती हैं, तब उनकी ज्वालायें अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकरणमें किंवा हृदयमें मिल जाती हैं। वाणी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें हो जाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषकी प्रसिद्धि होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र शांति फैलती है।

छोटे और बडे ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंको देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुणसाधर्म्य इस प्रकार देखने योग्य है।

आचार्यका स्वरूप

चौदहवें मंत्रमें आचार्यको ही मृत्यु कहा है। क्योंकि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है और शिष्य, 'द्वि-ज' बनता है। पहिला जन्म मातापितासे मिलता है। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरकी मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारके समय होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीकी आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहती है। विद्या और आचार्यके गर्भमें नियत समय अर्थात् १२, २४, ३६, ४८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहर आती है यह उसका दूसरा जन्म है। परमात्माका नाम मृत्यु है। इसलिये कि वह पहिले जीर्ण शरीरको छुडवाकर दूसरा कार्यक्षम नवीन शरीर देता है। आचार्य भी वही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारकको कहते हैं। पापसे निवारण करता है, और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वरत्व अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है, चंद्रके समान शांति और आल्हाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। 'सोम' शब्दका दूसरा अर्थ (स+उमा) ज्ञानी ऐसा भी है। 'उमा' शब्द संरक्षक विद्या अथवा ज्ञान किंवा मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। वहां उमा शब्दका 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'मूलशक्ति' ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या किंवा शक्ति होती है, उसका नाम 'उमा' है; उस प्रकारकी संरक्षक विद्या जिसके पास होती है(उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द 'दोषधी' शब्दसे निरुक्तकार (निरु० दै० ३।३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम औषधिका है। वही कार्य आचार्य करता है। शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्थ-ता) स्वावलंबन अर्थात् अपनी शक्तिसे खडा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूध है। 'पयः' शब्दका अर्थ 'दूध, जल, वीर्य, अन्न, बल, उत्साह' इतना है। इन सब अर्थोंका भाव 'पुष्टिका साधन' इतना ही है।

पंद्रहवें मंत्रमें गुरुशिष्यके सहवासका महत्त्व कहा है। जो लाभ विशेषतः शिष्यको होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें 'अमा' शब्द सहवास, अर्थात् साथ रहनेका भाव बता रहा है। सूर्यचंद्रके सहवासके अहोरात्रका नाम 'अमा' अथवा 'अमावास्या' है। यहां सूर्य स्वयंप्रकाशक होनेसे गुरु

किंवा आचार्य है और चंद्र परप्रकाशक किंवा सूर्यके तेजसे ही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है। यह जो सूर्यचंद्रका सहवास 'अमा-वास्या' के दिन होता है, वही सहवास गुरुशिष्यके विषयमें यहां 'अमा' शब्दसे बताया गया है। आचार्यरूपी सूर्यके विद्यातेजसे शिष्यरूपी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यचंद्र विद्याध्ययनकी समाप्तितक एकत्रही रहते हैं। इतना ही नहीं अपितु यहां का 'अमा' शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययनकी समाप्तितक अवश्यही होना चाहिये। नियत समयसर पढाने-के लिये गुरुका आना और पढाईके पश्चात् चले जाना, अध्यापनका यह ढंग ठीक नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिष्यको अत्यंत लाभ पहुंचता है। इसी उद्देश्यसे गुरु-कुलवासकी प्रणाली वेदने बताई है। गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समयमें वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरु शिष्यके नित्य सह-वाससे अत्यंत लाभ हैं और इस समय उन लाभोंको सब ही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें 'घृत' शब्द है।। 'घृ-रक्षण-दीप्त्योः' इस धातुसे यह शब्द बनता है। (१) प्रवाह चलना और (२) तेज फैलना ये दो अर्थ 'घृ' धातुके हैं। घृत शब्दमें भी ये दोनों भाव हैं। गुरु-शिष्यका सहवास घृत करता है, यह मंत्रका कथन है अर्थात् गुरुशिष्यके सहवाससे विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञानतेज फैलता है। इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरुशिष्य संबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है। और यही ज्ञान मनुष्योंका तेज बढा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुरु अपने शिष्यसे किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा मांगता है? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इस मंत्रमें 'प्रजा-पतौ' यह है। यह गुरुदक्षिणा 'प्रजाके पालन करनेके विषयमें' होती है। प्रजाके पालनके विषयमें अथवा जनताके हितके संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, आचार्य ऐसी दक्षिणा मांगता है कि जिससे सब जनताके पालनसंबंधी कुछ भाग बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। उस प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको बता रहा है कि संपूर्ण प्रजाजनोंके पालनके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है और राष्ट्रीय शिक्षाका यही आदर्श है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनात्मक कर्तव्यका अपना हिस्सा करके अपने आपको उत्तम नागरिक सिद्ध करे।

स्वराज्यमें नागरिक जन प्रजापालनात्मक कार्य करने-वाली 'प्रजा-पतिस्था' के अंशभूत ही होते हैं, इसलिये प्रत्येक अंशभूत नागरिकको संपूर्ण अंशी राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अपने कर्तव्यपालनकी पराकाष्ठा करना अत्यंत आव-श्यक ही है।

सोलहवें मंत्रमें कहा है कि 'आचार्यः ब्रह्मचारी' अर्थात् 'राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिए।' ब्रह्मचारीका अर्थ यहां विवाह न किए हुए सज्जन, ऐसा नहीं समझना चाहिए। विवाह करनेके पश्चात् भी ऋतुगामी होनेसे तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव है। छोटे मोटे सब ही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि नागरिक कार्य करनेमें लगे होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिए। कामी, भोगी, लोभी तथा स्वार्थी नहीं होने चाहिये। जब ब्रह्मचर्यका महत्त्व सब अध्यापकोंको ज्ञात होगा, तभी वे अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार जो बात अध्यापकोंद्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें स्थिर की जाती है, वह राष्ट्रमें दृढ-मूल हो जाती है।

आदर्श राज्यशासन

क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहिए। राजा, महाराजा, सम्राट्, प्रधान, मंत्री, सेनानायक, सैनिक, ग्रामाधिकारी तथा सब अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही होने चाहिए। यहां ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य अव-स्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है, अपितु आगे गृहस्थी बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब राज्याधिकारी होने चाहिये। जहां ऐसे अधिकारी ब्रह्म-चारी न होंगे वहांका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजापालनका कार्य जो जो अधिकारी करता है, उसे उचित है कि वह ब्रह्मचर्यके पालनके साथ संयमी बनकर अपना कार्य करे। राज्यके प्रधान अधिकारियोंको भी यहां सूचना मिलती है कि ओहदेदार नियत करनेके समय वे उसकी अन्य योग्यता देखनेके साथ यह भी बात अवश्य देखें कि वे ब्रह्म-चारी और धार्मिक हैं या नहीं।

जिस राज्यमें ज्ञानप्रचार करनेवाले विद्याधिकारी और

संरक्षणका कार्य करनेवाले क्षात्राधिकारी उत्तम ब्रह्मचारी होंगे वहां की राज्यव्यवस्थाका क्या कहना ? यही ' आदर्श राज्यव्यवस्था ' वेदकी दृष्टिसे है । इस समय जो राज्य इस भूमंडलपर चलाये जा रहे हैं वे भोगी लोग चला रहे हैं। भोगी लोग ही आसुरी संपत्तिवाले हुआ करते हैं। भोगी असुरोंसे प्रजाको कष्ट ही कष्ट पहुंचते हैं। इसलिये मंत्र ७ में कहा है कि, ' ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर असुरोंको दूर किया।' भोगी असुरोंको दूर करके त्यागी संयमी जितेंद्रिय ब्रह्मचारियोंको ही अधिकारपर लाना ब्रह्मचारीकी राजकीय हलचलका कार्य होता है ।

ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण

राजा, राजपुरुष आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक आदि ब्राह्मण, स्वयं ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहिये, इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है। अब इस १७ वें मंत्रमें कहा है कि राजप्रबंधसे तथा पाठशाला, गुरुकुल आदिके प्रबंधसे राष्ट्रके ब्रह्मचर्यका पालन होवे ।

राजा अपने राज्यमें ऐसा शासनका प्रबंध रखे कि सब अधिकारी ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले हों और वे अपने अधिकार क्षेत्रमें रहनेवाली जनतासे ब्रह्मचर्यका पालन करावें। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी व्यवस्था करेगा तो संपूर्ण राज्य ब्रह्मचर्यपालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहां संयमसे है । राज्यमें बालविवाह न हो, विवाह योग्य समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और व्यभिचार न हो, संयम और त्यागवृत्तिसे व्यवहार किया जावे। इस प्रकार मरनेतक ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्य राज्यशासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके राजा राष्ट्रका विशेष रीतिसे संरक्षण कर सकता है।

सर्वसाधारण जनता अज्ञानी होनेके कारण सुनियमोंका पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधसे ही सुनियमोंका पालन होता है, तब वे लोग भी उन नियमोंके पालन करनेका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। समाजकी उन्नति अवनतिकी अवस्थाके अनुसार नियमोंमें परिवर्तन हो सकता हैं। परंतु यहां ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, बलसंवर्धन, योगाभ्यास, ज्ञानसंपादन, उपासना आदिका संबंध है। राजप्रबंधसे ही सब लोग इनको करें और राजा सबसे इनका पालन करावे जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

कन्याओंका ब्रह्मचर्य

पूर्व मंत्रमें बताया गया है कि राजा प्रबंध द्वारा सब जनतासे ही ब्रह्मचर्यका पालन कराके प्रजाका विशेष पालन करता है । सब जनतामें जैसे पुत्रोंका वैसा ही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुत्रोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुरुषोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध हो गई है। इस अठारहवें मंत्रमें ' कन्या ' शब्दसे स्त्रीजातिके ब्रह्मचर्यका आदेश है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समान ही ब्रह्मचर्य है और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रबंधद्वारा ही होना चाहिये।

पशुओंका ब्रह्मचर्य

घोडे, बैल आदि पशु सचमुच ब्रह्मचारी ही रहते हैं। अति कामभाव उनमें नहीं होती। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें स्त्रैणता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें स्त्रीसंबंध न्यून ही होता है, इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है ।

अपमृत्युको हटानेका उपाय

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मचर्य पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है। इसी रीतिसे देव अमर बने हैं। जो देवोंको साध्य हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी साध्य कर सकते हैं। देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। जो इस प्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सबसे अधिक तेजस्वी हो सकता है। ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है। ब्रह्मचारी जितेंद्रिय पुरुषका मुख कमलके समान तेजस्वी, उत्साही और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिए हरएकको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये ।

औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य

सूर्य ब्रह्मचारी है क्योंकि वह ब्रह्मके साथ संचार करता है किंवा तेजके साथ रहता है। इस ब्रह्मचारी–सूर्यसे संवत्सर

अर्थात् वर्ष, ऋतु, मास, दिन, रात्रि तथा भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल प्रकट हो रहे हैं। यह सूर्यके ब्रह्मचर्यकी महिमा है।

औषधि वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके कारण ब्रह्मचारी हैं। औषधि वनस्पतियोंका जनक मेघ किंवा पर्जन्य है। यह मेघ भी ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह 'ऊर्ध्व-रेता' है 'ऊर्ध्व' अर्थात् ऊपर धारण किया है, 'रेत' अर्थात् उदक जिसने, ऐसा मेघ है, इसलिये वह 'ऊर्ध्व-रेता' है, और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है। वहां कहा है कि यह 'ब्रह्मचारी मेघगर्जना करता हुआ पहाडोंपर और भूमिपर (रेतः) उदकका सिंचन करता है, उससे सब दिशायें जीवित रहती हैं। 'ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिके पालन करनेकी शक्ति है, इस प्रकार जो ऊर्ध्वरेता है उसमें भी पालन करनेकी शक्ति आ सकती है। सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकरूपी रेतको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे वीर्यको अपने ऊपर खींच सकता है। इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है।

पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य

पहिले बैल और घोडेके विषयमें मंत्र १८ में कहा ही है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं। बंदर आदिमें वीर्यके नाश करनेकी आदत दिखाई देती है, परंतु साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं। ऋतुकालसे भिन्न समयमें न तो वे स्त्री के पास जाते हैं और न स्त्री उनको अपने पास आने देती है। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही तीव्र है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकालको छोडकर अन्य समयमें स्त्री पुरुषविज्ञान भी नहीं होता। कई पशुपक्षी इस नियममें अपवाद भी हैं, परंतु यह अपवाद पूर्वोक्त नियम ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषधिवनस्पतियां आदि भी ऋतु-कालमें ही पुष्पवती होनेके कारण ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर तो ऋतुओंमें ही गमन करता है, इसलिये वह भी ऋतगामी होनेसे ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारीका ज्ञान सबका संरक्षण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है। क्योंकि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होता है, यह बाईसवें मंत्रमें कहा है।

देवोंका तेज।

तेईसवें मंत्रमें देवोंके तेजका वर्णन है। जो उत्साह और स्फुरण देता है, जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान् देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीरमें ज्ञान-इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव हैं कि, जो जड शरीरमें रहकर उसमें भी विलक्षण स्फूर्तिका कार्य करा रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यचंद्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चेतना दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है तथा अमरपन भी देती है।

उपदेशका अधिकारी।

चौबीसवें और पच्चीसवें मंत्रमें ब्रह्मचारीके विशेष ज्ञानका उल्लेख है। ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इसलिये उसका अद्भुततेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अंदर सब देवताएं ओतप्रोत होकर रहती हैं। उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती। अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, अपान, व्यान आदि सब प्राणोंको, अपने आधीन करता है। प्राणके वशमें होनेसे उसका मनभी वशमें होता है, क्योंकि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं। यदि प्राण निर्बल हो तो मन भी निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मनके स्थिर होनेसे हृदयकी दिव्य शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मनके नियमबद्ध होनेसे मेधाबुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बढने लगता है। अब उसकी इतनी योग्यता हो जाती है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशकके वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है। क्योंकि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है।

इस कारण लोग चाहते हैं कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो। जहां उक्त ब्रह्मचारी पहुंचता है

वहांसे सज्जन उससे कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी ! हमें उपदेश दो । चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ ! कोई कहते हैं कि अन्नकी न्यूनता बडा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विपुल अन्न कैसे प्राप्त होगा ?

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथा-योग्य उत्तर ब्रह्मचारी देता है, योजना और युक्तिपूर्वक सबकी शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गोंपर चलाता है । इतनी योजना होने पर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्मशक्तिका विकास करता ही रहता है । इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथिवीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है । यह ब्रह्मचर्यका तेज है ।

ब्रह्मौदन

कांड ११, सूक्त १

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – ओदनः ।)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! तू (जायस्व) प्रकट हो । (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता (पुत्रकामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है । (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तेरा प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृणुत) धुवाँ करो, अग्निको प्रदीप्त करो । (अद्रोघ-अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली भाषा बोलो । (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) वह अग्नि शत्रु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है । (येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

(अग्ने जातवेदः) हे अग्ने, हे जातवेद ! तू (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) महान् पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है । (ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे) और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है । (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है । (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— माता उत्तम वीर पुत्रके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे । जगत्के निर्माण करनेवाले सप्त ऋषि उस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, यज्ञ कर, द्रोह करनेवाली भाषा न बोल, तेजस्वी बन, जिससे समरविजयी सुपुत्र उत्पन्न हो, जो शत्रुओंको दूर भगा दे ॥ २ ॥

तू पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है । उत्तम अन्न द्वारा पाकयज्ञ करके सप्त ऋषियोंको संतुष्ट करनेसे वे सब प्रकारके वीर भावोंसे युक्त सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान्देवान्यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥
त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान्वो यो देवानां स इमां पारयति ॥ ५ ॥
अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥
साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥
इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना ।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) अग्ने ! (समिधा समिद्धः सं इध्यस्व) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू और अधिक प्रदीप्त हो। (यज्ञियान् देवान् इह आवक्षः) यज्ञके योग्य देवोंको तू यहां ले आ। हे जातवेद ! (तेभ्यः हविः श्रपयन्) उनके लिये हवि पकाता हुआ, (इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय) इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

(यः पुराः त्रेधा भागः निहितः) जो पहले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितॄणां मर्त्यानां) देवोंका, पितरोंका और मर्त्योंका है। (अहं वः तान् विभजामि) मैं तुम्हारे लिए उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पित करता हूं। (अंशान् जानीध्वं) उन भागोंको समझो। (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस स्त्रीको आपत्तिसे पार करायेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है। अतः (द्विषतः सपत्नान् नीचः न्युब्जः) द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा। (इयं मात्रा मीयमाना मिता च) यह परिमाण मापा हुआ परिमित प्रमाणमें (ते सजातान् बलिहृतः कृणोतु) तेरे सजातीय वीरोंको तुझे कर देनेवाला बनाये ॥ ६ ॥

(पयसा सजातैः साकं एधि) तू दूधसे युक्त होकर स्वजातियोंके साथ बढ। (महते वीर्याय एनां उत् उब्ज) महान् पराक्रमके लिये इसको तैयार कर। (ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टपं अधि रोह) ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ। (यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति) जिसे लोग स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

(इयं मही पृथिवी देवी) यह बडी पृथ्वी देवता (सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु) शुभ विचारवाली होकर यह चर्मकी ढाल अपनी रक्षाके लिये ग्रहण करे। इससे (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥८॥

भावार्थ— अग्नि प्रदीप्त कर, उनमें हविका हवन कर, इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव, पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अन्नमें होता है। अतः उनको वह भाग अर्पित करना उचित है ॥ ५ ॥

बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और वे तुझे कर दें ऐसा पराक्रम कर ॥ ६ ॥

बडा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो, दूध पीकर स्वजातियोंके साथ पुष्ट हो। इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके योग्य बन ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बडी देवी है, अपने मनको शुभसंकल्पयुक्त करके उसकी रक्षाके लिये तैयार रह, जिससे पुण्यवानोंका लोक प्राप्त हो ॥ ८ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून्यजमानाय साधु ।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः ।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

अर्थ— (एतौ सयुजौ ग्रावाणौ) इन साथ साथ रहनेवाले दो पत्थरोंको (चर्मणि युङ्ग्धि) चर्मपर रखो। (यजमानाय अंशून् निर्भिन्धि) यजमानके लिये सोमरसको कूटकर निकालो । (ये इमां पृतन्यवः) जो इस स्त्रीपर हमला करते हैं उनका (निजहि) नाश कर । (अवघ्नती उद्भरन्ती प्रजा ऊर्ध्वं उदूह) कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर (सुकृतौ ग्रावाणौ हस्ते गृहाण) उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले । (यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आ अगुः) पूज्य देव तेरे यज्ञमें आजावें । (यतमान् त्वं वृणीषे) जो तू मांगता है वे (त्रयः वराः) तीन वर हैं । (ताः समृद्धीः ते इह राधयामि) उन संपत्तियोंको तेरे लिये यहां सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तेरा पानस्थान है और (इदं उ ते जनित्रं) यह तेरा जन्मस्थान है । (शूरपुत्रा अदितिः त्वां गृह्णातु) शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे । (ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि) जो सेनावाले शत्रु इस स्त्रीको कष्ट देते हैं उनको दूर कर और (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इसको सर्व वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

(यूयं द्रुवये उपश्वसे सीदत) तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो । हे (यज्ञियासः) याजको ! तुम (तुषैः विविच्यध्वं) तुषाओंको पृथक् करो, हम (समानान् सर्वान् श्रिया स्याम) सब समान जनोंमें धनसे श्रेष्ठ बनें । और मैं (द्विषतः अधः पदं आपादयामि) शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूँ ॥ १२ ॥

भावार्थ— ये सोमका रस निकालनेवाले पत्थर हैं । इनसे सोमका रस निकालो । जो सेना लेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश करो और अपनी प्रजाका उद्धार करो ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको यज्ञमें बुलाओ, जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न हो उन वरोंको तुम प्राप्त होगे और उससे यथेष्ट समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहां यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको परास्त करो और सर्व वीरोंसे युक्त धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुषाओंको दूर फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो, स्वजातियोंको धनसंपत्तिसे युक्त करो और शत्रुओंको दबा दो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद्भराय ।
तासां गृह्णीताद्यतमा यज्ञिया असन्विभाज्यं धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥
एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥
ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित्प्रजाविदुग्रः पशुविद्वीरविद्वो अस्तु ॥ १५ ॥
अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ— हे नारि ! (परा इहि) दूर जा और (पुनः क्षिप्रं एहि) फिर शीघ्र आ जा। (अपां गोष्ठः भराय त्वा अधि अरुक्षत्) जलोंका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है। (तासां यतमाः यज्ञियाः असन्) उनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके लिये योग्य जल हैं, उनको (गृह्णीतात्) स्वीकार कर और (धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्) बुद्धिसे इतरोंको पृथक् करके छोड दे ॥ १३ ॥

(इमाः योषितः शुम्भमानाः आ अगुः) ये स्त्रियाँ सुशोभित होकर यहां आई हैं। हे नारि ! (उत्तिष्ठ तवसं रभस्व) उठ और बलसे युक्त हो। तू (पत्या सुपत्नी) उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो, (प्रजया प्रजावती) उत्तम संतानसे प्रजावाली हो, (यज्ञः त्वा आ अगन्) यज्ञ तेरे पास पहुंचा है, (कुम्भं प्रति गृभाय) घडेको ग्रहण कर ॥ १४ ॥

हे (आपः) जलो ! (यः वः ऊर्जः भागः पुरा निहितः) जो तुम्हारा बलवान् भाग पहिले रखा गया है, (ऋषि-प्रशिष्टाः एताः आभर) ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ। (अयं यज्ञः वः) यह यज्ञ तुम्हारे लिये (गातुवित् नाथवित् प्रजावित्) मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, (उग्रः पशुवित् वीरवित् अस्तु) उग्रता देनेवाला, पशु देनेवाला और वीरता बढानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! (यज्ञियः शुचिः तपिष्ठः चरुः त्वा अधि आरुक्षत्) यज्ञके योग्य, पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त अन्न तुझे प्राप्त हुआ है, अतः तू (एनं तपसा तप) इसको अपनी उष्णतासे तपा। (आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः) ऋषियों और देवोंसे उत्पन्न तपनसामर्थ्य (इमं भागं अभिसंगत्य ऋतुभिः तपन्तु) इस अन्नभागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल तपावे ॥ १६ ॥

भावार्थ— स्त्री अपने घरके पास सब ओर घूमकर देखे। जलका स्थान जहां हो, वहांसे जल भर लावे। जो जल उत्तम हो वही ले आवे। अन्य जल दूर रखे ॥ १३ ॥

स्त्रियां सुंदर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहें। स्त्रियां उत्तम पति प्राप्त करें, सुपुत्र उत्पन्न करें, घरका सौंदर्य बढावें और उत्तम जलसे घडे भर रखे ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढानेवाला हो वही लाया जावे। घर घरमें यजन होता रहे। यही मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्र-जाकी उत्पत्ति करनेवाला, बल बढानेवाला, पशुओंकी वृद्धि करनेवाला वीरभाव और बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजस्विता बढानेवाला है, यह अन्न देवताओंको अर्पण किया जावे और इससे संगठित होकर अपना तपःप्रभाव बढावें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान्पशून्नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥
उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १९ ॥
सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान्बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥
उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ— (इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः) ये शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियाँ (शुभ्राः आपः चरुं अवसर्पन्तु) और स्वच्छ जल इस अन्नके पास आवें । और (नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः) हमें संतान और उत्तम पशु देवें । (ओदनस्य पक्ता सुकृतां लोकं एतु) अन्नका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

(ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः) ज्ञानसे पवित्र और जलसे या घीसे पवित्र हुए (सोमस्य अंशवः तण्डुलाः) ये सोमके भाग चावल हैं । हे (आपः) जलो ! (प्रविशत) तुम अन्दर प्रविष्ट हो जावो, (वः रुचः प्रति गृह्णातु) तुम्हें यह अन्न प्राप्त हो, (इमं पक्त्वा सुकृतां लोकं एत) इसको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥१८॥

(उरुः महता महिम्ना प्रथस्व) बडा होकर बडे महत्त्वके साथ फैल जा । (सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके) हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज । (पितामहाः पितरः प्रजा उपजा) पितामह, पितर, संतानें और उनकी संतानें ऐसा क्रम चले । (अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि) मैं पकानेवाला पंद्रहवां होऊं ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः शतधारः अक्षितः) हजारों पीठोंवाला सैंकडों धारोंवाला अक्षय (ब्रह्मौदनः देवयानः स्वर्गः) ज्ञान बढानेवाले अन्नसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है । (ते अमून् आदधामि) तेरे लिये इनको मैं धारण करता हूं । (एनान् प्रजया बलिहाराय रेषय) इनको संतानके साथ कर देनेके लिये प्रेरित कर । ये सब (मह्यं एव मृडतात्) मुझे ही सुखी करें ॥ २० ॥

(वेदिं उदेहि) वेदिको उठा, (एनां प्रजया वर्धय) इसकी प्रजासे उन्नति कर । (रक्षः नुदस्व) शत्रुओंको भगा, (एनां प्रतरं धेहि) इसको विशेष रीतिसे धारण कर । (समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम) सब समानोंमें धनसे अधिक हम हों । मैं (द्विषतः अधः पदं पादयामि) शत्रुओंको नीचे गिराता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ— ये स्त्रियां शुद्ध और पवित्र संमानके लिये योग्य हैं, ये उत्तम अन्न तैयार करें । हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों, उत्तम अन्नका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल उनके साथ मिले । सब मिलकर पकाया जावे । सब लोग इससे आनंद प्राप्त करें ॥ १८ ॥

महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो । पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिक्रमसे अखंड वंशका विस्तार होता रहे । हरएकको अपने पंद्रह वंशपुरुषोंका ज्ञान हो और वह कहे कि मैं फलानेमें पंद्रहवां हूं ॥ १९ ॥

यह अन्न ही स्वर्ग है इस अन्नसे इस सबका धारण पोषण होता रहे । ये सब सुखकी वृद्धि करे और उनकी संतानें अन्योंसे कर लेनेवाली वीर बनें ॥ २० ॥

यज्ञ करो, प्रजाकी वृद्धि करो, शत्रुओंको दूर भगाओ, स्त्रियोंको धारण करो, स्वजातियोंको धनसे समृद्ध करके उनसे भी अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङ्ङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥
अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥
शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान्प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः ॥ २५ ॥
सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान्ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ— (एनां पशुभिः सह अभि आवर्तस्व) इस स्त्रीको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और (एनां देवताभिः सह प्रत्यङ् एधि) इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष बढा। (त्वा शपथः मा प्रापत्) तुझे शाप न मिले। (अभिचारः मा) वध न प्राप्त हो। (स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज) अपनी भूमिमें नीरोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

(ऋतेन त्वष्टा) सत्यसे निर्मित, (मनसा हिता) मनसे सुरक्षित (ब्रह्म-ओदनस्य एषा वेदिः) ज्ञान बढानेवाले अन्नकी यह वेदी (अग्रे विहिता) आगे स्थापित है। हे (नारि) नारि! (शुद्धां अंसद्रीं उपधेहि) शुद्ध थालीको ऊपर रख, और (तत्र देवानां ओदनं सादय) वहां देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

(भूतकृतः सप्त-ऋषयः) भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने (अदितेः हस्तां यां एतां द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्) अदिति माताके दूसरे हाथको दूसरा चमस बनाया है। (सा दर्विः ओदनस्य गात्राणि विदुषी) वह कडछी अन्नके भागोंको जानती हुई (एनं वेद्यां अधि चिनोतु) इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

(त्वा श्रृतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु) तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठें। (अग्नेः निः सृज्य पुनः एनान् प्रसीद) अग्निसे चलकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। (सोमेन पूतः ब्रह्मणां जठरे सीद) सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें जा, (ते प्राशितारः आर्षेयाः मा रिषन्) तुझे खानेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे (सोम राजन्) राजा सोम! (यतमे सुब्राह्मणाः त्वा उपसीदन्) जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठें, (एभ्यः संज्ञानं आवद) इनको उत्तम ज्ञान दे। (तपसः अधिजातान् आर्षेयान् ऋषीन्) तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्रोंको ऋषिजनोंको (ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि) ज्ञान बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने योग्योंको भी बुलाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ— देवता और गौ आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रख, शाप तुझे कष्ट न दें। वधसे तुझे दुःख न हों, अपनी मातृभूमिमें नीरोग होकर विराजता रह ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंके अर्पण कर ॥ २३ ॥

जगत् बतानेवाले सप्त-ऋषियोंने यह कडछी बनाई है। इस कडछीसे वारंवार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥

अन्न तैयार करके उसे देवताओंको समर्पित कर, उससे वे प्रसन्न हों, सोमके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और खानेवाले पुष्ट हों ॥ २५ ॥

जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको सोम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषिलोगोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

*

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥
इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥
अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥
श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात्परमापद्य यद्वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥ ३० ॥
बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद्वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

अर्थ—(इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः) ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं । इनको (ब्रह्मणां हस्तेषु पृथक् प्रसादयामि) ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग देता हूं । (यत्कामः अहं वः इदं अभिषिञ्चामि) जिस कामनासे मैं तुम देवताओंको तृप्त करता हूं (मरुत्वान् स इन्द्र मे इदं ददात्) मरुतोंके साथ रहनेवाला वह इन्द्र मुझे वह देवे ॥ २७ ॥

(इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्वं अमृतं ज्योतिः) यह सुवर्ण मेरे खेतसे पका हुआ अमर तेजही है । (एषा मे कामदुघा) यह मेरी इच्छाके अनुसार दुही जानेवाली गौ है । (ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे) ब्राह्मणोंको यह धन देता हूं (यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृण्वे) जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूं ॥ २८ ॥

(जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वप) जातवेद अग्निमें तुषाओंको डाल, (कंबूकान् दूरं अपमृड्ढि) छिलकोंको दूर फेंक दे, (एतं गृहराजस्य भागं शुश्रुम) यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं। (अथो निर्ऋतेः भागधेयं विद्म) इससे विपरीतका भाग अधोगतिका है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

(श्राम्यतः पचतः सुन्वतः विद्धि) परिश्रमी, अन्न पकानेवाले और औषधिरस निकालनेवालोंको तू जान । (एनं स्वर्गं पन्थां अधिरोहय) इसको स्वर्गके मार्गपर चढा । (येन परं वयः आपद्य) जिससे परम आयुको प्राप्त होकर (उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्) उत्तम स्वर्गरूप परम आकाशपर जा सके ॥ ३० ॥

हे अध्वर्यु ! (बभ्रेः एतत् मुखं विमृड्ढि) इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर । (प्रविद्वान् आज्याय लोकं कृणुहि) जानता हुआ घीके लिये स्थान बना । (घृतेन सर्वा गात्रा विमृड्ढि) घीसे सब गात्र स्वच्छ कर । (यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृण्वे) जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये ठीक करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थ— शुद्ध पवित्र संमान योग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय । अर्थात् एक एक ब्राह्मण एक एक स्त्रीका पाणिग्रहण करे । जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह खेतमें पका हुआ उत्तम धान्य है । यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूं। यह स्वर्गका ही मार्ग है ॥२८॥

अग्निमें तुषाओंको रख और छिलकोंको दूर फेंक । शेष उत्तम धान्य घरका राजा है, उसको सुरक्षित रख । अन्यथा विनाशका समय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो, अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो, इससे स्वर्गसुख मिलेगा, आयु बढेगी और श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

बर्तन स्वच्छ करके उसमें घी भरकर रखो । घीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

वभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
परीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः ॥ ३२ ॥
आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ ३३ ॥
यज्ञं दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥
वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान्गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ ३५ ॥
समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥
येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन्ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ— हे (वभ्रे) बर्तन! (यतमे ब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्) जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं (एभ्यः स-मदं रक्षः आवप) इन सबसे घमंडवाले राक्षसोंको दूर कर। (ते प्राशितारः पुरीषिणः) तेरा प्राशन करनेवाले अन्नवाले (प्रथमानाः आर्षेयेयाः पुरस्तात् मा रिषन्) यशस्वी ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ॥ ३२ ॥

हे (ओदन) अन्न! (आर्षेयेषु त्वा निदधे) ऋषिपुत्रोंमें तुझे रखता हूं। (अनार्षेयाणां अपि अत्र न अस्ति) जो ऋषिसंतान नहीं हैं उनका भाग यहां नहीं है। (मे गोप्ता अग्निः) मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है। (सर्वे मरुतः विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु) सब मरुत् और सब देव इस परिपक्वकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदं इत्) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्ध (रयीणां सदनं धेनुं) संपत्तिका घर ऐसी गौ है। (त्वा पुमांसं) तुझ पुरुषके पासकी (पोषैः प्रजाऽमृतत्वं उत दीर्घं आयुः) पुष्टियोंसे प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु (रायः च उप सदेम) और धन लेकर आते हैं ॥ ३४ ॥

(वृषभः असि) तू बलवान् है, तू (स्वर्गः असि) सुखदायक है। (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा, (सुकृतां लोके सीद) पुण्यवानोंके स्थानमें रह। (तत्र नौ संस्कृतं) वहां हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ ३५ ॥

हे अग्ने! (सं आ चिनुष्व) संगठन कर, (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर जा। (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर। (एतैः सुकृतैः सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ सात किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले इस (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जायें ॥ ३६ ॥

(येन ज्योतिषा देवाः द्यां उदायन्) जिस ज्योतिसे देव स्वर्गको पहुंचे, (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए (तेन स्वः आरोहन्तः) उससे स्वर्गपर चढते हुए हम (उत्तमं नाकं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेष्म) प्राप्त हों ॥ ३७ ॥

भावार्थ— जो ब्राह्मण आवे उनसे शत्रुओंको दूर भगा दो। उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पित करो, जिससे वे पुष्ट हों ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणोंको अन्न दो, यहां दूसरोंका काम नहीं है। इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥

गौ सब संपत्तियोंका घर है, इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

बलवान् बनो, स्वर्ग प्राप्त करो, ऋषियोंके पीछे चलो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥

संगठन करो, अनुकूल बनो, देवमार्गोंसे जाओ, सुकृत करो, सूर्यकिरणोंके स्थानमें रहो, यज्ञ करो, यही सुखदायक मार्ग है ॥ ३६ ॥

तेजके साथ पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्गपर चढो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

ब्रह्मौदन

ज्ञान बढानेवाला अन्न

ब्रह्मका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको ब्रह्मौदन कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल, उत्तम दूध सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिवर्धक औषधियोंके रस इसमें संमिलित होते हैं, इससे ज्ञानकी वृद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टि भी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है, क्योंकि इससे वीर्यकी वृद्धि होनेके कारण गृहस्थसुखकी प्राप्ति भी होती है।

गृहस्थियोंका सुप्रजा निर्माण करनेका एक मुख्य कार्य है। उसके लिये स्त्रियोंको 'पुत्रकामा अदिति' का आदर्श पालन करना चाहिये। सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भाव हटाने चाहिये। घरमें और अपने राज्यमें अदीन होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श सम्पूर्ण आर्य-स्त्रियोंके सम्मुख है। उसमें केवल सत्पुत्रोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो उनकी बुद्धि विकसित हो एतदर्थ वह पर्याप्त परिश्रम करती है। यही आदर्श आर्यस्त्रियोंको अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे सब जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो सब विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विज्ञान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेकबार आया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं।

द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि यज्ञके लिये अग्नि प्रदीप्त करो, द्रोहरहित भाषण करो। यह वाग्यज्ञ है और दूसरा हवनयज्ञ है। इन दोनों यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती है। द्रोह न करना ही बडाभारी यज्ञ है। इन सब प्रकारके यज्ञोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो (पृतनाषाद् सुवीरः) समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर होंगें। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

शत्रुओंको परास्त करना

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके बिना मनुष्य क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसलिये वेद यहां शत्रुनिर्दलनपर इतना जोर दे रहा है।

तीसरे मन्त्रमें कहा है (महते वीर्याय अजनिष्ठः) मनुष्य महान् पुरुषार्थ करनेके लिये यहां उत्पन्न हुआ है। पुरुषार्थ करके अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे और (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहां वेदका महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेको नहीं कहता, अपितु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करनेको भी कहता है, क्योंकि वीरताके विना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकेगा।

आगे चतुर्थ मन्त्रमें कहते हैं कि यज्ञके योग्य देवोंको यज्ञमें बुलाओ। यहाँ सहायकोंको और सन्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है। जैसे (सातघ्नो देवान् निषेध। अथर्व. ३।१५।५) लाभका नाश करनेवाले देवोंका निषेध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोधकोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मन्त्रमें कहा है कि अन्नमें देवों, पितरों और मानवोंका भाग होता है। वह जिसका हो उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका भाग दूसरेको देना उचित नहीं, वही अन्याय और अधर्म है। मनुष्य अपने अन्नमेंसे यथायोग्य भाग उनको देवे और पश्चात् शेषका स्वयं भोग करे।

षष्ठ मन्त्रका कथन है कि मनुष्य (सहस्वान्) बलवान् बने, सशक्त बने, (अभिभूः) शत्रुका पराभव करनेवाला बने। और (सपत्नान् नीचः न्युब्ज) शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे, उनको उठने न दे, इतना ही नहीं अपितु उनको (बलिहृतः) करभार देनेवाला बनावे। अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें। इतनी शक्ति इसको अपने अन्दर बढानी चाहिये।

सप्तम मन्त्रमें (महते वीर्याय) बडा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है। तृतीय मन्त्रमें यही बात कही थी,

वह फिर यहां दुहराई है। क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बडा ही ऊंचा है। (पयसा) हरएकको चाहिए कि वह दूध पीकर बलवान् बने और बडा पराक्रम करे। इसी तरह स्वर्गलोकका मार्ग खुल जाता है।

आगेके तीन मंत्रोंमें पत्थरों द्वारा सोमरस निकालनेका वर्णन है। यह सोमरस सब प्रकारसे मनुष्योंका स्वास्थ्य बढानेवाला और उत्साह बढानेवाला है। यज्ञाग्निमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं। यह रस पिया जाता है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और भुने आटेके साथ मिलाकर भी खाते हैं। अनेक रीतिसे इस रसका सेवन किया जा सकता हैं।

शूरपुत्रा स्त्री

ग्यारहवें मंत्रमें आदर्श स्त्री 'शूरपुत्रा' होती है, ऐसा कहा है। स्त्रियोंको यह बात स्मरण रखनी चाहिये। पुत्र बडे शूर होने चाहिये। भीरु और डरनेवाले नहीं होने चाहिये। गृहस्थियोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि (सर्ववीरा रयि) सब वीरताके गुणोंके साथ धन प्राप्त करना गृहस्थीका धर्म है। वीर पुत्र होनेपर ही सर्ववीर युक्त धन प्राप्त होना संभव हो सकता है।

बाहरवें मंत्रमें दो मंत्रभाग मुख्य है। (श्रिया सर्वान् अति स्याम) संपत्तिमें सबसे बढकर हों और (द्विषतः पदं अधः आपाजयामि) शत्रुओंका स्थान नीचे करें। आगे २१ वें मंत्रमें भी यही कहा है। संसारी मनुष्यको यही उपदेश सदा ध्यानमें धारण करने चाहिये। हरएक समय यही मार्ग मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये।

स्त्रियोंका कर्तव्य

घरमें पानी भरना प्रथम कर्तव्य है। उत्तमसे उत्तम पानी घरमें भरना चाहिये। घडा लेकर उत्तम जल भरनेका यत्न स्त्री करें, स्त्रियां मिलकर पानी भरनेके लिये जांय, उत्तम जल घरमें लाना यह (वः ऊर्जः भागः) बल देनेवाला भाग है। संतान, पशु आदिके लिये इसकी बडी आवश्यकता होती है। यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है।

सोलहवें मंत्रमें (चरुः) चावल आदि अन्न पकानेकी आयोजना करनेका उत्तम उपदेश है, (ऋतुभिः) ऋतुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय। जिसका सेवन करके सब आयुके लोग सुदृढ और दीर्घायु बनें।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावें और अन्न पकावें, यज्ञमें उपस्थित हों, सबका आतिथ्यसत्कार करें, पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और सब सुव्यवस्था करें। किसी तरह न्यूनता रहने न दें।

अठारहवें मंत्रमें चावल, घी, सोमरस आदिसे उत्तम पक्व अन्न तैयार करनेका उपदेश है। उत्तम अन्न पकाना स्त्रियोंका मुख्य गृहकृत्यही है।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है पितामह, पिता पुत्र आदि १५ पुरुषोंतक अविच्छिन्न वंश हो। घरमें ऐसा खानपान रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि वंश बीचमें न टूटे, पुरुष दीर्घायु हों और अटूट वंश हो। पंद्रह पुरुषोंतक कमसे कम वंश अटूट रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छा ही है परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे। यह सब ब्रह्मौदन अर्थात् ज्ञान बढानेवाले अन्नसे होता है। ब्रह्मौदनका अर्थ बुद्धिवर्धक अन्न है। इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे यह सीधा मार्ग दीखता है। इससे मनुष्य (रक्ष नुदस्व) राक्षसोंको दूर कर सकता है और अपने आपको आगे बढा सकता है।

आगे बाईसवें मंत्रमें कहा है कि (शपथः अभिचारः मा प्रापद्) शापों और हमलोंसे यह दूर रहे। शरीरमें रोग न हों। सब प्रकारसे कुशलता रहे। पाठक जान सकते हैं कि शरीरकी नीरोगिता शरीर शुद्ध रहनेसे होती है वाणीकी नीरोगिता शाप गालियाँ आदि न होनेसे होती है और समाजकी नीरोगिता वधादिके अपराध न होनेसे हो सकती है। शरीर, वाणी और समाज निरोग रहने चाहिये। यदि यह इच्छा है तो सर्वत्र निर्दोषता रखनी चाहिये। कुपथ्यसे शरीरमें रोग होते है, अपशब्दोंसे वाणी रोगी होती है और अपराधकी वृद्धिसे समाज रोगी होता है।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बतायी है। चौबीसवें मंत्रमें कडछीका उपयोग करके चावलोंको ठीक करनेको कहा है। पचीसवें मंत्रमें कहा है कि—

प्राशितारः मा रिषन्।

अन्न भक्षण करनेवाले कृश या रोगी न हों। अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिसे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जांय। पकानेवालेका यही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खावें

और हजम करें और पुष्ट हों। ऐसा अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाना चाहिये। यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है।

विवाह

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है। स्त्रियां (शुद्धाः पूताः योषितः यज्ञियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह वाक्य यहां बहुत ही महत्त्व रखता है। स्त्रियोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये। जहां इनकी पूजा होगी वहां पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उच्चता साध्य होगी। यह वर्णन स्त्रियोंका दर्जा समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

इन स्त्रियोंका विवाह ज्ञानियोंके साथ करना चाहिये। (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् एक एकके हाथमें एक एक स्त्री देना योग्य है। एक पुरुष अनेक स्त्रियां न करें, एक स्त्री अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे। एक स्त्री एक ही पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एक ही स्त्रीके साथ आनंदके साथ रहे। यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहां अति संक्षेपके साथ किया है। इस मंत्रका 'पृथक्' शब्द बडा महत्त्वका है। इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है।

आगे अट्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें 'कामधेनु' (कामदुघा) रखनी चाहियेयह आदेश है। घर घरमें गौका पालन होना चाहिये। कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है। घरमें छोटे बालक, वृद्ध और रोगी हों, उनका पालन इस गौके दूधसे हो। गौमाताका यह महत्त्व है। गृहस्थियोंको तीन बातोंका ख्याल करना चाहिये। (ज्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण। सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है, गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पडता है। सब ही दैनिक और सार्वकालिक व्यवहार धनसे साध्य होते हैं। अमृत नाम मोक्षका है, यही अमरत्व है। सब जगत् मृत्युसे घिरा हुआ है। उस मृत्युके पाशको तोडकर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है। सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं। इसी तरह तेजस्वी जीवन यहां व्यतीत करना चाहिये। इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृण्वे) स्वर्गीय मार्ग बनता है। स्वर्ग मार्गके ये तीन पहलू हैं। धन यहांके सुखके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहांके सन्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये। स्वर्गका वह स्वरूप यहां पाठक देखें।

गृहराज

उन्तीसवें मन्त्रमें 'गृहराजस्य भागं' गृहराजके कार्य-भागका वर्णन है। गृहराज घरका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें कौनसा कार्य होना चाहिये? उत्तर है कि तुषाओं और छिलकोंको अलग करके स्वच्छ चावलोंको अपने पास रखना चाहिये। यही नियम सर्व व्यवहारको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये। छिलकोंको हटाना और सारद्रव्यको अपने पास रखना चाहिये। पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम सिद्धिका यही एकमात्र नियम है। पढाईमें भी तत्त्वज्ञानको स्वीकार कर कच्चे ग्रन्थोंको दूर हटाना चाहिये।

एक भाग निर्ऋतिका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिका होता है। विनाश करनेवाले भागको दूर करना और उन्नतिके भागको अपने पास रखना यही सीधा सादा नियम है। जो इसपर चलेंगे वे उन्नत होंगे इसमें कोई संदेह नहीं है।

(श्राम्यतः, पचतः, सुन्वतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले, पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं, इसको जानो। परिश्रम करनेसे ही मानवोंकी उन्नति होती है; अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये, परिपक्व बनाना भी चाहिये। हरएककी परिपक्व अवस्था उत्तम होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये, तथा रसग्रहण करनेका यत्न करना चाहिये। वनस्पतिमें सारभूत रस होता है, उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये। यह उपदेश व्यापक दृष्टिसे विशेष ही उपयोगी है। स्वर्गपर चढनेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्त्वके हैं।

(घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि) घीसे सब शरीरकी मालिश करो। शरीरावयवोंकी सुस्थितिके लिये घीकी मालिश आवश्यक है। घीकी मालिश पावोंके तलोंपर करनेसे आंखें उत्तम अवस्थामें रहती हैं, संधिस्थानोंपर मालिश करनेसे संधिरोग नहीं होते, सिरपर मालिश करनेसे मस्तिष्क शान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवयवों पर मालिश करनेसे अनेक लाभ होते हैं। इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे घृतको सुसंस्कृत करनेसे घीके गुण बढ जाते हैं। ब्राह्मी घृत बनाकर उसकी मस्तकपर मालिश बुद्धि-सहायक और गर्मी हटानेवाली होती है, इसी तरह आम-लक्यादि घृत तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इनकी शरीरपर मालिश बडी लाभदायक है। यह बात इक-तीसवें मन्त्रमें कही है।

पोषक अन्न

अन्न घर घरमें पकाना चाहिये, वह पोषक अन्न होना चाहिये (प्राशितारः मा रिषन्) उस अन्नको खानेवाले कभी दुःखी न हों, कभी हिंसित न हों, कभी क्षीण न हों। ऐसा अन्न गृहस्थीके घरमें पकाया जावे यह सूचना ३२ वें मन्त्रमें की है।

जो अन्न परिपक्व किया हो वह (आर्षेयेषु निदधे) ऋषिप्रणालीके अनुसार चलनेवालोंके लिये समर्पित करना चाहिये। न कि (न अनार्षेयाणां) ऋषिप्रणालीको छोडनेवालोंके लिए, ऋषिप्रणालीको संजीवित रखनेके लिये ही हर-एकको प्रयत्न करना चाहिये।

घर कैसा हो!

घर ऐसा हो कि जहां (यज्ञं दुहानं) सदा यज्ञ होते रहें, (सदनं रयीणां) ऐश्वर्योंका स्थान हो, (प्रपीनं सदं) पुष्टि और समृद्धिका केन्द्र हो, (पोषैः प्रजाअमृतत्वं) अनेक पुष्टिसें साधनोंके साथ प्रजाजनोंको अमृतत्व देनेवाला हो। जहां (धेनु) गौ हो और धनसंपत्तियोंके साथ (दीर्घं आयुः) दीर्घायुवाले लोग हों, घर ऐसा हो। घरमें ये बातें रहें। घरमें धनकी कमी न हो, ऐश्वर्यकी समृद्धि हो, गौवें दूध देनेवाली हों, हरएक हृष्टपुष्ट हो, संस्कारसंगतिज्ञानात्मक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुःखी कष्टी न हो। यह उपदेश ३४ वें मंत्रमें है।

३५ वें मंत्रमें कहा है कि (वृषभः असि) तू बलवान् है, तू निर्बल नहीं है, तू (स्वर्गः असि) स्वर्गका अधिकारी है, तू सुखात्मक स्थानका अधिकारी है। अतः जिस मार्गसे ऋषिलोग गये और जिस मार्गसे ऋषियोंको सुखके स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तू जा। वही सुकृतियोंका लोक है, वहां जाकर रह, हमारी संस्कृतिका वही ध्येय है।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुदृढ कर, वे ही मार्ग तेरे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुकृतैः यज्ञं अनुगच्छेम) इन सुकृतोंके साथ हमको यज्ञकी ओर जाना चाहिये। सुकृत करते करते आगे बढना चाहिये। सुकृत करनेसें पीछे हटना उचित नहीं है। सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो। मनुष्य उससे पीछे न रहे।

आज जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे तेजस्वी बने हैं। अतः मनुष्यको इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठकोंको सन्मार्ग सुस्पष्ट रीतिसे दीख सकता है।

स्वर्ग और ओदन

कांड १२, सूक्त ३

(ऋषि– यमः। देवता– स्वर्गः, ओदनः, अग्निः।)

पुमा॑न्पुं॒सोऽधि॑ तिष्ठ॒ चर्मे॒हि॒ तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑।
याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं स॑मेयथु॒स्तद्वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ समा॒नम् ॥ १ ॥

अर्थ— (पुंसः पुमान्) मनुष्योंमें वीर्यवान् पुरुष तू (अधितिष्ठ) अन्योंका अधिष्ठाता बनकर विराज। (चर्म इहि) आसनपर बैठ। (तत्र ते यतमा प्रिया ह्वयस्व) वहां जो तेरे विशेष प्रिय हैं उनको बुला। (अग्रे यावन्तौ प्रथमं सं ईयथुः) पहिले जो सामर्थ्य सर्वप्रथम तुमने प्राप्त किया था (तत् वां वयः) वह तुम्हारा सामर्थ्य (यमराज्ये समानं) यमराज्यमें समान है ॥ १ ॥

भावार्थ— मनुष्योंमें जो सबसे अधिक बलवान् होगा, वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है। वैसा मनुष्य अधिष्ठाता बने। वह मुख्य आसनपर बैठे। वहां अपने हितकारी अनुयायियोंको बुलावे, सबको एकत्र मिलावे। यह मिलाप ही शक्ति उत्पन्न करता है। और इसीसे राज्यका नियंत्रण होता है। राष्ट्रमें यह शक्ति समान रीतिसे बांटी जावे, अर्थात् किसी एकमें वह अत्यधिक रीतिसे केंद्रित न होवे ॥ १ ॥

तावद्वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत्तेजस्ततिधा वाजिनानि ।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्कान्मिथुना सं भवाथः ॥ २ ॥
सर्मस्मिल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु ।
पूतौ पवित्रैरुप तद्धयेथां यद्यद्रेतो अधि वां संबभूव ॥ ३ ॥
आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥ ४ ॥
यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥ ५ ॥

अर्थ— (तावत् वां चक्षुः) वैसी बलवान् तुम्हारी दृष्टि है, (तति वीर्याणि) वैसे तुम्हारे पराक्रम हैं। (तावत् तेजः) वैसा तुम्हारा तेज है, (ततिधा वाजिनानि) और वैसे तुम्हारे बल हैं। (यदा अग्निः एधः शरीरं सचते) जब अग्नि समिधाके समान इस शरीरको प्रदीप्त करता है (अधा) तब हे (मिथुना) पतिपत्नी ! (पक्वात् संभवायः) परिपक्व होनेके पश्चात् तुम उत्पन्न होते हो ॥ २ ॥

(अस्मिन् लोके सं एतं) इस लोकमें मिलकर रहो। (देवयाने उ सं एतं) देवमार्गमें मिलकर चलो। (यमराज्येषु सं समेतं) नियन्ताके राज्यमें भी मिलकर जाओ। (यत् यत् वां रेतः) जो जो तुम दोनोंका वीर्य पराक्रम आदि (सं बभूव) मिलकर होनेवाला है, (तत्) वह (पूतौ) स्वयं पवित्र होते हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) प्राप्त करो, अपने पास बुलाओ ॥ ३ ॥

हे (पुत्रासः) पुत्रो ! (आपः अभिसंविशध्वं) जलोंमें घुसो। हे (जीवधन्याः) जीवको धन्य करनेवालो ! (इमं जीवं समेत्य) इस जीवदशाको प्राप्त होकर (तासां अमृतं भजध्वं) उन जीवदशाओंसे अमृतको प्राप्त करो। (यं ओदनं वां जनित्री पचति) जिस अमृतान्नको आपकी जननी—प्रकृति—पका रही है इसका सब (आहुः) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(वां पिता माता च) आपके माता और पिता (रिप्रात् शमलात् च वाचः निर्मुक्त्यै) पापयुक्त और मलिनता युक्त वाणीसे मुक्त होनेके लिये (यं पचति) जिसको परिपक्व कर रहे हैं, (सः शतधारः स्वर्गः ओदनः) वह सैंकडों प्रवाहोंसे सुख देनेवाला स्वर्गदायक अन्न (महित्वा उभे नभसी व्याप) अपनी महिमासे दोनों लोकोंको व्यापता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— ऐसा होनेसे ही उसकी दूरदृष्टि होगी, उससे पराक्रम होगा, उसका तेज फैलेगा और बल बढेगा। जैसे अग्नि लकडियोंका तेज बढाता है, वैसे ही यह सांघिक बल मनुष्योंका तेज बढाता है, इसीसे सब प्रकारकी शक्तियोंकी परिपक्वता होती है और इसीसे वृद्धि भी हो सकती है ॥ २ ॥

दोनों मिलकर रहें, आपसमें कभी विरोध न रखें। इस लोकमें करनेके कार्यमें, देवमार्गके प्रवासमें और यमराज्यमें भी मिलकर रहनेसे लाभ होंगे। आपसकी फूटसे ही दुःख होगा। जो कुछ वीर्य पराक्रम करना हो, वह सब स्वयं पवित्र होकर अपना संगठन करके करो ॥ ३ ॥

हे अपनी आत्माको धन्य करनेवाले साधको ! तुम अपने जीवनमें शुद्ध रहो, कभी अशुद्ध न बनो। इस जीवनको प्राप्त करके अमर बनो, तुम्हारे लिये अमृत प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी प्रकृतिमाता इस अपूर्व अमृतान्नको तैयार कर रही है ॥ ४ ॥

पापप्रवृत्ति और मलिन वाणीके दोषोंसे मुक्त होना चाहिये। यही माता, पिता और पुत्रोंको भी करना चाहिये ! सब लोग वाणीको शुद्ध करें। इसीसे सौगुणा स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, जो इह-पर लोकमें मिलनेवाला है ॥ ५ ॥

उभे नभसी उभयांश्च लोकान्ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान्मधुमान्ये अग्रे तस्मिन्पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥ ६ ॥
प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये यज्वनां अभिजिताः स्वर्गाः) जो याजकोंको प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोक हैं, उन (उभे नभसी, उभयान् च लोकान्) उन दोनों लोकोंको प्राप्त होवो। (तेषां यः मधुमान् ज्योतिष्मान्) उनमें जो मीठा और तेजस्वी स्वर्ग है, वह प्राप्त करो । (तस्मिन् अग्रे) उनमें मुख्य स्थानपर (पुत्रैः जरसि संश्रयेथाम्) पुत्रोंके साथ वृद्ध अवस्थामें आश्रय करो ॥ ६ ॥

(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं आरभेथां) पूर्व दिशाकी ओर आगे बढो, (एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते) इस लोकको श्रद्धावान् लोग प्राप्त करते हैं । (यत् वां पक्वं अग्नौ परिविष्टं) जो तुम्हारे परिपक्व फलका अग्निमें हवन किया गया है, हे (दंपती) स्त्रीपुरुषो ! (तस्य गुप्तये संश्रयेथाम्) उसकी रक्षाके लिये गृहस्थधर्मका आश्रय करो ॥ ७ ॥

(दक्षिणां दिशं अभिनक्षमाणौ) दक्षिण दिशाकी ओर अपना कदम बढाते हुए (एतत् पात्रं अभिपर्यावर्तेथां) इस पात्रके चारोंओर भ्रमण करो । (तस्मिन् वां) उसमें तुमको (पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ हरनेवाला यम (पक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) परिपक्व होनेके लिये बहुत सुख प्रदान करे ॥ ८ ॥

(इयं प्रतीची) यह पश्चिमदिशा है (इत् दिशां वरं) यह दिशाओंमें श्रेष्ठ दिशा है । (यस्यां सोमः अधिपा मृडिता च) जिस दिशामें सोम अधिपति और सुखदाता है, (तस्यां श्रयेथां) उसमें आश्रय करो और (सुकृतं सचेथां) सुकृतको प्राप्त होवो । (हे मिथुनौ अधा पक्वात् सं भवाथः) हे स्त्रीपुरुषो ! पश्चात् परिपक्व होनेपर मिलकर उन्नतिको प्राप्त होवो ॥ ९ ॥

भावार्थ— यज्ञकर्ताओंको जो शुभलोक प्राप्त होते हैं उनमें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ स्थान है, जो अधिक सुखदायी और अधिक तेजस्वी है, उसको प्राप्त करके वृद्ध अवस्थामें पुत्रोंके समेत वहां आनंदसे रहो ॥ ६ ॥

श्रद्धासे प्रकाशकी दिशासे आगे बढो, श्रद्धासे ही उन्नति प्राप्त होती है । जो कुछ परिपक्व फल है उसकी रक्षा करनेका यत्न मिलकर करो ॥ ७ ॥

गृहस्थाश्रममें दक्षताकी दिशासे आगे बढते हुए अपनी पात्रताके केन्द्रके साथ रहो । वहां तुम्हारी परिपक्वता होनेके लिये नियामक देव तुम्हारी सहायता करेगा । वही तुम्हें सुख देता हुआ आगे ले जायगा ॥ ८ ॥

पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है, यहां सोमदेव सुख देता है । इसमें-गृहस्थाश्रममें-विश्राम करके अच्छे कर्म करो और अपने आपको परिपक्व करते हुए उन्नत हो जाओ ॥ ९ ॥

*

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥
पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥ १२ ॥
यद्यत्कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन्विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥ १३ ॥
अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम् ॥ १४ ॥

अर्थ— (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्) श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है। (उदीची दिशां नः अग्रं कृणवत्) यह उत्तर दिशा हमको आगे बढावे। (पुरुषः पाङ्क्तं छन्दः बभूव) मनुष्य पंचविध छन्दवाला होता है। हम सब (विश्वैः विश्वांगैः सह सं भवेम) सर्व अंगोंके साथ परिपूर्ण उन्नत हों ॥ १० ॥

(इयं ध्रुवा विराट्) यह ध्रुवा दिशा बडी शोभादायक है। (अस्यै नमः अस्तु) इसके लिये नमस्कार हो। (पुत्रेभ्यः उत मह्यं शिवा अस्तु) पुत्रोंके लिये और मेरे लिये शुभ हो। हे (विश्ववारे अदिते देवि) विश्वका हित करनेवाली अन्न देनेवाली देवी। (सा नः इर्यं इव) वह तू हमें अन्नके समान (गोपाः पक्वं अभिरक्ष) सुरक्षित करती हुई परिपक्व करके सुरक्षित कर ॥ ११ ॥

(पिता इव पुत्रान् नः अभि सं सजस्व) जैसे पिता पुत्रोंसे मिलता है वैसे ही सबसे मिल। (इह भूमौ नः वाताः शिवाः वान्तु) इस भूमिमें हमारे लिये शुभ वायु बहती रहें। (इह यं ओदनं देवते पचतः) यहां जिस अन्नको ये दो देव पकाते हैं। वे (तं नः तपः सत्यं च वेत्तु) उस हमारे तप और सत्यको जाने ॥ १२ ॥

(यत् यत् कृष्णः शकुनः इह आगत्वा) यदि काला पक्षी-कौवा-यहां आकर (त्सरत् विसक्तं बिले आससाद) हिलता हुआ छिपछिपकर अपने बिलमें-घरमें-घुसकर बैठ जाय, (यत् वा आर्द्रहस्ता दासी) अथवा यदि गीले हाथोंवाली दासी (उलूखलं मुसलं समंक्त) ऊखल और मूसलको गीला करे, (आपः शुम्भत) वह जल हमें पवित्र करे ॥ १३ ॥

(अयं ग्रावा पृथुबुध्नः वयोधाः) वह पत्थर विशाल आधारवाला अन्न देता है-अन्न कूटकर तैयार कर देता है (पवित्रैः पूतः रक्षः अप हन्तु) पवित्रता करनेवाले साधनोंसे पुनीत होता हुआ वह दुष्टोंका नाश करे। (चर्म आरोह) चर्मपर बैठ (महि शर्म यच्छ) बडा सुख दे। (दम्पती पौत्रं अघं मा निगातां) स्त्रीपुरुषोंपर पुत्रका पाप न आवे ॥ १४ ॥

भावार्थ— प्रजाकी उन्नतिसे राष्ट्र अधिक ऊंचा होता है। अधिक ऊंचा होना ही उत्तर (उन्नतर) दिशाका संदेश है। मनुष्योंके पांच भेद और उनकी सर्वांगीण संगठनसे ही हो सकती है ॥ १० ॥

यह ध्रुव दिशा है, यह अन्न देनेवाली पृथ्वी है, इस मातृभूमिके लिये मेरा नमस्कार है। यह मुझे और मेरी संतानोंके लिये शुभ होवे। यह हमारी उत्तम रक्षा करे ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पिता पुत्रोंको प्यार करता है वैसे प्यार सब परस्पर करें। हमें जलवायु हितकारी हों। यज्ञके लिये अन्नका परिपाक करनेवाले तप और सत्यका महत्व जानें ॥ १२ ॥

यदि कौवा आकर एकदम अपने घोंसलेमें घुसे अथवा गीले हाथसे दासी ऊखलमूसलको गीला करे, तो वह दोनों योग्य नहीं हैं, अर्थात् गीले हाथसे कोई इनको स्पर्श न करे ॥ १३ ॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥ १५ ॥
सप्त मेधान्पशवः पर्यगृह्णन्य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श ।
त्रयस्त्रिंशद्देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥ १६ ॥
स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ १७ ॥
ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ— (वनस्पतिः देवैः सह नः आगन्) वृक्ष सब देवशक्तियोंके साथ यहां हमारे पास आया है। (रक्षः पिशाचान् अप बाधमानः) वह राक्षसों और पिशाचोंको दूर करता है । (स उच्छ्रयातै वाचं प्रवदति) वह ऊंचा उठता है और घोषणा करता है, कि (तेन सर्वान् लोकान् अभिजयेम) उससे सब लोकोंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

(पशवः सप्त मेधान् परि अगृह्णन्) पशु सातों यज्ञोंको घेरते हैं। (त्रयः त्रिंशत् देवताः तान् सचन्ते) तैंतीस देवता उनका सेवन करते हैं । (यः एषां ज्योतिष्मान् उत यः चकर्श) जो इनमें तेजस्वी और जो इनमें सूक्ष्म होता है (सः नः स्वर्गं लोकं अभिनेष) वह सोम हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे ॥ १६ ॥

(नः स्वर्गं लोकं अभिनयसि) हमें तू स्वर्गलोकमें पहुंचाता है (जायया पुत्रैः सह स्याम) स्त्री और पुत्रों के साथ हम यहां सुखसे रहें। (हस्तं गृह्णामि) जिसका मैं पाणिग्रहण करूं वह स्त्री (मा अत्र अनु एतु) मेरा यहां अनुसरण करे । (निर्ऋतिः अरातिः नः तारीत्) दुर्गति और शत्रु हमें कष्ट न देवें ॥ १७ ॥

(तां पाप्मानं ग्राहिं) उस पापसे उत्पन्न होनेवाले रोगको (अति अयाम) पार करें । (तमः व्यस्य वल्गु प्रवदासि) अंधेरेको दूर करके मनोहर वचन बोलें । हे (वानस्पत्य) वनस्पतिसे बने हुए! तू (उद्यतः मा जिहिंसीः) उठकर हिंसा मत कर । (मा तंडुलं) चावलका नाश न कर । (देवयन्तं मा वि शरीः) देव बननेकी इच्छा करनेवालेका नाश न कर ॥ १८ ॥

भावार्थ— पत्थरोंका ऊखल और मूसल धान स्वच्छ करनेके लिये अच्छा है । पहिले पानी आदिसे धान स्वच्छ करो और फिर उनका उपयोग करो। किसी चर्म आदिपर रखो और कूटो। कूटनेसे सब दोष दूर होंगे और वह धान हितकारी होगा। इससे स्त्रीपुरुषोंको पुत्रके नाशका दुःख सहना न पडेगा अर्थात् पुत्र शीघ्र नहीं मरेंगे ॥ १४ ॥

वनस्पति सब रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचोंको दूर करती है, उसकी घोषणा है कि उसके बलसे सब सुख प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥

सातों यज्ञोंमें गौ आदि पशुओंके घृत आदि पदार्थोंका उपयोग होता है । तैंतीस देवताओंका इन यज्ञोंमें संबंध आता है । शुक्लपक्षमें तेजस्वी होनेवाला और कृष्णपक्षमें क्षीण होनेवाला सोम अर्थात् यज्ञ हमें स्वर्गलोकमें पहुंचावे ॥ १६ ॥

मृत्युके पीछे हम स्वर्गको प्राप्त हों तबतक यहां स्त्री और पुत्रोंके साथ आनंदसे रहें । मैं जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करूं वह स्त्री मेरे साथ मेरी अनुगामिनी होकर रहे । हमें कोई दुर्गति और शत्रु कभी कष्ट न देवे ॥ १७ ॥

हीन आचारसे रोग उत्पन्न होते हैं, उनको दूर करना चाहिये । अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये । मनोहर भाषण बोलना चाहिये । वृक्षसे बना ऊखलमूसल किसीका नाश न करे, उसमें चावलोंका भी नाश न हो । दैवी शक्ति प्राप्त करनेके इच्छुकका कभी नाश न हो ॥ १८ ॥

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद्विनक्तु ॥ १९ ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम् ।
अंशून्गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥ २० ॥

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥ २१ ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद्वपामि ॥ २२ ॥

अर्थ— (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) चारों ओर विस्तृत तथा घीसे युक्त होता हुआ (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) एक स्थानमें उत्पन्न हुआ तू इस लोकको प्राप्त हो। (वर्षवृद्धं शूर्पं उपयच्छ) एक वर्षका सूप पास ले और (तत् तुषं पलावान् विनक्तु) उस तुषा और तिनकोंको दूर कर ॥ १९ ॥

(ब्राह्मणेन त्रयः लोकाः संमिताः) ब्राह्मणके ज्ञानसे तीनों लोक प्राप्त हुए हैं। (असौ द्यौः एव, पृथिवी अन्तरिक्षं) यह द्यु, यह अन्तरिक्ष और यह पृथ्वी है। (अंशून् गृभीत्वा अनु आरभेथां) धान्यके अंशोंको लेकर अनुकूलतासे फटकना आरंभ करो और (आप्यायतां) वृद्धिको प्राप्त हो तथा (पुनः शूर्पं आयन्तु) फिर छाजपर शुद्ध होनेके लिये धान लिया जावे ॥ २० ॥

(पशूनां पृथक् बहुधा रूपाणि) पशुओंके पृथक् पृथक् अनेक रूप हैं, तथापि (समृद्ध्या एकरूपः भवसि) अपनी महिमासे सोम एकरूप होता है (मलगः वस्त्रा इव) जैसे धोबी वस्त्रोंको शुद्ध करता है और धोनेका (ग्रावा शुंभाति) पत्थर भी शुद्ध करता है उसी प्रकार (एतां तां लोहिनीं त्वचं नुदस्व) इस लाल त्वचाको दूर करके शुद्ध करता है ॥ २१ ॥

(त्वा पृथिवीं पृथिव्यां आवेशयामि) पृथ्वीतत्वको पृथ्वीमें ही स्थापित करता हूं। (एष ते विकृता तनूः) यह तेरी (सृष्टिरूपी) विकृत हुई तनू है। दूसरी तेरी (समानी) समानी अर्थात् न बिगडी हुई (प्रकृतिरूप) तनू है। (यत् यत् द्युत्तं अर्पणेन लिखितं) जो कुछ पहिननेसे घिसा या खुर्चा गया है, (तेन मा सुस्रोः) उस कारण वह न चुवे (तत् ब्रह्मणा अपि वपामि) वह ज्ञानद्वारा ठीक करता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थ— अच्छा फैला हुआ छाज हाथमें लेकर धानसे तुषा और तिनकोंको दूर करके उत्तम धानका संग्रह करना चाहिए ॥ १९ ॥

ब्राह्मणके ज्ञानसे भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोककी प्राप्ति होती है। वैसे ही छाजसे धान्य स्वच्छ होता है, तुषा दूर होती है और उत्तम स्वच्छ धान मिलता है। इस तरह वारंवार धान्य स्वच्छ करना योग्य है ॥ २० ॥

पशुओंमें अनेक रंगरूप हैं परंतु औषधि एक होती है। यही औषधि चमडीको इसी प्रकार ठीक करती है जिस प्रकार धोबी कपडे धोनेका पत्थर भी साफ करता है ॥ २१ ॥

पृथ्वीमें पृथ्वीतत्व है, इसी तरह अन्य तत्त्व अन्योंमें हैं। मूल प्रकृति गुणसाम्या है, उससे बिगडकर यह सृष्टि बनी है, अतः यह विकृति है। उपयोगसे इसमें बिगाड होता है। ज्ञानसे यह विकृति कम की जा सकती है ॥ २२ ॥

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥ २३ ॥
अग्निः पचन्रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान् ।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात्त्वा सोमः सं ददातै ॥ २४ ॥
पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद्दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् ।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥ २५ ॥
आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥ २६ ॥
उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥ २७ ॥

अर्थ—(जनित्री सूनुं इव) जननी जैसे अपने पुत्रको लेती है वैसे ही गृहपत्नी (त्वा प्रति हर्यासि) तुझे प्यार करती है। (पृथिवीं पृथिव्या संदधामि) पृथ्वीतत्त्वको पृथ्वीके साथ मिलाता हूं। (उखा कुंभी वेद्यां मा व्यथिष्ठाः) घडे और बर्तन आगपर न टूटें (यज्ञायुधैः आज्येन अतिषक्ता) वे यज्ञसाधनों और घृतादिमें सिंचित हुए हैं ॥ २३ ॥

(पचन् अग्निः पुरस्तात् त्वा रक्षतु) पकानेवाला अग्नि तेरी आगेसे रक्षा करे। (मरुत्वान् इन्द्रो दक्षिणतः रक्षतु) मरुतोंके साथ इन्द्र दक्षिणको ओरसे रक्षा करे। (प्रतीच्याः वरुणः धरुणे त्वा दृंहात्) पश्चिमसे वरुण तुझे आधारके स्थानमें सुदृढ करे। (सोमः त्वा उत्तरात् संददातै) सोम तुझे उत्तर दिशासे जोडकर सुरक्षित रखे ॥ २४ ॥

जलधाराएं (पवित्रैः पूताः अभ्रात् पवन्ते) पवित्रसे पुनीत होकर मेघोंसे बरसकर सबको पवित्र करती हैं ! (दिवं पृथिवीं च लोकं यन्ति) द्यु और पृथिवीको प्राप्त होती हैं। (ताः जीवलाः जीवधन्याः प्रतिष्ठाः) उन जीवन देनेवाली और जीवको धन्यता देनेवाली तथा सबको आधार देनेवाली (पात्रे आसिक्ताः) पात्रमें डाली गई जलधाराओं को (अग्निः परि इन्धां) अग्नि चारों ओरसे तपावे ॥ २५ ॥

(दिवः आयन्ति) जलधाराएं द्युलोकसे आती हैं (पृथिवीं सचन्ते) पृथ्वीपर एकत्रित होती हैं, (भूम्याः अन्तरिक्षं अधिसचन्ते) भूमिसे बाष्परूपसे अन्तरिक्षमें जमा होती हैं। वे (शुद्धाः सतीः ताः उ शुंभन्त एव) शुद्ध हुए जल सबको पवित्र करते हैं। (ताः नः स्वर्ग लोकं अभिनयन्तु) वे हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावें ॥ २६ ॥

(उत एव प्रभ्वीः, उत संमितासः) जल निश्चयसे प्रभावयुक्त और संमत हैं (उत शुक्राः शुचयः अमृतासः च) और वे बलवर्धक, पवित्र और अमृत हैं। (ताः प्रतिष्ठाः सुनीथाः आपः) वे उत्तम शिष्टसंमत उत्तम लाये जल (दंपतीभ्यां ओदनं पचत) स्त्रीपुरुषके लिये चावल पकाते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ— माता पुत्रको जैसे प्यारसे पकडती है वैसे ही बर्तनोंसे बर्तना चाहिये। बर्तनोंको अव्यवस्थासे तोडना नहीं चाहिये। घडे देकची आदि बर्तनोंमें घी भरा होता है और यज्ञसाधनोंका उससे संबंध होता है ॥ २३ ॥

अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये देव पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशासे सबकी रक्षा करें ॥ २४ ॥

मेघसे वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर आया हुआ जल पात्रोंमें भरकर रखा जाता है। यह जल जीवोंको जीवन देता, तृप्त करता और धन्य बनाता है। इसको अग्नि द्वारा उष्ण किया जावे ॥ २५ ॥

जल बाष्परूपसे ऊपर जाता है और वहांसे वृष्टिरूपसे नीचे पृथ्वीपर आता है। यह शुद्ध अवस्थामें सबको शुद्ध करता हुआ सुख पहुंचाता है ॥ २६ ॥

जल प्रभावशाली, प्रशंसनीय, बलवर्धक, पवित्र और रोग दूर करनेवाला है। ऐसा उत्तम जल परिशुद्ध रीतिसे लाये हुए अन्नको पकानेमें प्रयुक्त हो ॥ २७ ॥

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥ २८ ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २९ ॥

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥ ३० ॥

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥ ३१ ॥

अर्थ— (संख्याताः स्तोकाः पृथिवी सचन्ते) गिनेचुने जलबिंदु पृथ्वीपर आते हैं। वे (प्राणापानैः ओषधीभिः संमिताः) औषधियोंके साथ मिलनेसे प्राणापानके गुणोंसे युक्त होते हैं। (असंख्याताः सुवर्णाः शुचयः) असंख्यात बिखरे हुए उत्तम रंगवाले शुद्ध जलबिंदु (सर्वं शुचित्वं व्यापुः) सब पवित्रताको व्यापते हैं ॥ २८ ॥

(तप्ताः उद्योधन्ति, अभिवल्गन्ति) तपा हुआ उबलता है, पुकारता है (फेनं बहुलान् बिन्दून् च अस्यन्ति) फेन और बुद्बुदको फेंकता है। हे (आपः) जलो ! (योषा पतिं दृष्ट्वा ऋत्वियाय संभवति) जैसे उत्सुक स्त्री पतिको देखकर ऋतुकर्मके लिये एक होती है, उसी प्रकार (एतैः तण्डुलैः संभवत) इन चावलोंके साथ तुम एक हो जाओ ॥२९॥

(बुध्ने सीदतः एनान् उत्थापय) नीचे बैठे हुए इन चावलोंको ऊपर उठाओ। (अद्भिः आत्मानं अभिसंस्पृशन्तां) जलोंके साथ वह स्वयं अच्छी तरह संयुक्त हो जाय। (यत् एतत् उदकं पात्रैः अमासि) यह जल पात्रोंसे मैंने माप लिया है। (इमाः प्रदिशः तण्डुलाः मिताः) तथा ये चारों दिशाओंमें जानेवाले चावल भी मापे हुए हैं ॥ ३० ॥

(पर्शुं प्रयच्छ) फरसा दो (त्वरय) शीघ्रता करो और (ओषं हर) यहां ले आओ और। (अहिंसन्तः ओषधीः पर्वन् दान्तु) हिंसा न करते हुए शाकको काटा जावे। (यासां राज्यं सोमः परि बभूव) इन औषधियोंके राज्यका राजा सोम है। (वीरुधः नः अमन्युता भवन्तु) औषधियां हमारे साथ क्रोधरहित हों ॥ ३१ ॥

भावार्थ— कुछ थोडे जलके बिंदु औषधियोंसे मिश्रित होकर प्राणियोंके प्राण धारण करते हैं। परंतु असंख्यात सुंदर जलबिंदु इधर उधर बिखर जाते हैं। ये ही सर्वत्र फैले रहते हैं ॥ २८ ॥

जल तप जानेपर उछलता है, शब्द करता है, बूंद और बुद्बुदोंको ऊपर फेंकता है, युद्ध करनेके समान हलचल करता है। जैसे उत्सुक स्त्री पतिके साथ मिलती है, वैसे ही यह जल चावलोंके साथ मिल जाता है ॥ २९ ॥

चावल पकानेके समय आधे पकनेपर चावलोंको नीचेसे ऊपर करना चाहिये, जिससे वे सब जलके साथ मिल जावें। पकानेके पात्रमें चावल और जल भी मिलने चाहिये ॥ ३० ॥

शाकभाजी काटनेके लिये शीघ्र अच्छा फरसा हाथमें लो, शीघ्रतासे जोड जोडपर काटो, परंतु औषधियोंका नाश न करो। ये सब शाक सोम राजाके राज्यमें हैं। इनसे ही हमारा पोषण होता है ॥ ३१ ॥

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्गवस्तु ।
तस्मिन्देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥ ३२ ॥
वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥ ३३ ॥
षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान्पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥ ३४ ॥
धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ ३५ ॥
सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान्यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन्पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ— (नवं बर्हिः ओदनाय स्तृणीत) नवीन चटाई इस चावलके लिये फैलाओ । (हृदः प्रियं चक्षुषः वल्गु अस्तु) यह सबके हृदयके लिये प्रिय और देखनेमें सुंदर हो । (तस्मिन् देवाः दैवीः सह विशन्तु) वहां देवियों समेत सब देव आ जावें । (निषद्य इमं ऋतुभिः प्राश्नन्तु) बैठकर इस अन्नको ऋतुओंके अनुसार खावें ॥ ३२ ॥

(वनस्पते स्तीर्णे बर्हिः आसीद) हे वनस्पतिसे उत्पन्न स्तंभ ! इस फैले आसनपर बैठ । तू (अग्निष्टोमैः देवताभिः संमितः) अग्निष्टोम यज्ञके देवोंसे संमानित हो । (त्वष्ट्रा स्वधित्या रूपं सुकृतं) त्वष्टा अपने शस्त्रसे तेरे रूपको सुंदर बनाता है (एना एहाः पात्रे परि ददृश्रां) ये साथवाले इस पात्रमें रहें ॥ ३३ ॥

(निधिपाः षष्ठ्यां शरत्सु) अन्नका पालक दाता साठ वर्षोंमें (पक्वेन अश्नवातै स्वः अभीच्छात्) पके अन्नके दानसे स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करे । (पितरः पुत्राः च एनं उपजीवान्) पिता और पुत्र इसपर जीवित रहें । (एतं अग्नेः अन्तं स्वर्गं गमय) इसको अग्निके पाससे स्वर्गके प्रति पहुंचा ॥ ३४ ॥

(धर्ता पृथिव्याः धरुणे ध्रियस्व) धारण करनेवाला तू अग्नि पृथिवीके आधारपर स्थिर रह । (अच्युतं त्वा देवताः च्यावयन्तु) न हिलनेवाले तुझे देवता हिला देवें । (जीवपुत्रौ जीवन्तौ दम्पती) जिनसे पुत्र जीवित हैं ऐसे जीवित स्त्रीपुरुष (तं त्वा अग्निधानात् परि उत् वासयातः) तुझे अग्निधानके स्थानसे उठा देवें ॥ ३५ ॥

(तान् सर्वान् लोकान् अभिजित्य) उन सब लोकोंको जीतकर (समागाः यावन्तः कामाः समतीतृपः) संगत हुई हुई जितनी कामनाएं थीं उन सबको तुमने तृप्त किया है । (आयवनं च दर्विः विगाहेथां) कडछी और चमचा अंदर डाल दो और (एकस्मिन् पात्रे एनं अधि उद्धर) एक ही पात्रमें इसको रखो ॥ ३६ ॥

भावार्थ— चावल पकनेपर उनको रखनेके लिये नई चटाई फैलाओ । वह ऐसी हो कि जो दीखनेमें सुंदर और हृदयके लिये प्रिय हो । यहीं सब देव आकर बैठें और यथेच्छ सेवन करें ॥ ३२ ॥

यज्ञस्तंभ अपने स्थानपर रखा जावे । वह स्तंभ बढईके हथियारोंसे बना हो । कारीगरीसे इसका रूप सुंदर बनाया गया है । इसके साथ पात्रमें यह धान रहे ॥ ३३ ॥

जो अन्नका संग्रह करके उसको पकाकर दान करता है, यदि वह साठ वर्षतक इसी प्रकार दान करता रहेगा, तो वह स्वर्गका अधिकारी होगा । इसी अन्नसे सब परिवारिक जन जीवित रहते हैं और इस अन्नका हवन अग्निमें किया जाता है, जो अग्नि इसको स्वर्गमें पहुंचाता है ॥ ३४ ॥

अग्नि सबको धारण करता है, वह भूमिपर स्थिर रहे । देवतागण उसे अपने स्थानसे हटा देवें । जिनके पुत्रपौत्र जीवित हैं ऐसे स्त्रीपुरुष अग्निस्थानसे अग्निको उठाकर हवनस्थानमें रखें ॥ ३५ ॥

उप॑ स्तृणीहि प्रथय॑ पुरस्ता॑द् घृतेन॒ पात्र॑म॒भि घा॑रयै॒तत् ।
वा॒श्रेवो॒स्रा तरु॑णं स्तन॒स्युमि॒मं दे॑वासो अ॒भिहिङ्कृ॑णोत ॥ ३७ ॥

उपा॑स्तरी॒रक॑रो लो॒कमे॒तमु॒रुः प्र॑थता॒मस॑मः स्व॒र्गः ।
तस्मि॑ञ्छ्रयातै महि॒षः सु॑प॒र्णो दे॒वा ए॑नं दे॒वता॑भ्य॒ः प्र य॑च्छान् ॥ ३८ ॥

यद्य॑ज्जा॒या पच॑ति त्वत्प॒रःप॑रः पति॒र्वा जा॑ये त्वत्ति॒रः ।
सं तत्सृ॑जेथां स॒ह वां तद॑स्तु संपा॒दय॑न्तौ स॒ह लो॒कमेक॑म् ॥ ३९ ॥

याव॑न्तो अ॒स्याः पृ॑थि॒वीं सच॑न्ते अ॒स्मत्पु॒त्राः परि॒ ये सं॑बभू॒वुः ।
सर्वां॒स्ताँ उप॒ पात्रे॑ ह्वयेथां॒ नाभिं॑ जाना॒नाः शिश॑वः स॒माया॑न् ॥ ४० ॥

अर्थ—(उपस्तृणीहि, पुरस्तात् प्रथय) घी डालो, आगे फैलाओ, (घृतेन एतत् पात्रं अभिधारय) घीसे यह पात्र भर दो। हे (देवासः) देवो। जैसे (स्तनस्युं तरुणं वाश्रा उस्रा इव) स्तन पीनेवाले बछडेको गौ चाहती है वैसे ही देव इसे (अभि हिंकृणोत) प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

तूने (एतं लोकं अकरः) इस लोकको बनाया और (उप अस्तरीः) उसको व्यवस्थित किया है। (असमः स्वर्गः उरुः प्रथतां) जिसके सदृश कोई नहीं है ऐसा यह स्वर्ग खूब फैले। (तस्मिन् महिषः सुपर्णः श्रयातै) उसमें बलवान् सुपर्ण-सूर्य-आश्रय लेता है। (एनं देवाः देवताभ्यः प्रयच्छान्) इसको देव देवताओंके लिये देते हैं ॥ ३८ ॥

(यत् यत् त्वत् परः परः जाया पचति) जो कुछ तेरेसे अलग तेरी धर्मपत्नी पकाती है, हे (जाये) स्त्री! (त्वत् तिरः पतिः वा) छिपकर पति जो कुछ करता है, (तत् संसृजेथाः) उसे तुम दोनों जानो, (तत् वां सह अस्तु) वह तुम दोनोंका साथ साथ किया हुआ हो, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) तुम दोनों एक ही लोकको साथ साथ प्राप्त करते हो ॥ ३९ ॥

(यावन्तः अस्मत् अस्याः पुत्राः) जितने मुझसे इस स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्र (ये परि संबभूवुः) जो यहां चारों ओर हैं और जो (पृथिवीं सचन्ते) मातृभूमिकी सेवा करते हैं, (तान् सर्वान् पात्रे उपह्वयेथां) उन सबको पात्रमें भोजनके लिये बुलावें। (शिशवः जानानाः नाभिं समायान्) पुत्र भी जानते हुए इस एक ही केन्द्रमें आ जावें ॥ ४० ॥

भावार्थ— स्वर्गादि सब लोकोंको यज्ञद्वारा जीतकर अपनी सब मनोकामनाओंको तृप्त करनेके लिये इस अन्नमें चमचा डालकर उसका थोडा भाग इस पात्रमें लें ॥ ३६ ॥

पात्रमें घी डालो, उसे फैलाओ, घीसे पात्र भर दो, घी चारों ओर लगाओ। उसमें अन्न रखकर वह देवताओंको दो, वे इसको उसी प्रकार स्वीकार करें, जैसे स्तन पीनेवाले बछडेको गौ स्वीकार करती है ॥ ३७ ॥

ईश्वरने इस लोकको और स्वर्गको बनाया और विस्तीर्ण करके फैलाया है। उसमें प्रकाशमान सूर्य विराजता है। सब देव इसके प्रकाशसे सुप्रकाशित होते हैं ॥ ३८ ॥

पत्नी जो करे अथवा पति जो करे वह सब मिलाया जावे, दोनोंका मिलकर एक संसार हो। दोनोंमें भेद न हो। दोनों मिलजुल कर रहें और एक ही गृहस्थधर्मकी शोभा बढावें ॥ ३९ ॥

पतिपत्नीकी जितनी सन्तानें हों भोजनके समय सबको एकत्र बुलाया जावे। क्योंकि एक केन्द्रमें आना सबको योग्य है। सब मातृभूमिकी सेवा करें ॥ ४० ॥

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥ ४१ ॥
निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥ ४२ ॥
अग्नी रक्षस्तपतु यद्विदेवं क्रव्यात्पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥ ४३ ॥
आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥ ४४ ॥
इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात्परमेष्ठी समाप ।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत्समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥ ४५ ॥

अर्थ— (याः मधुना प्रपीनाः घृतेन मिश्राः) जो मधुसे भरपूर और घीसे मिश्रित (अमृतस्य नाभयः वसोः धाराः) अमृतके केन्द्रभूत धनकी धाराएं हैं, (ताः सर्वाः स्वर्गः अवरुन्धे) उन सबको स्वर्ग अपने पास रखें। (निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु अभीच्छात्) निधिका रक्षक साठ वर्षोंकी आयुमें इसकी इच्छा करे ॥ ४१ ॥

(निधिपाः एनं निधिं अभिच्छात्) निधिका रक्षक यजमान इस निधिकी इच्छा करे। (ये अन्ये अनीश्वराः अभितः सन्तु) जो दूसरे ऐश्वर्यहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें। (अस्माभिः दत्तः स्वर्गः निहितः) हमारे द्वारा दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग सुरक्षित है। वह (त्रिभिः काण्डैः त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्) तीनों विभागोंसे तीन स्वर्गोंके ऊपर चढे ॥ ४२ ॥

(यत् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु) जो ईश्वरके विरोधी राक्षस हैं उनको अग्नि ताप देवे। (क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्रपास्त) रक्तमांसभक्षक लोग यहां जलपान भी न करें। (एनं नुदामः) इस दुष्टको हम दूर करते हैं, (अस्मत् अपरुध्मः) अपने पास इसको आने नहीं देते। (आदित्याः अंगिरसः एनं सचन्तां) आदित्य और अंगिरस इस दुष्टको पकड रखें ॥ ४३ ॥

(घृतेन मिश्रं इदं मधु) घीसे मिश्रित हुआ यह मधु (आदित्येभ्यः अंगिरोभ्यः प्रतिवेदयामि) आदित्यों और अंगिरसोंके लिये है, ऐसा कहता हूं। (शुद्ध-हस्तौ ब्राह्मणस्य अनिहत्य सुकृतौ) जो शुद्ध हाथ ज्ञानी मनुष्यका अहित नहीं करते, वे पुण्यवान् होते हैं। वे (एतं स्वर्गं अपि इतं) इस स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

(यस्मात् लोकात् परमेष्ठी समाप) जिस लोकसे परमेष्ठी परमेश्वर प्राप्त होता है (अस्य इदं उत्तमं काण्डं प्रापं) इसका यह उत्तम भाग मैंने प्राप्त किया है। (घृतवत् सर्पिः आसिञ्च, समङ्ग्धि) घीसे युक्त शहद यहां रख और मिला, (नः एषः भागः अत्र अंगिरसः) हमारा यह भाग अंगिरसोंका है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जो ऐश्वर्यके प्रवाह शहद और घीसे मिले हुए अमरत्व देनेवाले स्वर्गमें हैं, उनकी इच्छा यजमान अपनी आयुके साठ वर्ष होनेके पश्चात् करे ॥ ४१ ॥

निधिका रक्षक यजमान दान द्वारा श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करे। जो दूसरे शक्तिहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें। हमारे दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग ही यह है, जो तीनों स्वर्गोंसे श्रेष्ठ है ॥ ४२ ॥

जो ईश्वरका विरोध करते हैं, जो रक्त या मांस खाते हैं, उनको पास आने न दो, दूर रखो। ये समाजके शत्रु हैं ॥ ४३ ॥

शहद और घी सब देवताओंको दिया जावे। जो किसीकी हिंसा नहीं करते उनको पवित्र हाथ कहते हैं। वे ही स्वर्ग-प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

जहांसे परमेश्वर साधकको प्राप्त होता है, उसका उत्तम स्थान मनुष्य प्राप्त करे। घी और मधु भरपूर सेवन किया जावे और देवताओंके उद्देश्यसे अर्पण किया जावे ॥ ४५ ॥

*

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥ ४६ ॥
अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥ ४७ ॥
न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः समममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥ ४८ ॥
प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति ।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥ ४९ ॥
समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्यातपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥ ५० ॥

अर्थ— (सत्याय तपसे देवताभ्यः च) सत्य, तप और देवताओंके लिये (एतं शेवधिं निधिं परि दद्मः) इस खजानेरूपी निधिको देते हैं। (द्यूते समित्यां नः मा अव गात्) खेल और सभामें वह हमसे दूर न होवे और (मत् पुरा अन्यस्मै मा स्म उत्सृजत) मुझे छोडकर दूसरेको भी न मिले ॥ ४६ ॥

(अहं पचामि अहं ददामि) मैं पकाता हूं, मैं दान देता हूं। (मम जाया करुणे कर्मन् अधि) मेरी धर्मपत्नी दयामय कर्ममें प्रवीण है। (कौमारः पुत्रः लोकः अजनिष्ट) कुमार पुत्र इस लोकके लिये उत्पन्न हुआ है। (उत्तरावत् वयः अन्वारभेथां) उच्च अवस्था प्राप्त करनेवाला अपना जीवन उत्तमतासे व्यतीत करें ॥ ४७ ॥

(अत्र न किल्बिषं) यहां कोई पाप नहीं है। (न आधारः अस्ति) न कोई पापका आधार ही है। (यत् मित्रैः सं-अममानः न एति) जो मित्रोंके साथ मिल जुलकर भी जाता नहीं। (एतत् पात्रं अ-नूनं निहितं) यह पात्र परिपूर्ण है। (पक्वः पक्तारं पुनः आविशाति) पका हुआ पकानेवालेके पास फिर आ जाता है ॥ ४८ ॥

(प्रियाणां प्रियं कृणवाम) हम मित्रोंका प्रिय करें। (यतमे द्विषन्ति ते तमः यन्तु) जो द्वेष करते हैं वे अन्धेरेमें जायें। (धेनुः अनड्वान् वयोवयः आयत् एव) गौ और बैल ये बल ही लाते हैं। वे (पौरुषेयं मृत्युं अप नुदन्तु) मनुष्यकी मृत्यु दूर करें ॥ ४९ ॥

(यः ओषधीः सचते यः च सिन्धून्) जो औषधियोंके साथ रहता है और जो दूसरा जलोंमें रहता है (अग्नयः अन्यो अन्यं सं विदुः) वे दोनों अग्नि परस्पर एक दूसरेको जानते हैं (यावन्तः देवाः दिवि आतपन्ति) जितने देव द्युलोकमें प्रकाशते हैं, उनकी (हिरण्यं ज्योतिः पचतः बभूव) तेजस्वी ज्योति अन्न पकानेवाले दाताको मिले ॥ ५० ॥

भावार्थ— सत्य, तप और देवताओंके लिये यह हम समर्पण करते हैं। यह फल हमसे किसी प्रकार दूर न होवे, न खेलोंमें दूर हो और न सभामें दूर हो अर्थात् सर्वदा हमारे पास रहे ॥ ४६ ॥

मनुष्य अन्न पकावे और दान करे। स्त्री भी धर्मकर्ममें दक्षतासे यत्न करे। इस तरह दोनों पुत्रको उत्पन्न करें और उच्च अवस्था प्राप्त करें ॥ ४७ ॥

दान करनेमें कोई पाप नहीं, न दानमें कुछ छिपाकर रखना है, दान केवल अपने इष्ट मित्रोंको ही न दिया जाए। वह दानपात्र भरकर पूर्ण रखा जावे, जो परिपक्व होनेपर फिर फल रूपसे दाताके पास पहुंचेगा ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने मित्रका हित करे। द्वेषी शत्रुको दूर हटा देवे। गौ अपने दूधसे मनुष्यको आरोग्य, आयु और बल देती है और मृत्युको दूर करती है ॥ ४९ ॥

अग्नियोंका परस्पर संबंध है। एक औषधिमें और दूसरा जलमें रहता है। आकाशमें प्रकाशनेवाले देव अपना प्रकाश उदार दाताको देवें ॥ ५० ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये ।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥ ५१ ॥
यदुक्षेषु वदा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या ।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥ ५२ ॥
वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि ।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥ ५३ ॥
तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥ ५४ ॥

अर्थ— (पुरुषे एषा त्वचां संबभूव) मनुष्यमें यह त्वचा अन्य त्वचाओंसे उत्पन्न होती है । (ये अन्ये सर्वे पशवः अ-नग्नाः) जो दूसरे पशु हैं वे नग्न नहीं हैं । (क्षत्रेण आत्मानं परि धापयाथः) शौर्यसे अपने आपको अच्छादित कर लो (अमा-उतं वासः ओदनस्य मुखं) मिलकर बुना वस्त्र चावलोंपर डालने योग्य मुख्य वस्त्र है ॥५१॥

(यद् अक्षेषु अनृतं वदाः) जो खेलोंमें तुमने असत्य बोला हो, (यत् समित्यां) जो सभामें बोला हो अथवा (यत् वा वित्तकाम्या वदाः) जो धनकी इच्छासे असत्य भाषण किया हो उसका (सर्वं शमलं तस्मिन् सादयाथः) सब दोष उसीमें रख दो और (समानं तन्तुं अभिसंवसानौ) समान वस्त्रको पहनो ॥ ५२ ॥

(वर्षं वनुष्व) वृष्टिकी प्राप्ति करो, (देवान् अपि गच्छ) देवोंके पास जाओ, (त्वचः परि धूमं उत्पातयासि) त्वचाके ऊपरका धुवां उडा दो । (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) विश्वमें विस्तृत घृतसे युक्त होनेकी इच्छा करनेवाला (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) सजातीय होकर इस लोकको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

(स्वर्गः बहुधा तन्वं विचक्रे) द्युलोक ही बहुत प्रकारसे अपने शरीरको बनाता है (यथा अस्मान् अन्यवर्ण विद) आत्मवत् दूसरे वर्णको भी देखता है । (रुशतीं पुनानः) तेजस्वी आकारको पवित्र करता है, (कृष्णां अपाजैत्) काले रूपको दूर करता है । (या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि) जो लाल रूपमें है उसका अग्निमें हवन करता हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थ— सब अन्य पशु नंगे नहीं हैं, उनके पास ईश्वरनिर्मित वस्त्र हैं । परंतु मनुष्यके लिये ओढनेको वस्त्र चाहिये, ऐसीही त्वचा मनुष्यको स्वभावसे मिली है । इसलिये मिलजुलकर वस्त्र बुनो और पहनो । यही वस्त्र चावल आदिपर भी ढाकनेके लिये रखो ॥ ५१ ॥

जो खेलोंमें असत्य बोलते हैं, जो सभामें और जो धनकी इच्छासे असत्य बोलते हैं, उनके सब दोषको दूर करो समानता धारण करो और समानताके लिये समान ही वस्त्रको पहनो ॥ ५२ ॥

वृष्टिका योग्य उपयोग करो, जल व्यर्थ जाने न दो । देवताकी उपासना करो, अपनी निर्मलता करो । जगत्में प्रसिद्ध होओ, पुष्टिकारक पदार्थ पास रखो, इस भूलोकमें मानवजातिकी सेवा करो ॥ ५३ ॥

द्युलोकने ही अनेक रूप धारण करके इस विश्वको बनाया है । ज्ञानी सबको आत्मवत् ही देखता है । मनुष्य तमोगुणको दूर करे सत्वगुणको बढावे और रजोगुणका त्याग करे ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्केन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥
दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्केन सह सं भवेम ॥ ५६ ॥
प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५७ ॥
उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५८ ॥

अर्थ— (प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशाके लिए (अग्नये अधिपतये) अग्नि अधिपतिके लिए (रक्षित्रे असिताय) रक्षणकर्ता असितके लिए (इषुमते आदित्याय) बाणवाले आदित्यके लिए (एतं परिदद्मः) हम इसका दान करते हैं, (तंनः गोपायत) वे उसको स्वीकार करके हमारी रक्षा करें। (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिए सहायक हों। (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे। (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ५५ ॥

(दक्षिणायै दिशे) दक्षिण दिशाके लिए (इन्द्राय अधिपतये) इन्द्र अधिपतिके लिए (तिरश्चिराजये रक्षित्रे) रक्षणकर्ता तिरश्चिराजीके लिए (यमाय इषुमते) बाणवाले यमके लिए (एतं परि दद्मः) हम इसका दान करते हैं, (तं नः गोपायत) उसको स्वीकार करके वे हमारी रक्षा करें। (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिए सहायक हों। (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे। (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ५६ ॥

(प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम दिशाके लिए (वरुणाय अधिपतये) वरुण अधिपतिके लिए (पृदाकवे रक्षित्रे) रक्षणकर्ता पृदाकुके लिए (अन्नाय इषुमते) बाणवाले अन्नके लिए (एतं परि दद्मः) हम इसका दान करते हैं, (तं नः गोपायत) उसको स्वीकार करके वे हमारी रक्षा करें। (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिए सहायक हों। (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे। (अथ पक्वेम सह संभवेन) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ५७ ॥

(उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशाके लिए (सोमाय अधिपतये) सोम अधिपतिके लिए (स्वजाय रक्षित्रे) स्वज रक्षणकर्ताके लिए (अशन्या इषुमत्यै) बाणवाली बिजलीके लिए (एतं परि दद्मः) हम इसका दान करते हैं। (तं नः गोपायत) उसको स्वीकार करके वे हमारी रक्षा करें। (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिए सहायक हों। (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे। (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ५८ ॥

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५९ ॥
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ६० ॥

अर्थ— (ध्रुवायै दिशे) ध्रुव दिशाके लिए (विष्णवे अधिपतये) विष्णु अधिपतिके लिए (कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे) कल्माषग्रीव रक्षिताके लिए (ओषधीभ्यः इषुमतीभ्यः) बाणवाली ओषधियोंके लिए (एतं परि दद्मः) हम इसका दान करते हैं । (तं नः गोपायत) उसको स्वीकार करके वे हमारी रक्षा करें । (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिए सहायक हों । (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां, हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे । (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ५९ ॥

(ऊर्ध्वायै दिशे) ऊर्ध्व दिशाके लिए (बृहस्पतये अधिपतये) बृहस्पति अधिपतिके लिए (श्वित्राय रक्षित्रे) श्वित्र रक्षणकर्ताके लिए (वर्षाय इषुमते) बाणवाली वर्षाके लिए (एतं परि दद्मः) हम इसका दान करते हैं । (तं नः गोपायत) उसको स्वीकार करके वे हमारी रक्षा करें । (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिये सहायक हों । (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्धावस्थातक हमें उत्तम मार्गसे ले जावें, (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे । (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न हों ॥ ६० ॥

भावार्थ— प्रत्येक दिशामें अधिपति, रक्षक और इषुमान् योद्धा हैं, वे सबकी रक्षा करें । उनको हम योग्य दान देवें । वे पालन करते हुए हमें उन्नतितक पहुंचावें । वे हमें वृद्धावस्थातक सुरक्षित पहुंचावें और वहांसे मृत्युतक ले जावें मृत्युके पश्चात् परिपक्व कर्मफलके साथ हम फिर जन्म लें और वहां उन्नतिको प्राप्त करें ॥ ५५-६० ॥
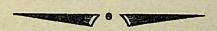
स्वर्ग और ओदन

स्वर्गका साम्राज्य

स्वर्गका साम्राज्य सब मानव जातिके लिये खुला हुआ है । उसको प्राप्त करना और वहां दीर्घकालतक रहना हरएकके लिये योग्य है । परंतु वह सुकृतका लोक होनेसे वह उत्तम कर्म किये विना प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात सबको मनमें रखनी चाहिये । वह स्वर्ग इस भूलोकमें भी है और परलोकमें भी है । परलोकका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये भी यहीं प्रयत्न करना पडता है । इससे स्पष्ट होगा कि, यहां अथवा परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करना मनुष्यके पुरुषार्थपर अवलंबित है । इस सूक्तका संक्षेपसे यह तात्पर्य है । अब क्रमशः इन मंत्रोंमें जो मुख्य उपदेश कहे हैं उनका निरीक्षण करते हैं—

बलका महत्व

स्वर्ग प्राप्त करनेमें बलका महत्त्व है, बलके बिना कोई उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती । वह बल हरएकको प्राप्त करना चाहिये । मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली होगा, वही राष्ट्रका अधिष्ठाता बने । कोई दुर्बल राजगद्दीपर न रहे । क्योंकि राष्ट्रकी उन्नति प्रबल राजशक्तिपर ही अवलंबित रहती है । निर्बल राजाके कारण संपूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जाता है । अतः सुख प्राप्तिकी इच्छा करनेवालोंको

उचित है कि वे सामर्थ्यवान् पुरुषकी ही राष्ट्राधिष्ठाताके स्थान-पर नियुक्ति करें। वह अधिष्ठाता अपने सुयोग्य सामर्थ्यवान् अनुयायियोंको इकट्ठा करे और उनकी सहायतासे राष्ट्रका शासन चलावे। सबका उत्तम नियंत्रण करे और सबकी उन्नति होने योग्य सुव्यवस्था रखे। इसीका नाम यमराज्य अर्थात् नियमके अनुसार चलनेवाला राज्य है। (१)

इस तरहका राज्यशासन होनेके पश्चात् सबको उचित है कि सब अपनी दृष्टि सूक्ष्म और परिशुद्ध करें अर्थात् सुयोग्य ज्ञान प्राप्त करें, वीर्य अर्थात् अनेक बलोंको प्राप्त करें। सबके राष्ट्रमें दूरदृष्टि और सामर्थ्य जितना अधिक होगा उतना ही सबका उत्कर्ष होनेवाला है। अतः तेज, बल, सामर्थ्य, ज्ञान और दूरदृष्टि बढाना सबका मुख्य कर्तव्य है। परिपक्व होनेपर ही मिठास उत्पन्न होती है, अतः सबको उचित है कि अपने आपको परिपक्व करें जिससे सबका कल्याण हो। (२)

एकताका संदेश

इस लोकमें तुम सब मिलजुलकर एकभावसे रहो, परमेश्वर की उपासना भी मिलकर करो, राज्यव्यवस्था भी मिलकर चलाओ, जो कुछ पराक्रम करना हो वह मिलकर ही हो सकता है। मिलनेसे ही बल बढता है। मिलनेके लिये अपनी पवित्रता और निर्दोषता संपादन करनी चाहिये। जितना संगठन होगा उतना बल बढेगा और जितना बल बढेगा उतना प्रभाव विशेष होगा। इस तरह यह एकताका संदेश मानवी उन्नतिके लिये यहां कहा है। (३)

सब लोगोंसे यह कहना है कि वे अपने जीवनको धन्य बनानेके लिये प्रयत्न करें। यह प्रयत्न जितना मिलकर होगा उतना यश तुम्हें प्राप्त होगा। आपसमें फूट रखोगे तो वहीं नाशका बीज बढेगा। तुममेंसे प्रत्येकको अमृत प्राप्त करनेका अधिकार है। घरमें स्त्री, पुत्र और गृहपति मिलकर रहते हैं यहां एकताका उपदेश मिलता है और यहीं सुखकी प्राप्ति हो सकती है इस गृहस्थाश्रममें माता अन्न पकाती है, पिता अन्न लाता है, पुत्र अन्यान्य कार्य करते हैं। इस तरह परस्परकी सहायता करनेसे सबको अत्यधिक सुख प्राप्त हो सकता है। (४-५)

घरमें पुत्रपौत्र बडे हुए हैं, वे कार्यभार संभाल रहें हैं, वृद्धोंकी यथायोग्य सेवा हो रही है, तरुणोंका आश्रय यथायोग्य रीतिसे वृद्धोंको मिल रहा है, यही इस लोकका तेजस्वी स्वर्ग है, जो प्रत्येक गृहस्थीको प्राप्त करना चाहिये।

चारों दिशाओंमें हलचल

उन्नतिके लिये हलचल तो चारों दिशाओंमें शुरू करनी चाहिये। पूर्व दिशा ज्ञानकी दिशा है, सब प्रकाश इसी दिशासे प्राप्त होता है। श्रद्धावान् लोग ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानका प्रसार खूब करें। जैसे सूर्य सबको प्रकाश देता है वैसे प्रकाश सबको मिले। ज्ञानका उपयोग अपनी रक्षाके लिये किया जावे। स्त्रीपुरुष मिलकर कार्य करें और सब लोग ज्ञानसे सुप्रकाशित हों। (७)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् दक्षतासे उद्योग करने चाहिये। दक्षता न रही तो सब यत्न विफल हो जाते हैं। यह संदेश दक्षिण दिशा दे रही है। यहां यम अर्थात् नियामक देव है। यह कहता है कि नियमोंमें रहो। नियम छोडकर चलोगे तो मेरा दण्ड उद्यत है। उससे छुटकारा नहीं हो सकता। इस नियामकके साथ पितर भी हैं। ये सबके रक्षक हैं। रक्षा करना और नियमविरुद्ध आचरण न करना ही यहांका उपदेश है। जो यह उपदेश लेकर तदनुकूल चलेंगे वे ही उन्नत हो सकते हैं। (८)

पश्चिम दिशा विश्रामकी सूचना देती है। योग्य पुरुषार्थ करनेके पश्चात् विश्राम अवश्य लेना चाहिये, जिससे आगे और प्रयत्न करनेका बल प्राप्त होता है। अर्थात् विश्राम अधिक पुरुषार्थके लिये होना चाहिये। यहां सोमादि औषधियां हैं जिनका सेवन करनेसे बल, पुष्टि और आयु बढती है। (९)

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्था प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। अपने राष्ट्रकी अवस्था उच्चतर करो, श्रेष्ठ करो, सब प्रकार से आगे बढो, पांच जनोंका समुदाय उन्नत हो, सर्वांगीण उन्नति करो, किसी भी अंगमें पीछे न रहो। यह उपदेश यहां मिलता है। (१०)

ध्रुवदिशा स्थिरताका संदेश दे रही है। अपने वचनपर स्थिर रहो, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहो, युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहो, व्यर्थ चंचल न हो। अपनी रक्षा करनेके लिये पुत्रोंका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये, अनेक शुभ कर्म करनेके लिये स्थिर होनेकी सूचना इस दिशासे मिलती है।

इस तरह ये सब दिशाएं मनुष्यको ये उपदेश दे रही हैं। उपदेश सुनकर मनुष्यको उन्नतिका साधन करनेका मार्ग विदित हो सकता है। इस मार्गसे मनुष्य जाय और अपनी उन्नतिका साधन करे। (११)

ऊखल और मूसल

पुत्रोंका पालन उत्तम रीतिसे किया जावे। जलवायु सर्वत्र शुद्ध और कल्याणकारी रखी जावे। सत्यकी प्रीति और तपकी रुचि मनुष्योंमें बढे और सबको अन्न भी पर्याप्त प्राप्त हो। घरमें ऊखल और मूसल पानीसे कोई न भिगावे क्योंकि वह सूखा रहा तो ही अच्छा कार्य कर सकता है। वह पवित्र स्थानमें रहे और धान्य आदि स्वच्छ करके वही बर्ता जावे (अर्थात् यहां वेदका उपदेश यह है कि (मशीन) यंत्र द्वारा साफ किये चावल, आटा आदि कोई न खावे। अपितु घरघरमें ऊखल मूसल रखकर हाथसे पिसा आटा और ऊखल मूसल द्वारा हाथसे साफ किये चावल मनुष्य खावें। यंत्रसे स्वच्छ करनेसे धान्यके जीवनकण नष्ट होते हैं और हाथसे साफ करनेसे वे जीवनकण सुरक्षित रहते हैं। वेद उपदेश द्वारा बताना चाहता है कि यंत्र द्वारा बनाया आटा कोई न खावे और यंत्रके निर्मित चावल भी कोई न लेवे। इससे परिपूर्ण जीवनाणु प्राप्त होंगे और उत्तम आरोग्य रहेगा।) (१२-१४)

यही लकडीसे बना ऊखल और मूसल दैवी शक्तिवाला है, जो राक्षसों और पिशाचोंको हम लोगोंसे दूर कर सकता है। यह इस ऊखलकी घोषणा है। जनता इस घोषको सुने। जो लोग घर घरमें ऊखल मूसलसे धान्यको साफ करके उसीका सेवन करेंगे उनपर राक्षसों और पिशाचोंका हमला नहीं हो सकता। (अर्थात् जो मशीन–यंत्र–द्वारा सडे चावल आदि खायेंगे उनका नाश ये ही राक्षस और पिशाच करेंगे। अतः लोग संभलकर रहें।) (१५)

पशुपालन

घर घरमें गौ आदि पशुओंका पालन हो। घर घरमें यज्ञयाग होते रहें। घर घरमें देवताओंका सन्तोष होता रहे। जल वायु आदि देवता किसी भी घरमें अप्रसन्न न रहें। कहीं भी अप्रसन्नता उत्पन्न न होवे। (१६)

गृहव्यवस्था

स्त्री और पुत्र तथा गृहपति मिलकर घर होता है। ये सब घरमें मिल जुलकर रहें। इस एकताके विषयमें अथर्ववेद कां. ३ सू. ३० में जो उपदेश आया है वह पाठक यहां देखें। वह उत्तम उपदेश है और हरएक गृहस्थाश्रमीको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। पुरुष जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करे, ये दोनों परस्पर अनुकूलताके साथ रहें, आपसमें झगडा न बढावें, आपसमें झगडा करेंगे तो दुर्गति और नाशको प्राप्त होंगे, यह हरएक गृहस्थीको स्मरण रखना चाहिये। घरके सब लोग आनंद–प्रसन्न और मिलजुलकर रहें और प्रयत्न करके अपनी उन्नतिका साधन करते रहें। (१७)

सब मिलकर दक्षतासे सब रोगोंको दूर करें, अज्ञान और अन्धकार दूर करें। घरमें अन्धकार न रहे, क्योंकि अन्धकारमें रोगजन्तु बढते हैं और रोग होते हैं। अतः घरमें बहुत अन्धेरा न रहने पावे ऐसा घर बनाया जावे। घरघरमें लकडीका बना ऊखल और मूसल हो और उसीमें चावल साफ करके उनका ही सेवन घरके लोग करें। (१८)

ऊखल मूसलसे साफ किये धान्यसे तुष आदि दूर करनेके लिये सूप घरमें रहे। इस सूप–छाजसे चावल आदि साफ किये जायें, तुष हटाया जावे और स्वच्छ चावल लिये जांय। इनका ही सेवन गृहस्थी करे। (१९)

जिनसे तीनों लोकोंका आनंद और स्वास्थ्य प्राप्त होता है, ऐसे शुद्ध चावल इसी तरह स्वच्छ होते हैं। (यंत्र-मशीन द्वारा साफ किये चावल तो राक्षसों और पिशाचों अर्थात् अनेक रोगोंको बुलानेवाले हैं।) ये चावल जो ऊखल और मूसल द्वारा तथा छाजसे साफ होते हैं वे तो आप्यायन करनेवाले अर्थात् सब प्रकारकी पुष्टि करनेवाले हैं। (२०)

छाजमें पुनः पुनः ले लेकर इस तरह धान्य स्वच्छ किया जावे। चावलोंपर जो लाल रंगकी त्वचासी होती है उसको मूसलसे कूट कूटकर हटाया जावे। जैसे धोबी वस्त्रको स्वच्छ करता है वैसे ही ऊखल मूसलद्वारा ये चावल स्वच्छ किये जांय और इनका सेवन गृहस्थी करें। पशुओंमें विविध रंग होते हैं। इसी प्रकार विविध रंगरूपवाले मनुष्य इन चावलोंका सेवन करके हृष्ट, पुष्ट और दीर्घजीवी बनें। (२१)

पकानेका कार्य

अब पकानेका समय आता है। इसके लिये बहुत प्रकारके बर्तन होते हैं। ये बर्तन मिट्टीसे ही अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। ये फूटे टूटे न हों, चूनेवाले न हों। किसी स्थानपर सुराख हो तो उसको बंद किया जावे। जैसे माता पुत्रको प्यारसे संभाल कर लेती है, उसी प्रकार ये बर्तन बर्ते जांय। ऐसे बर्ते जांय कि वे न टूटें। डेगची, बटलोई, पतेला आदि बर्तन चूलेपर संभालकर रखे जांय। इनमें चमस रखे जांय और ये पात्र घृत आदिसे सिंचित रहें। (२२–२३)

इन पात्रोंकी रक्षा चारों ओरसे होवे। अग्निसे रक्षा हो अर्थात् पात्र अच्छी तरह पका हुआ हो; वरुणदेवताके जलसे इसकी रक्षा हो अर्थात् पानीसें गल जानेवाला न हो, वनस्पतियोंद्वारा इनके टूटनेकी संभवना न हो। (२४)

जलका महत्त्व

पृथ्वीके जलकी भाप मेघमंडलमें जाती है, वहां मेघ बनते हैं, उनसे वृष्टि होकर फिर वह जल पृथ्वीपर आता है। यह जल प्राणियोंको जीवन देनेवाला और जीवनकी धन्यता करनेवाला है। यह पात्रोंमें भरकर रखना और पकानेके समय वह पात्र चूल्हेपर रखना चाहिये। यह परिशुद्ध जल मनुष्यको सुख देनेवाला है। (२५-२६)

यह जल मनुष्यमें बल लाता, प्रसन्नता उत्पन्न करता, वीर्य बढाता, पवित्रता करता और रोगादि मृत्युदूतोंको दूर करता है। यही जल गृहस्थियोंके अन्न पकानेमें प्रयुक्त होवे। (२७)

थोडासा जल वृष्टि द्वारा भूमिपर गिरकर औषधिवनस्पतियोंमें जाकर– उसका गुणकारी औषधिरस बनता है। यह मनुष्योंका हित करता है। इसके अतिरिक्त इतना हितकारी दूसरा जल मेघोंसे बहुत ही गिरता है, वह सब जगत् को व्यापता है। (२८)

जब बर्तनमें जल डालकर तपाया जाता है, तो जलके अणु एक दूसरेपर उछलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे परस्पर युद्ध करते हैं, वार्तालाप करते हैं, या झगडा करते हैं। जैसे स्त्री पतिको देखकर उसके साथ प्रेमसे मिलना चाहती है, वैसे ही जल पकानेके समय चावलोंके साथ मिलता है, जिससे चावल पकते हैं। (२९)

पकानेके समय बर्तनमें कडछी डालकर नीचेके चावल ऊपर और ऊपरके नीचे करने चाहिये। अर्थात् अच्छी तरह चावल हिलाने चाहिए। जिससे जल हरएक चावलके साथ अच्छी तरह मिल जायें और चावल उत्तम रीतिसे पक जायें। (३०)

शाकभाजी

जैसे चावल पकाने होते हैं उसी प्रकार शाकभाजी पकानेकी भी रीति है। उत्तम परशु, छुरा भाजी काटनेके लिये लो। उसकी धार ठीक करो। औषधियां शाकभाजी आदि हाथमें लो। उसको ऐसा काटो कि जिससे उनका 'सत्त्व' न बिगडे। औषधियोंकी हिंसा न हो और उनका क्रोध हम पर न हो। (३१)

पकनेपर

चावल पकनेपर उनको बर्तनसे निकालना चाहिये। उनको रखनेके लिये उत्तम नई चटाई (बांसकी बनी) शुद्ध भूमिपर फैलानी चाहिये और उसपर बर्तनसे सब चावल रखने चाहिये। यह दृश्य ऐसा करना चाहिये कि जो आंखको प्रिय और हृदयको मनोहर प्रतीत हो। देवता यहां अपनी धर्मपत्नियोंके समेत आयें और इस अन्नका सेवन करें। (३२)

इस तरह यज्ञ करनेसे यजमान स्वर्गको प्राप्त करता है। साठ वर्ष कोई गृहस्थी इस रीतिसे यज्ञ करेगा तो उसको स्वर्ग मिलेगा। घरमें पिता माता पुत्र आदि संतुष्ट रहें तो वही भूलोकका स्वर्ग है और अन्नदानसे परलोक मिलता है। (३३-३५)

संपूर्ण सुखोपभोग विजय प्राप्त होनेसे ही प्राप्त होते हैं। विजयके बिना भोग मिलना असंभव है। यह एक उन्नतिके लिये बडी महत्त्वकी सूचना यहां दी है। शुद्ध अन्न, उत्तम घी, मधु (शहद) आदि पदार्थ हितकारी, पौष्टिक और बलवर्धक हैं। इनका स्वयं सेवन करना, दूसरोंको देना और देवताओंके उद्देश्यसे समर्पण करना चाहिये। यह लोक अर्थात् इस भूलोकमें स्वयं पुरुषार्थसे ही जो कुछ होगा सो होगा। इसलिये यह लोक पुरुषार्थप्रधान है। जो पुरुषार्थ करता है, उसकी सहायता सब देवता करते हैं। (३६-३८)

कुटुंबमें एकता

स्त्री कुछ करती है, पुरुष भी कामधंधेमें लगा हुआ है, युवक अपने कार्य करते हैं। ये सब जो भी कुछ करें कुटुंबकी रक्षा और उन्नतिके लिये करें। संमेलनसे ही घरमें स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, अतः भोजनके समय कमसे कम सब पुत्रों, पुत्रियों और पारिवारिक जनोंको बुलाना चाहिये और साथ साथ बैठकर भोजन करना चाहिये। सब बालकोंको इससे एकताका पाठ मिल जायगा और इस एकतामें ही सब सुखका बीज है। (३९-४०)

मधु, घृत आदिसे मिश्रित अन्न हो, धनके प्रवाह चलते रहें, आयुके साठ वर्षतक इनका दान होता रहे, सर्वत्र भरपूरता हो, किसी प्रकार न्यूनता कहीं भी न हो। यही स्वर्ग देनेवाला है। अन्य लोग कितने भी कंजूस हों, उनको वह आनंद नहीं मिलेगा जो इस प्रकारके दाताको प्राप्त हो सकता है। (४१-४२)

देवनिंदकको दूर करो

कई लोग देवताओंकी निंदा करनेवाले होते हैं, उनको समाजसे बाहर करना चाहिये। उनको कोई अधिकार नहीं देना चाहिये। सब राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें रहे कि जो देवोंके अनुकूल चलनेवाले हों। देवद्रोहियोंको सब मिलकर एकमतसे बहिष्कृत करें। जो ज्ञानी, शूर इस कार्यमें

सहायक हों, उनको मधु और घी तथा अन्न भरपूर मिलना चाहिये। (४३-४४)

परमेष्ठी प्रजापति

परमेष्ठी प्रजापति परम उच्च स्थानमें विराजमान है, इसी लिये उसे (परमे-स्थि) परमेष्ठी कहते हैं। इसको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ धर्मकर्म किये जाते हैं। आप जो दान करते हैं, घीका दान हो, मधुका हो, या अन्य किसीका हो वह सब इस एक ही कार्यके लिये होता है। सत्य और तप मुख्यतः इसकी प्राप्तिके लिये हैं। सत्यका अवलंबन करनेसे बडा फल प्राप्त होता है, तप बडी पवित्रता करनेवाला है। येही सत्य और तप बडा आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा ऐहिक धन देते हैं। मनुष्यको यहांतक सावधान रहना चाहिये कि खेलमें भी वह सत्यसे दूर न हो, सभाओंमें सदा सत्य ही का अवलंबन करना चाहिये। जो सत्य और तपको छोडेंगे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। हरएक मनुष्यके कार्यमें उन्नतिकी इच्छा होगी, तो इनका अवलंबन करना अनिवार्य है। (४५-४६)

आदर्श गृहस्थाश्रम

'मैं अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मेरी धर्मपत्नी धर्मकर्ममें सहायता करती है, मेरे पुत्र जनहित करनेके कार्य करते हैं, मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करके उसका उपयोग धर्मकार्य करनेके लिये करूंगा। ऐसा हरएक गृहस्थीको कहनेका सौभाग्य प्राप्त हो। यही एक बडा ऐश्वर्य है। जिसका ऐसा कुटुंब हो वह धन्य है। इसी तरह यहां हमारे घरमें पाप करनेवाला कोई न रहे, दान देनेके समय उसमेंसे कुछ पीछे रखनेवाला कंजूस कोई न हो, चारों ओर मित्र बढें, दानके पात्र सदा भरपूर हों और सब शुभ कर्मका परिपक्व फल ऐसे गृहस्थीको प्राप्त होता रहे। यह है आदर्श गृहस्थाश्रम। गृहस्थी मित्रोंका प्रिय करे, सतत प्रयत्न करता रहे; गौका दूध पीये बैलोंका उपयोग खेतीके लिये होता रहे, रोग और मृत्यु दूर होता रहे। (४७-४९)

परस्परका हृदय जानना चाहिये। मित्रताके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है। हृदयके ज्ञानके बिना संगठन भी नहीं हो सकता। जो भी पृथिवी आदि देव हैं, वे सब योग्य मनुष्यको सुवर्ण और तेज देनेके लिये बैठे हैं। परंतु उनसे लेनेके लिये भी तो यत्न करना चाहिये। अपने अन्दर क्षात्र-तेज बढाना और उससे अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह आत्मरक्षा करनेका कार्य तो प्रत्येकका है। अतः कोई इस क्षात्रतेजके बिना न रहे, सब लोग तेजस्वी बनें। (५०-५१)

जो किसी कार्यके लिये असत्य बोलता है, वह सब पापका हेतु है। फिर वह असत्य भाषण खेलमें हो, या धनलोभसे हो। सबकी उन्नतिका एक ही तन्तु है और वह केवल एक मात्र सत्य है। सत्यके बिना किसीकी उन्नति नहीं होती। (५२)

जो वृष्टि होती है उसका उत्तम उपयोग करो, अर्थात् जल व्यर्थ न जाने दो। सब पदार्थ स्वच्छ रखो, किसी भी स्थानमें मलिनता न रहे। अपना प्रभाव चारों ओर फैलाओ, घृत आदि पदार्थ भरपूर रहें, अन्नकी न्यूनता न रहे। (५३)

हरएक दिशामें अधिपति, रक्षणकर्ता, शस्त्रास्त्रधारी सैनिक रखकर अपने राष्ट्रकी सुरक्षा उत्तम करनी चाहिये। ये रक्षणका कार्य करें और सुरक्षित हुए लोग इनका योगक्षेम चलानेके लिये उनको योग्य दान देवें। इनकी रक्षासे सुरक्षित हुए लोग वृद्धावस्थातक अपनी उन्नतिका कार्य करें। इस तरह करनेसे यही स्वर्गधाम होगा और मृत्यु पश्चात् स्वर्गलोक भी प्राप्त होगा। (५५-६०)

इस सूक्तमें वेदने इस भूलोकको ही स्वर्गधाम बनानेकी विधि बतायी है। जो लोग ऐसा करेंगे वे न केवल इस संसारमें जीते जी स्वर्गसुख प्राप्त करेंगे अपितु मरणोत्तर मिलनेवाले स्वर्गलोक भी निःसन्देह प्राप्त करके वहां बहुत समय अपूर्व सुख प्राप्त करके उत्तम कुलमें जन्म लेकर फिर भी आगेकी उन्नति प्राप्त करेंगे।

विराट् अन्न

कांड ११, सूक्त ३

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – ओदनः ।)

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥
इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥

अर्थ— (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उस अन्नका बृहस्पति सिर है, (ब्रह्म मुखं) ब्राह्मण मुख है ॥१॥

(द्यावापृथिवी श्रोत्रे) द्यु और पृथ्वी कान हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्र आंखें हैं, (सप्त-ऋषयः प्राणापानाः) सात ऋषि प्राण और अपान हैं ॥ २ ॥

(मुसलं चक्षुः, उलूखलं कामः) मुसल दृष्टि है और उलूखल काम है ॥ ३ ॥

(दितिः शूर्पं) विभाग छाज है, (अदितिः शूर्पग्राही) अविभक्तता छाजको पकडनेवाली है, (वातः अपा-विनक्) वायु तुषाओंको पृथक् करनेवाला है ॥ ४ ॥

(कणाः अश्वाः) अन्नके कण घोडे हैं, (तण्डुलाः गावः) चावल गौवें हैं, (तुषाः मशकाः) तुष मशक-मच्छर हैं ॥ ५ ॥

(फलीकरणाः कब्रु) टुकडे ये वृक्ष हैं, (अभ्रं शरः) मेघ ही ऊपरका छिलका है ॥ ६ ॥

(श्यामं अयः अस्य मांसानि) काला लोहा इसके मांस हैं, (लोहितं अस्य लोहितं) लाल लोहा इसका रक्त है ॥ ७ ॥

(त्रपु भस्म) टीन–जस्ता इसका भस्म है, (हरितं वर्णः) हरा इसका वर्ण है, (पुष्करं अस्य गन्धः) पुष्कर इसका गन्ध है ॥ ८ ॥

(खलः पात्रं) खल इसका पात्र है, (स्फ्या अंसौ) दोनों स्फ्य नामक यज्ञसाधन कंधे हैं, (ईषे अनूक्ये) ईषा नामक साधन पसलीकी हड्डी हैं ॥ ९ ॥

(जत्रवः आन्त्राणि) रस्सियां आतें हैं और (वरत्राः गुदाः) बैल जोडनेके चर्म गुदा हैं ॥ १० ॥

(राध्यमानस्य ओदनस्य) पकाये जानेवाले चावलोंकी (इयं एव पृथिवी कुंभी भवति) यही भूमि डेगची होती है और (द्यौः अपिधानं) द्युलोक ढक्कन होता है ॥ ११ ॥

सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥
ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥

अर्थ— (सिताः पर्शवः) हल पसलियां और (सिकताः ऊबध्यं) रेत मलस्थान हैं ॥ १२ ॥

(ऋतं हस्तावनेजनं) सत्य ही हाथ धोनेवाला,जल है, (कुल्या उपसेचनं) नहरें जलसिंचन हैं ॥ १३ ॥

(ऋचा कुम्भी अधिहिता) ऋग्वेदमंत्र द्वारा डेगची रखी गई है, (आर्त्विज्येन प्रेषिता) यजुर्वेद द्वारा हिलाई गई है ॥ १४ ॥

(ब्रह्मणा परिगृहीता) अथर्ववेद द्वारा पकडी गई और (साम्ना पर्यूढा) सामवेदसे ढकी गई है ॥ १५ ॥

(बृहत् आयवनं, रथंतरं दर्विः) बृहत्साम मिलानेवाला है और रथन्तर साम कडछी है ॥ १६ ॥

(ऋतवः पक्तारः, आर्तवाः समिन्धते) ऋतु पकानेवाले हैं और ऋतुके दिन अग्नि प्रदीप्त करते हैं ॥१७॥

(पञ्चबिलं उखं चरुं घर्मः अभीन्धे) पांच मुखवाले डेगचीमें रहनेवाले चावलको गर्मी उबालती है ॥ १८ ॥

इस (ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः) अन्नसे यज्ञद्वारा मिलनेवाले सब लोक प्राप्त होते हैं ॥१९॥

(यस्मिन् समुद्रः द्यौः भूमिः त्रयः) जिसमें समुद्र द्युलोक भूमि ये तीनों (अवरपरं श्रिताः) ऊपर नीचे स्थित हैं ॥ २० ॥

(यस्य उच्छिष्टे षट् अशीतयः देवाः) जिसके शेष भागमें छः गुना अस्सी देव (अकल्पन्त) समर्थ बने हैं ॥ २१ ॥

(त्वा ओदनस्य तं पृच्छामि) तुझसे में उस अन्नकी उस महिमाको पूछता हूं (यः अस्य महान् महिमा) जो उसकी महान् महिमा है ॥ २२ ॥

(सः यः ओदनस्य महिमानं विद्यात्) वह जो इस अन्नकी महिमाको जानता है ॥ २३ ॥

वह (अल्प इति न ब्रूयात्) थोडा है ऐसा न कहे, (अनुपसेचन इति न) जलका अभाव है ऐसा भी न कहे, (इदं च किं इति न) यह क्या है ऐसा भी न कहे ॥ २४ ॥

यावद्दाताभिमनस्येत् तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥
ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥
पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥
नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥
ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥

[२]

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥

अर्थ— (यावत् दाता अभिमनस्येत तत् न अतिवदेत्) जितनी दाताकी इच्छा हो उसे कम न कहे ॥ २५ ॥

(ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि (पराञ्चं ओदनं प्राशीः प्रत्यञ्चं इति) दूरका चावल तुमने खाया अथवा समीपका खाया ? ॥ २६ ॥

(त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति) तूने अन्नको खाया अथवा अन्नने तुझे खाया ? ॥ २७ ॥

(पराञ्चं ओदनं प्राशीः) यदि तूने परला अन्न खाया है तो (त्वा प्राणाः हास्यन्ति इति एनं आह) तुझे प्राण छोड देंगे ऐसा इसे कह ॥ २८ ॥

(प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः) यदि सन्मुखका खाया है तो (अपानाः त्वा हास्यन्ति इति एनं आह) अपान तुझे छोडेंगे ऐसा इसे कह ॥ २९ ॥

(न एव अहं ओदनं) न मैंने अन्नको खाया और (नः मां ओदनः) न मुझे अन्नने खाया ॥ ३० ॥
प्रत्युत (ओदनः एव ओदनं प्राशीत्) अन्नने ही अन्नको खाया है ॥ ३१ ॥

[२]

(ततः च एनं अन्येन शीर्ष्णा प्राशीः) पश्चात् इसका अन्य सिरसे तू प्राशन करेगा (येन च पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया था उससे न करेगा तो (ज्येष्ठतः ते प्रजा मरिष्यति एनं आह) ज्येष्ठ-को प्रारंभ करके तेरी सन्तान मर जायगी ऐसा इससे कह । (तं वा अहं न अर्वाचं न परांचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया और न ऊपरका ही भाग खाया, मैंने (बृहस्पतिना शीर्ष्णा) बृहस्पतिको मुखिया बनाकर (तेन एनं प्राशिषं) उससे इस अन्नको खाया (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । इस तरह (यः एवं वेद सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) ऐसा जो जानता है वह सर्वांग और सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३२ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३३ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३४ ॥
ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३५ ॥

अर्थ—(याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसका भक्षण पूर्व ऋषियोंने किया था, उससे (अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां ततः एनं प्राशीः) भिन्न दूसरे कानोंसे भक्षण करेगा तो (बधिरो भविष्यसि इति एनं आह) तू बहिरा हो जाएगा, ऐसा इससे कहो । (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां) द्यावापृथिवीको कान बनाकर (ताभ्यां एनं प्राशिषं) उन दोनोंसे ही इसको मैंने खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३३ ॥

(याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसका भक्षण पूर्व ऋषियोंने किया था, उससे (अन्याभ्यां अक्षीभ्यां ततः एनं प्राशीः) भिन्न दूसरी आंखोंसे भक्षण करेगा, तो (अन्धः भविष्यसि इति एनं आह) तू अन्धा हो जायगा, ऐसा उससे कहो, (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) उसका मैंने न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्यां) सूर्य और चन्द्रको आंख बनाकर (ताभ्यां एनं प्राशिषं) उन दोनोंसे ही इसको मैंने खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३४ ॥

(येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसका पूर्व ऋषियोंने भक्षण किया, उससे भिन्न (अन्येन मुखेन ततः एनं प्राशीः) दूसरे मुखसे इसका भक्षण करेगा, तो (मुखतः ते प्रजाः मरिष्यति) मुखसे तेरी सन्तान मरेगी,

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३६ ॥
ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३७ ॥
ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३८ ॥

(इति एनं आह) ऐसा इससे कह दो। (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (ब्रह्मणा मुखेन तेन एनं प्राशिषं) मैंने ज्ञानके मुखसे उसका प्राशन किया, (तेन अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया। अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनू भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३५ ॥

(यया एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे पूर्वके ज्ञानियोंने इसका सेवन किया था, उससे भिन्न (अन्यया जिव्हया ततः च एनं प्राशीः) दूसरी जीभसे यदि इससे खायगा, तो (जिव्हा ते मरिष्यति इति एनं आह) तेरी जीभ मर जाएगी, ऐसा उससे कह दो। (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका भाग खाया (अग्नेः जिव्हया तया एनं प्राशिषं) अग्निकी उस जीभसे मैंने इसे खाया, (तया एनं अजीगमं) उससे इसे प्राप्त किया। अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३६ ॥

(यैः च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसको पूर्वके ज्ञानियोंने खाया था, (ततः) उनसे भिन्न (अन्यैः दन्तैः एनं प्राशीः) दूसरे दांतोंसे यदि तू खायगा, तो (दन्ता ते शत्स्यति) तेरे दांत टूट जाएंगे (इति एनं आह) ऐसा इससे कहो, (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने इसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका भाग खाया (ऋतुभिः दन्तैः तैः एनं प्राशिषं) ऋतुओंके उन दांतोंसे मैंने उसे खाया, (एनं अजीगमं) इसको प्राप्त किया। अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३७ ॥

(यैः एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसको प्राचीन ऋषियोंने खाया, (ततः) उनसे भिन्न (अन्यैः प्राणापानैः एनं प्राशीः) दूसरे प्राणों और अपानोंसे इसे खायगा तो (प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति इति एनं आह) प्राण और अपान तुझे छोड देंगे ऐसा उसे कह दो, (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यञ्चं) मैंने इसका न नीचेका भाग

ततंश्चैनमन्येन व्यचंसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषंयः प्राश्नन् ।
राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
अन्तरिक्षेण व्यचंसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३९ ॥
ततंश्चैनमन्येनं पृष्ठेन प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषंयः प्राश्नन् ।
विद्युत्त्वां हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
दिवा पृष्ठेनं । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४० ॥
ततंश्चैनमन्येनोरंसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषंयः प्राश्नन् ।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
पृथिव्योरसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४१॥

खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका भाग खाया (सप्तर्षिभिः प्राणापानैः तै एनं प्राशिषं) उसे मैंने सप्तऋषि रूपी प्राण और अपानसे खाया था, (तैः एनं अजीगमं) उनसे इसे प्राप्त किया । (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३८ ॥

(येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसको प्राचीन ज्ञानियोंने खाया था, (ततः) उससे भिन्न (अन्येन व्यचसा एनं प्राशीः) दूसरे प्राणसे तू खाएगा तो (राजयक्ष्मः त्वा हनिष्यति) राजयक्ष्मा तेरा नाश करेगा, (तं वा अहं न अर्वाचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचे का भाग खाया, न ऊपर का भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (अन्तरिक्षेण व्यचसा तेन एनं प्राशिषं) अन्तरिक्ष रूप अन्तः प्राणसे मैंने उसका सेवन किया, (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया, (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवों से युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवों से युक्त होता है ॥ ३९ ॥

(येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसको प्राचीन ज्ञानियोंने खाया था, (ततः) उससे भिन्न (अन्येन पृष्ठेन) दूसरे पृष्ठ भागसे यदि तू (प्राशीः) खाएगा, तो (विद्युत् त्वा हनिष्यति इति एनं आह) बिजली तेरा नाश करेगी, ऐसा उससे कह । (तं वा अहं न अर्वाचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (दिवा पृष्ठेन तेन एनं प्राशिषं) मैंने द्युलोकरूपी पीठसे उसे खाया है (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया है । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४० ॥

(येन एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसका पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था, (ततः) उससे भिन्न (अन्येन उरसा एनं प्राशीः) दूसरी छातीसे इसका सेवन करेगा तो (कृष्या न रात्स्यसि) खेतीसे समृद्ध नहीं होगा (इति

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सत्येनोदरेण । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४२ ॥
ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्सु मरिष्यतीत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
समुद्रेण वस्तिना । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४३ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ऊरू ते मरिष्यत इत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४४ ॥

एनं आह) ऐसा उससे कह दो (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (पृथिव्या उरसा तेन एनं प्राशिषं) पृथिवीरूपी छातीसे मैंने इसका सेवन किया, (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवों से युक्त होता है ॥ ४१ ॥

(येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसको प्राचीन ज्ञानियोंने खाया (ततः) उससे भिन्न (अन्येन उद्रेण एनं प्राशीः) दूसरे पेटसे यदि इसे तू खायेगा तो (उदरदारः त्वा हनिष्यति) पेटको फाडनेवाला अतिसार रोग तेरा नाश करेगा, (इति एनं आह) ऐसा उससे कह दो। (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (सत्येन उदरेण तेन एनं प्राशिषं) सत्य रूपी उदरसे इसको मैंने खाया, (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया। अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवों से युक्त है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों ओर सब अवयवों से युक्त होता है ॥४२॥

(येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसको प्राचीन ऋषियोंने खाया था (ततः) उससे भिन्न (अन्येन वस्तिना एनं प्राशीः) दूसरी वस्तिसे यदि तू खाएगा तो तू (अप्सु मरिष्यसि इति एनं आह) जलोंमें मर जाएगा ऐसा इससे कह दो। (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (समुद्रेण वस्तिना तेन एनं प्राशिषं) उस समुद्र रूपी वस्तिसे मैंने उसे खाया (तेन एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया। अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४३ ॥

(याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसको पूर्व ऋषियोंने खाया था (ततः) उससे भिन्न (अन्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः) दूसरी जांघोंसे खायगा, तो (ते ऊरु मरिष्यतः इति एनं आह) तेरी जांघें नष्ट हो

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
स्रामो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४५ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
अश्विनोः पदाभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४६ ॥
ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४७ ॥

जाएंगी, ऐसा इससे कहो । (तं वा अहं न अर्वाचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका ही भाग खाया, और न नीचेका ही भाग खाया, (मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां ताभ्यां) मित्रावरुणकी उन दोनों जांघोंसे (एनं प्राशिषं) इसको खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) इस प्रकार जो जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४४ ॥

(याभ्यां च एनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसको पूर्व ऋषियोंने खाया था, (ततः) उनसे भिन्न (अन्याभ्यां अष्ठीवद्भ्यां प्राशीः) दूसरे घुटनोंसे यदि तू खाएगा तो तू (स्रामः भविष्यसि इति एनं आह) लंगडा हो जाएगा, ऐसा इससे कह दो । (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्यां ताभ्यां एनं प्राशिषं) त्वष्टाके उन दोनों घुटनोंसे इसको मैंने खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४५ ॥

(याभ्यां पादाभ्यां पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिन पैरोंसे प्राचीन ऋषियोंने खाया था, (ततः) उससे भिन्न (अन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीः) दूसरे पैरोंसे यदि तू खाएगा, तो (बहुचारी भविष्यसि इति एनं आह) तुझे बहुत चलना पडेगा, ऐसा उससे कह दो, (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) उसका मैंने न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (अश्विनौ पादाभ्यां ताभ्यां एनं प्राशिषं) अश्विनीकुमारोंके इन पैरोंसे इसको खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४६ ॥

(याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसको प्राचीन ऋषियोंने खाया, (ततः) उससे भिन्न (अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीः) दूसरे पंजोंसे तू इसे खाएगा, तो (सर्पः त्वा हनिष्यति इति एनं आह) सांप तुझे

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
ऋतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४८ ॥
ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह ।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सत्ये प्रतिष्ठाय ।
तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥

[३]

एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

मार डालेगा, ऐसा इससे कह दो । (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (सवितुः प्रपदाभ्यां ताभ्यां एनं प्राशिषं) सविताके पंजोंसे मैंने इसे खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसे प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवाति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४७ ॥

(याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिनसे इसको प्राचीन ज्ञानियोंने खाया था, (ततः) उनसे भिन्न (अन्याभ्यां हस्ताभ्यां एनं प्राशीः) दूसरे हाथोंसे इसे खायगा, तो (ब्राह्मणं हनिष्यसि इति एनं आह) तू ब्राह्मणका घात करेगा, ऐसा उससे कह दो । (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने उसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका भाग खाया (ऋतस्य हस्ताभ्यां ताभ्यां एनं प्राशिषं) उन ऋतके हाथोंसे इसको मैंने खाया, (ताभ्यां एनं अजीगमं) उनसे इसको प्राप्त किया । अतः (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥४८॥

(यया च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे इसे प्राचीन ऋषियोंने खाया था, (ततः) उससे भिन्न (अन्यया प्रतिष्ठया एनं प्राशीः) किसी दूसरी प्रतिष्ठासे इसको यदि तू खायगा, तो (अप्रतिष्ठानः अनायतनः मरिष्यसि) तू प्रतिष्ठा रहित और आधार रहित होकर मर जाएगा (इति एनं आह) ऐसा इससे कह दो, (तं वा अहं न अर्वांचं न परांचं न प्रत्यंचं) मैंने इसका न नीचेका भाग खाया, न ऊपरका भाग खाया और न पीछेका ही भाग खाया (सत्ये प्रतिष्ठाय तया एनं प्राशिषं) सत्यमें प्रतिष्ठित होनेके लिए मैंने इसे खाया, (तया एनं अजीगमं) उससे इसको प्राप्त किया, (एषः ओदनः सर्वांगः वै) यह अन्न परिपूर्ण है, (सर्वपरुः सर्वतनूः) सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । ((यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है, वह भी (सर्वांगः सर्वपरुः सर्वतनूः भवति) सब अंगों, सब जोडों और सब अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ४९ ॥

[३]

(यत् ओदनः एतत् वै ब्रध्नस्य विष्टपं) जो अन्न है वह सचमुच स्वर्गधाम है ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते एवं वेद ॥ ५१ ॥
एतस्माद्वा ओदनात्त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥
स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥
न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥
न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥

अर्थ— (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है वह (ब्रध्नलोको भवति) स्वर्गलोकके लिए योग्य होता है, (ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते) स्वर्गलोकमें रहता है ॥ ५१ ॥

(एतस्मात् ओदनात् प्रजापतिः त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत) इस अन्नसे प्रजापतिने तेंतीस लोकोंका निर्माण किया ॥ ५२ ॥

(तेषां प्रज्ञानाय यज्ञं असृजत) उनके ज्ञानके लिये यज्ञका निर्माण किया ॥ ५३ ॥

(सः य एवं विदुषः उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि) वह जो इसको जाननेवालोंका निंदक होता है वह प्राणका नाश करता है ॥ ५४ ॥

(न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते) न केवल प्राणका ही नाश होता है, परंतु सब जीवनका नाश होता है ॥ ५५ ॥

(न च सर्वज्यानिं जीयते) सर्वस्वनाश होता है ऐसा ही नहीं अपितु (जरसः पुरा एनं प्राणः जहाति) वृद्धावस्थाके पूर्व इसको प्राण छोड जाता है ॥ ५६ ॥

विराट् अन्न

अन्नका महत्त्व

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूक्तमें काव्यकी आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गधामका सुख देनेवाले हैं। संपूर्ण विश्व अन्नमय है। यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विश्वरूप है।

अन्न सेवन करना हो तो जैसा ऋषिलोग उसका सेवन किया करते थे वैसा ही करना चाहिये, अन्यथा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूक्तमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें। इस सूक्तके प्रारंभमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय है। २७ वें मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति ? (२७)

'तूने इस अन्नका प्राशन किया अथवा इस अन्नने तेरा भक्षण किया ?' यह प्रश्न बडा ही विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा हैं अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं ? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा उपभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं ? कितना गंभीर प्रश्न है ! हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। क्या हो रहा है ? मनुष्य भोगोंको बढा रहे हैं। उन भोगोंको बढानेमें कितनी शक्ति व्यय हो रही है ? इतनी शक्तिका व्यय करके मनुष्य भोगोंको भोग रहे हैं या वे भोग ही मानवी जीवनको खा रहे हैं इसका कोई विचार नहीं करता ! कितना आश्चर्य है ?

मनुष्यके अन्न, वस्त्र, गृह, स्त्री, राज्य, धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके आनंद प्राप्त करे। परंतु होता है यह कि

मनुष्यका दु:ख ही बढ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण आशय है।

इस प्रश्नका उत्तर क्या होना चाहिये, यह बात इसी सूक्त ने बताया है। मंत्रही उत्तर देता है—

न एव अहं ओदनं न मां ओदनः। (३०)

' न मुझे अन्नने खाया, न मैंने अन्नको खाया। ' अर्थात् हम दोनों ऐसे निर्विकार भावसे एक दूसरेके पास आ गए हैं कि जिससे दोनोंमेंसे किसीका दूसरे पर बुरा प्रभाव न पडे। न मैंने अन्नको खा खाकर कम किया, अर्थात् आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करके दूसरोंको वंचित रखा। और न ही अन्नने मुझे खाया, अर्थात् न अन्न ही मेरे विनाशका कारण बना। मैं और अन्न साथसाथ हैं, एक दूसरेके सहायक हैं, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा बढाने वाले हैं, एक दूसरेकी महिमा बढाते हुए जगत्का उपकार करनेमें सहायक हैं।

भोग और भोग लेनेवाला एक दूसरेके उपकारक होने चाहिये, यह नियम यहां बताया है, वे एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले न हों। कितना उत्तम उपदेश है। यहीं इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र सबकी एकरूपता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राशीत्। (३१)

' अन्नने ही अन्नको खाया है। ' अर्थात् भोक्ता और भोग्य एक ही तत्त्व है। जैसा भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
(गी० ४।२५)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
(गी० ९।१६)

' ब्रह्म ही अर्पणद्रव्य है और ब्रह्म ही अर्पणकर्ता है। ' यह जो गीतामें कहा है वह इसी मंत्रके आधारसे कहा है, अथवा हम यों कह सकते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यहां समान हैं।

हम खानेवाले भी अन्न ही हैं और हम जो खाते हैं वह भी अन्न ही है। मनुष्य भी अन्न ही है। मनुष्यका शरीर हिंस्रप्राणियोंका अन्न तो है ही, परंतु उच्छ्वास जो वात मनुष्यादि प्राणी बाहर फेंकते हैं वह लेकर वनस्पतियां पुष्ट हो सकती हैं। इस तरह यह विचार अनेक रीतियोंसे अनुभवमें आ सकता है।

हृदयके दो गिद्ध

कांड ७, सूक्त ९५

(ऋषिः – कपिञ्जलः। देवता – गृध्रौ।)

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः। उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥
अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव। कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अर्थ– (अस्य विथुरौ गृध्रौ) इसकी व्यथा बढानेवाले दो गिद्ध (श्यावौ गृध्रौ इव) श्याम रंगवाले गिद्धोंके समान (द्यां उत पेततुः) आकाशमें उडते हैं। ये (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोक बढानेवाले और सुखानेवाले हैं। ये (अस्य हृदः उच्छोचनौ) इसके हृदयको सुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

(श्रान्तसदौ गावौ इव) थके हुए गौओं या बैलोंके समान अथवा (कूजन्ता कुर्कुरौ इव) चिल्लानेवाले कुत्तोंके समान, (उत्-अवन्तौ वृकौ इव) हमला करनेवाले भेडियोंके समान (अहं एनौ उत् अति ष्ठिपं) मैं इन दोनोंपर अधिकार करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— काम और लोभ ये दो गिद्धके समान मनुष्यमें रहते हैं, ये पीडा बढानेवाले हैं, ये दोनों शोकको बढानेवाले और सुखानेवाले हैं ये हृदयको भी सुखाते हैं ॥ १ ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत । अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार ॥ ३ ॥

अर्थ— (आतोदिनौ नितोदिनौ) पीडा देनेवाले और व्यथा करनेवाले (अथो उत संतोदिनौ) और दुःख देनेवाले उन दोनोंको (अपि नह्यामि) में बांध देता हूं। (यः पुमान्) जो पुरुष या (स्त्री) स्त्री (इतः मेढ्रं जभार) यहांसे प्रजननसामर्थ्यको धारण करते हैं, उसका भी संयम करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— बैलों, कुत्तों या भेडियोंके समान में इन दोनों भावोंको पारकर परे जाता हूं अर्थात् इनको काबूमें रखता हूं ॥ २ ॥

स्त्री या पुरुष इनके इंद्रियोंका इसमें संबंध है अतः इन पीडा देनेवाले दोनों भावोंको में बंधनमें रखता हूं ॥ ३ ॥

स्त्री पुरुषविषयक काम और लोभ ये मनुष्यके अन्तःकरणको सुखानेवाले, पीडा और कष्ट देनेवाले हैं। ये गिद्धके समान मनुष्यके अन्तःकरणपर हमला करते हैं। अतः इनको बंधनमें-प्रतिबंधमें-रखना चाहिये। अर्थात् इन वृत्तियोंका संयम करना चाहिये। संयम करनेसे ही मनुष्य सुखी होता है।

तृष्णाका विष

कांड ७, सूक्त ११३

(ऋषिः – भार्गवः । देवता – तृष्टिका ।)

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके । यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥
तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि । परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

अर्थ— हे (तृष्टिके) हीन तृष्णा ! हे (तृष्टवन्दने) लोभमयी । (यथा असूं उत् छिन्धि) जैसे भी हो इसको काट । क्योंकि (अमुष्मै शेप्यावते) इस बलशाली पुरुषसे (कृत-द्विष्टा असः) द्वेष करनेवाली तू है ॥ १ ॥

(तृष्टा तृष्टिका असि) तू तृष्णा और लोभमयी है। (विषा विषातकी असि) तू विषैली और विषमयी है। (यथा परिवृक्ता असलि) इसलिए तू उसीप्रकार दबाने योग्य है, जैसे (इव ऋषभस्य वशा) बैलके लिये गाय।

तृष्णा लोभवृत्ति बडी विषमयी मनोवृत्ति है। वह सबको काटती है। यह सब बलवानोंसे द्वेष करती है। यह एक प्रकारकी विषमयी मनोवृत्ति है, अतः इसको घेरकर दबावमें रखना चाहिए। यह वृत्ति कभी मनुष्य पर सवार न हो अपितु मनुष्यके आधीन रहे।

अमावास्या

कांड ७, सूक्त ७९

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - अमावास्या ।)

यत्ते देवा अकृण्वन्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥ २ ॥

आगन्रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती ।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (अमावास्ये) अमावास्ये ! (ते महित्वा) तेरे महत्त्वसे (संवसन्तः देवाः) एकत्र निवास करनेवाले देव (यत् भागधेयं अकृण्वन्) जो भाग्य बनाते हैं, (तेन नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे यज्ञकी पूर्णता कर । हे (विश्ववारे सुभगे) सबके द्वारा वरने योग्य उत्तम भाग्यवती देवी ! (सुवीरं रयिं नः धेहि) उत्तम वीरवाला धन हमें दो ॥ १ ॥

(अहं एव अमावास्या अस्मि) मैं ही अमावास्या हूं । (मां इमे सुकृतः मयि आवसन्ति) मेरी इच्छा करते हुए ये पुण्य करनेवाले लोग मेरे आश्रयसे रहते हैं । (साध्याः इन्द्रज्येष्ठाः सर्वे उभये देवाः) साध्य और इन्द्र आदि सब दोनों प्रकारके देव (मयि समगच्छन्त) मुझमें आकर मिलते हैं ॥ २ ॥

(वसूनां संगमनी) सब वसुओंको मिलानेवाली, (पुष्टं ऊर्जं वसु आवेशयन्ती) पुष्टिकारक और बलवर्धक धन देनेवाली (रात्री आगन्) रात्री आगई है । (अमावास्यायै हविषा विधेम) अमावास्याके लिये हम हवनसे यजन करते हैं । क्योंकि वह (ऊर्जं दुहाना पयसा नः आगन्) अन्न देनेवाली दूधके साथ आई है ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! (त्वत् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि) तेरेसे भिन्न इन सब रूपोंको (परिभूः न जजान) घेरकर कोई नहीं बना सकता । (यत् कामाः ते जुहुमः) जिसकी इच्छा करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो । (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनोंके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब देव जो भाग्य देते हैं वह हमें प्राप्त होवे और उससे हमारा यज्ञ पूर्ण होवे । तथा हमें ऐसा धन प्राप्त होवे कि जिसके साथ वीर हों ॥ १ ॥

मैं अमावास्या हूं, अतः साध्य आदि सब देव तथा पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य मेरे आश्रयसे रहते हैं ॥ २ ॥

अमावास्या सब धन देती है, पुष्टि, बल और धन भी देती है, अतः इसके लिये हवन किया जावे ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! तेरेसे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं है कि जो इस जगत् को घेरकर बना सकता है । जिस कामनासे हम तेरा यजन करते हैं वह कामना हमारी पूर्ण होवे और हम धनके स्वामी बनें ॥ ४ ॥

अमावास्या

'अमावास्या' का अर्थ है 'एकत्र वास करानेवाली'। सूर्य और चन्द्र एक स्थानपर रहते हैं अतः इस तिथिको अमावास्या कहते हैं। सूर्य उग्रस्वरूप है और चन्द्र शान्त स्वरूप है। उग्र और शान्तको एक घरमें रखनेवाली यह अमावास्या है। इसी प्रकार सब देवोंका एकत्र निवास करानेवाली भी यही है। यह गुण मनुष्योंको अपने अंदर धारण करने चाहिये। परस्पर विरोधी स्वभाववाले जितने अधिक मनुष्योंको धारण करनेका सामर्थ्य मनुष्यमें हो उतनी उसकी योग्यता होगी। 'अमावास्या' से यह-बोध मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है।

अमावास्या पर यह सूक्त एक सुंदर काव्य है। यह काव्यरस देता हुआ मनुष्यको उत्तम बोध देता है। विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्योंको एक घरमें, एक जातिमें, एक धर्ममें, एक राष्ट्रमें, एक कार्यमें रखकर उन सबसे एक ही कार्य कराना और उन सबको उन्नत करना, यह इस सूक्तका उपदेशविषय है। जो हरएक व्यवहारमें निःसन्देह बोधप्रद होगा।

पूर्णिमा

कांड ७, सूक्त ८०

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – पौर्णमासी, प्रजापतिः।)

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥
वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे। स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पश्चात् पूर्णा) पीछेसे परिपूर्ण, (उत पुरस्तात् पूर्णा) और आगेसे भी पूर्ण तथा (मध्यतः) बीचमेंसे भी परिपूर्ण (पौर्णमासी उत् जिगाय) पूर्णिमा हुई है। (तस्यां देवैः संवसन्तः) उसमें देवोंके साथ रहते हुए हम सब (महित्वा नाकस्य पृष्ठे इषा संमदेम) महिमासे स्वर्गके पृष्ठपर इच्छाके अनुसार आनन्दका उपभोग करें ॥ १ ॥

(वृषभं वाजिनं पौर्णमासं) बलवान् अन्नवान् पौर्णमासका (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं। (सः नः) वह हम सबको (अक्षितां अन् उपदस्वतीं रयिं ददातु) अक्षय और अविनाशी धन देवे ॥ २ ॥

हे प्रजापते! (त्वत् अन्यः) तुझसे भिन्न (एतानि विश्वा रूपाणि) इन संपूर्ण रूपोंको (परिभूः न जजान) सर्वत्र व्यापकर कोई नहीं उत्पन्न कर सकता। (यत्-कामाः ते जुहुमः) जिसकी कामना करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी बनें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेसे पौर्णमासीको पूर्णिमा कहते हैं। इस समय जो लोग देवोंकी सभामें–यज्ञमें– लगे हुए होते हैं, वे अपनी महिमासे स्वर्गधाम प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

पूर्णमास बल और अन्नसे युक्त होता है, इसीलिये हम सब उसका यजन करते हैं। इससे हम अक्षय धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (पौर्णमासी) पूर्णिमा (अह्नां रात्रीणां अतिशर्वरेषु) दिनोंमें तथा रात्रियोंके अंधेरोंमें (प्रथमा यज्ञिया आसीत्) प्रथम पूजनीय है । हे (यज्ञिये) पूजनीय ! (ये त्वां यज्ञैः अर्धयन्ति) जो तुम्हें यज्ञके द्वारा पूजते हैं, (ते अमी सुकृतः नाके प्रविष्टाः) वे ये सत्कर्म करनेवाले स्वर्गमें प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस जगत्के अनन्त रूपोंको उत्पन्न करनेवाला प्रजापतिसे भिन्न कोई नहीं है। जिस कामनासे हम यज्ञ करते हैं वह पूर्ण हो और हम धन संपन्न बनें ॥ ३ ॥

पूर्णिमा दिनमें और रात्रीमें पूजने योग्य है। हे पूर्णिमा ! तेरा यजन हम करते हैं, हमें स्वर्गधाममें प्रवेश प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

ये दोनों सूक्त अमावास्या और पौणमासीके ' दर्श और पूर्णमास ' यज्ञोंके सूचक हैं। अमावास्याके समय जैसा यजन करना चाहिये, उसी प्रकार पूर्णिमाके समय भी करना चाहिए। इससे इहलोक और परलोकमें लाभ होता है।

इसीका वर्णन इन सूक्तोंमें पाठक देख सकते हैं। दर्शपूर्णमास यज्ञकी आवश्यकता इन दो सूक्तोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

अनुमति

कांड ७, सूक्त २०

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – अनुमतिः ।)

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥
अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अर्थ— (अद्य नः अनुमतिः) आज हमारी बुद्धि (देवेषु यज्ञं अनुमन्यतां) देवताके लिये सत्कर्म करनेके लिये अनुमति देवे। (हव्यवाहनः अग्निः) हवनीय पदार्थोंको ले जानेवाला अग्नि (मम दाशुषे भवतां) हमारे दाताके लिये अनुकूल होवे ॥ १ ॥

हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धि ! (त्वं इत् अनुमंससे) तू इस कार्यके लिए अनुमति दे और (नः च शं कृधि) हमारा कल्याण कर। (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये हुए पदार्थको स्वीकार कर। हे (देवि) देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें उत्तम संतान दे ॥ २ ॥

भावार्थ— आज ही हमारी बुद्धि सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे और अग्नि आदिकी अनुकूलता हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

अनुकूल मति होनेसे ही यह सब कार्य होता है, इसलिये हमारी अनुमतिसे ऐसे कार्य होवें, कि जो हमारा कल्याण करनेवाले हों। हम जो दान करते हैं वह सत्कर्ममें लगे और हमें उत्तम संतान प्राप्त होवे ॥ २ ॥

अनु॑ मन्यतामनु॒मन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृ॒डीके॑ अ॒स्य सु॒मतौ॑ स्या॑म ॥ ३ ॥
यत्ते॒ नाम॑ सु॒हवं॑ सुप्रणी॒तेऽनु॑मते॒ अनु॑मतं सु॒दानु॑ ।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ ४ ॥
एमं य॒ज्ञमनु॑मतिर्जगाम सुक्षेत्र॒ताया॑ सुवी॒रता॑यै सु॒जा॑तम् ।
भ॒द्रा ह्य॑स्याः॒ प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं य॒ज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥
अनु॑म॒तिः सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति ।
तस्या॑स्ते देवि सु॒मतौ॑ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अर्थ– (अनुमन्यमानः) अनुमोदन करनेवाला (अक्षीयमाणं प्रजावन्तं धनं अनुमन्यतां) क्षीण न होनेवाले प्रजायुक्त धन प्राप्त करनेके लिये अनुमति देवे। (तस्य हेडसि वयं मा अपि भूम) उसके क्रोधमें हम क्षीण न हों। (अस्य सुमृडीके सुमतौ स्याम) इसकी सुख और सुमतिमें हम रहें ॥ ३ ॥

हे (सु-प्र-नीते अनुमते) उत्तम प्रकारसे, आगे ले जानेवाली अनुमति ! हे (विश्ववारे) सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य ! (यत् ते सुदानु सुहवं अनुमतं नाम) जो तेरा उत्तम दानशील, उत्तम त्यागमय, अनुमतियुक्त यश है, (ततः नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे सत्कर्मको पूर्ण कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवाली ! (न सुवीरं रयिं धेहि) उत्तम वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ ४ ॥

(इमं सुजातं यज्ञं) इस प्रसिद्ध सत्कर्मके प्रति (अनुमतिः सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै आजगाम) अनुमति उत्तम स्थान बनानेके लिये और उत्तम वीरता उत्पन्न करनेके लिये आई है। (अस्याः प्रमतिः भद्रा बभूव) इसकी श्रेष्ठ बुद्धि कल्याण करनेवाली है। (सा देवगोपा इमं यज्ञ आ अवतु) वह देवों द्वारा रक्षित हुई सुमति सब प्रकारसे इस सत्कर्मकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

(यत् तिष्ठति) जो स्थिर है, (यत् चरति) जो चलता है, (यत् च विश्वं एजति) जो सबको चला रहा है, (इदं सर्वं अनुमतिः बभूव) वह यह सब अनुमति ही है। हे देवि ! (तस्याः ते सुमतौ स्याम) उस तेरी सुमतिमें हम रहें। हे अनुमति ! (नः हि अनुमंससे) हमें तू अनुमति देती रह ॥ ६ ॥

भावार्थ— क्षीण न होनेवाला धन और उत्तम प्रजाके लिये जैसे सत्कर्म करने चाहिये वैसे कर्म करनेमें हमारी मति अनुकूल होवे। अर्थात् सच्चा और उत्तम सुख देनेवाली सुमति हमारे पास होवे ! और हम कभी क्रोधमें आकर सुमतिके विरुद्ध कार्य न करें ॥ ३ ॥

उत्तम नीति और सुमतिका यश बडा है और उसमें दान, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं। इन गुणोंसे युक्त हमारे सत्कर्म हों और हमें वीरोंसे युक्त धन मिले ॥ ४ ॥

सुप्रसिद्ध सत्कर्मके लिये हमारी अनुकूलमति होवे, और उससे हमें उत्तम वीरत्व और उत्तम कार्यक्षेत्र प्राप्त हों। ऐसी जो सद्बुद्धि होती है वही कल्याण करती है। यह देवोंसे रक्षित होनेवाली बुद्धि हमारे द्वारा किये जानेवाले सत्कर्मकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

जो स्थिर और चर पदार्थ हैं और जो उनकी चालक शक्ति है, यह सब अनुमतिसे ही बने हैं। यह अनुमति हमारे अनुकूल रहे अर्थात् हमसे प्रतिकूल बर्ताव न करावे और हमें सदा सत्कर्म करनेकी ही प्रेरणा करती रहे ॥ ६ ॥

अनुमति

अनुमतिकी शक्ति

' अनुकूल बुद्धि ' को ही ' अनुमति ' कहते हैं, जगत्में जो कुछ भी बन रहा है वह अनुकूल मतिसे ही बन रहा है। चोर चोरी करता है वह अपनी अनुमतिसे करता है, योगी योगाभ्यास करता है वह अपनी अनुमतिसे ही करता है और देशभक्त स्वराज्य युद्धमें संमिलित होकर अपना सिर कटवाता है वह भी अपनी अनुमतिसे ही कटवाता है। तात्पर्य यह कि, मनुष्य जो कुछ कार्य, बुरा या भला, हितकारी या अहितकारी, देशोद्धारक या देशघातक, करता है वह सब अपनी अनुमतिसे ही निश्चित करके करता है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है—

यत् तिष्ठति, चराति, यत् उ च विश्वमेजति,
इदं सर्वं अनुमतिः बभूव ॥ (मं. ६)

' जो स्थिर है, जो चंचल है, और जो सबको चलाता है, वह सब अनुमतिसे ही हुआ है।' यह मंत्र छोटे कार्यसे लेकर बडे विश्वव्यापक कार्यतक व्यापनेवाला तत्त्व कह रहा है। जो स्थिर जगत्की व्यवस्था है, जो चर जगत्का प्रबंध है और जो इस सब स्थिरचर जगत्को चलाता है वह सब विश्वका कार्य परमेश्वर अपनी अनुमतिसे करता है। यह संपूर्ण जगत् जो चल रहा है वह परमेश्वरकी अनुमतिसे ही चल रहा है। यहां तक अनुमतिकी शक्ति है। इसी प्रकार मनुष्य भी जो अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करते हैं वह सब उनकी अपनी निज अनुमतिसे ही करते हैं। मनुष्य बचपनसे मरनेतक जो करता है वह सबका सब अपनी अनुमतिसे ही करता है, इतना अनुमतिका साम्राज्य सब जगत्में चल रहा है। इसीलिये अपनी अनमति अच्छे कार्योंके लिये ही होवे और बुरे कार्योंके लिये न होवे, ऐसी दक्षता धारण करनी चाहिए। यह सूचना निम्नलिखित मंत्रभाग देते हैं—

देवेषु यज्ञं अनुमन्यताम्। (मं. १)
अनुमते ! त्वं अनुमंससे, नः शं कृधि। (मं. २)
वयं तस्य हेडसि मा अपि भूम। (मं. ३)
सुमृडीके सुमतौ स्याम। (मं. ३)
सुदानु सुहवं अनुमतं नाम। मं. ४)
सुवीरं रयिं धेहि। (मं. ४)
सुमतौ स्याम। (मं. ६)

'देवोंमें चलनेवाले सत्कर्मके लिए अनुमति हो, अर्थात् राक्षसोंके चलाये घातक कार्योंके लिए कदापि अनुमति न होवे। अनुमतिसे ही सब कार्य होते हैं, इसलिए ऐसे कार्योंके लिए अनुमति होवे कि, जिससे कल्याण हो। हम कभी क्रोधके लिए अपनी मति न करें, किसीके क्रोधके लिए हम अनुकूल न हों। सबका सुख बढानेके कार्योंमें और उत्तम बुद्धिके कार्योंमें हमारी अनुकूलमति हो, अर्थात् दुःख बढानेवाले किसी कार्यके लिए हम अपनी अनुमति न दें। जिसमें दान होता है और त्याग होता है, परोपकार जिसमें है ऐसे कार्योंके लिए जो अनुमति होती है, वही यश बढानेवाली होती है, । अर्थात् जिसमें परोपकार नहीं किसीका भला नहीं, बुरा ही बुरा है वैसे कार्योंको अनुमति देनेसे अकीर्ति ही होती है। सदा अनुमति ऐसे ही कार्योंके लिए रखनी चाहिए कि, जो वीरता युक्त धन बढानेवाले हों। भीरुता और नीचतासे धन कमानेके कार्योंके लिए कभी कोई अपनी अनुमति न दे। सारांश यह है कि, सुमतिके लिए हमारी अनुमति होवे और दुर्मतिके लिए कदापि न होवे। '

इस सूक्तमें जो विशेष महत्वके उपदेश हैं वे ये हैं। अनुमतिकी शक्ति बडी है, इसलिए उस अनुमतिको अच्छे कार्यों में ही लगाना योग्य है, अन्यथा हानि होगी। इस विषयमें सबसे पहली आज्ञा यह है—

नः अनुमतिः देवेषु यज्ञं अद्य अनुमन्यताम्। (मं. १)

' हमारी अनुमति देवोंमें चलाये जानेवाले सत्कर्मके लिए आज ही अनुमोदन देवे। ' यहां कलका वायदा नहीं, शुभकर्म आज ही करना चाहिए, कलके लिए नहीं रखना चाहिए। सत्कर्मका लक्षण यह है कि (देवेषु यज्ञं) देवोंमें होनेवाले यज्ञके लिए अपनी अनुमति देनी चाहिए। देव वह हैं कि, जो दान देते हैं प्रकाश देते हैं, परोपकार करते हैं। पृथिवी देवता है वह सबको आधार देती है, जल देवता है वह सबको शांतिसुख देनेके लिए आत्मसमर्पण करता है, अग्नि देवता है वह शीतपीडितोंको गर्मी देकर सुख पहुंचाती है, सूर्य देवता सबको जीवन और प्रकाश देता है, वायु सबका प्राण बनकर सबको आयु प्रदान कर रहा है, चन्द्रमा स्वयं कष्ट भोग कर भी दूसरोंको शांति देनेमें तत्पर रहता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवता अहर्निश परोपकारमें लगे हुए हैं। यही देवताओंमें होनेवाला परोपकारमय यज्ञ है ऐसे शुभ कर्मोंके लिए हमारी मति अनुकूल होवे इन देवोंमें—

दाशुषे हव्यवाहनः अग्निः भवन्ताम् । (मं. १)

'दानी पुरुषके लिये हव्यवाहक अग्नि आदर्श होवे ।' अग्नि ही परोपकारका आदर्श है क्योंकि वह स्वयं जलकर भी दूसरोंको सुख देनेके लिये प्रकाशित होता है, हिमपीडितोंको गर्मी देता है और अपनी ऊर्ध्वगति कायम रखता है। हरएक अवस्थामें अपनी उच्च गति स्थिर रखनेके कार्यमें अग्निही एक श्रेष्ठ आदर्श है। (अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं) ऊपरकी दिशासे प्रकाशित होकर प्रगति करनेका आदर्श ' अग्नि ही सबको देता है। हरएक अपने सामने यह आदर्श सदा रखे और कोई मनुष्य अपनी गति हीन दिशासे कदापि होने न दें। सूर्य भी अग्निरूप होनेके कारण सबसे उच्च स्थानपर रहता हुआ प्रकाशता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी उच्च से उच्च अवस्था प्राप्त करें और प्रकाशित् हों। कभी नीच अवस्थामें पडकर अवनत न हों और कभी अंधकार के कीचडमें न फंसे। किस कार्यके लिये अनुमति देनी उचित है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिये—

अक्षीयमाणं प्रजावन्तं रयिं अनुमन्यताम् । (मं० ३)
सुवीरं रयिं (अनुमन्यतां) । (मं० ४)

'क्षीण न होनेवाला, प्रजायुक्त और वीरोंसे युक्त धनको बढानेवाले जो जो श्रेष्ठ कर्म हों ' उन कर्मोंको करनेकी अनुमति होनी चाहिये। अर्थात् कोई ऐसे दुष्ट व्यसन, जिनमें धनका नाश होजाता है, उनमें कदापि अनुमति नहीं होनी चाहिये। मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग मनन करने योग्य है-

सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै अनुमतिः । (मं० ५)

'अपना प्रदेश उत्तम बने और उसमें वीरभाव बढे, इन दो कार्योंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये।' हरएक प्रकारका क्षेत्र (सु-क्षेत्र) उत्तमसे उत्तम क्षेत्र बने, हरएक ग्राम, नगर और प्रांत सुधरे, हरएक राष्ट्र सुधर कर सबसे श्रेष्ठ बने, इस कार्यके लिये प्रयत्न होने चाहियें और जिनसे यह सुधार हो ऐसे कार्य करनेके लिये अनुमति देनी चाहिये। जिससे स्थान हीन हो, जिससे देशका देश दीन हो, ऐसे किसी कार्यको अनुमति नहीं देनी चाहिये।

सुमति हमेशा (देवगोपा) देवोंद्वारा रक्षित हुई मति है अर्थात् जो दुर्मति होती है वह राक्षसों द्वारा रक्षित होती है। इसलिये अपनी मतिको राक्षसोंके आधीन करना किसीको भी योग्य नहीं है। देवोंद्वारा सुरक्षित हुई जो प्रमति और विशेष श्रेष्ठ बुद्धि होती है, वही 'भद्रा' अर्थात् सबका कल्याण करनेवाली होती है।

इस प्रकार इस सूक्तका उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आत्मशुद्धि करनेवालोंके लिए यह सूक्त उत्तम रीतिसे मार्गदर्शक हो सकता है। इस दृष्टिसे इस सूक्तका एक एक वाक्य बहुत ही बोधप्रद है।

हृदयमें अग्निकी ज्योति

कांड ६, सूक्त ७६

(ऋषिः – कबन्धः । देवता – सान्तपनाग्निः ।)

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे । संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥
अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे । अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

अर्थ— (ये एनं परिषीदन्ति) जो इसके चारों ओर बैठते हैं, इसकी उपासना करते हैं और (चक्षसे सं आदधति) दिव्य दृष्टिके लिये इसका आधान करते हैं, उनके (हृदयात् अधि) हृदयके उपर (संप्रेद्धः अग्निः जिह्वाभिः उदेतु) प्रदीप्त हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओंसे उदय होवे ॥ १ ॥

(यस्य आस्यतः) जिसके मुखसे (उद्यन्तं धूमं अद्धातिः पश्यति) निकलनेवाले धूएंको सत्यज्ञानी देखता है ऐसे (सांतपनस्य अग्नेः पदं) तपनेवाले अग्निके पदको में (आयुषे आरभे) आयुष्यके लिये प्राप्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो इस अग्निके चारों ओर बैठकर हवनादि करते हैं, जो दृष्टिकी शुद्धताके लिये अग्निका आधान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्वलित होकर दूसरी ही आत्माग्नि प्रकाशित होती है ॥ १ ॥

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् । नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥
नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति । अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

अर्थ — (यः क्षत्रियेण समाहितां) जो क्षत्रिय द्वारा समर्पित हुई (अस्य समिधं वेद) इसकी समिधाको जानता है (सः अभिह्वारे मृत्यवे) वह कुटिल स्थानमें भी मृत्युके लिये (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता है ॥ ३ ॥

(यः विद्वान् क्षत्रियः) जो ज्ञानी क्षत्रिय (अग्नेः नाम आयुषे गृह्णाति) अग्निका नाम आयुके लिये लेता है, (पर्यायिणः एनं न घ्नन्ति) घेरनेवाले इसका घात नहीं करते और (सन्नान् न अवगच्छति) समीप बैठनेवाले इसको जानते भी नहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस हृदयस्थानीय प्रदीप्त आत्माग्निके स्थानको दीर्घायुके लिये प्राप्त करते हैं, इस आत्माग्निका मुखसे वाणी द्वारा निकला हुआ धुवां अर्थात् उसका चिन्ह ज्ञानी लोग ही देखते हैं ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय आत्मसमर्पण द्वारा इसके मूलस्थानको जानता है, वह कठिन प्रसंगमें भी मृत्युको अपना पैर तक नहीं देता, अर्थात् वह अजरामर होता है ॥ ३ ॥

जो घेरनेवाले शत्रु हैं वे इस आत्माग्निका घात नहीं करते और समीप रहनेवाले भी इसको जाननेमें समर्थ नहीं होते । जो ज्ञानी क्षत्रिय इस आत्माग्निका नाम लेता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

हृदयमें अग्निकी ज्योति

हृदयकी अग्नि

यज्ञके बाह्य अग्निके प्रदीप्त होनेके पश्चात् और यज्ञाग्नि की हवन द्वारा उपासना करनेके नंतर दूसरी ही एक अग्नि हृदयमें प्रदीप्त होती है—

हृदयात् अधि अग्निः उदेतु । (मं० १)

'हृदयकी वेदिपर एक अग्नि प्रदीप्त होता है ।' अर्थात् यह अग्नि केवल भौतिक अग्नि नहीं है। यह अभौतिक आत्मारूप अग्नि है। हृदयमें बुद्धिके परे आत्माकी उपस्थिति है यह बात सब जानते ही हैं। इसीका नाम 'सांतपनाग्नि' है जिससे अन्तःकरणमें प्रसन्नता और उत्साह रहता है, इसीको हृदयकी गर्मी अथवा मनका उत्साह कहते हैं। इस अग्निके प्रज्वलित होनेका ज्ञान ज्ञानीको ही होता है, कोई अन्य इसको नहीं जान सकता —

अस्य धूमं अद्धातिः पश्यति । (मं. २)

'इसके धुंवेको ज्ञानी देखता है ।' धूम्रसे ही अग्निका ज्ञान होता है। जहां धुवां है वहां अग्नि होती है, यह न्याय सर्वमान्य है । अर्थात् धुवां देखनेका अर्थ धुंवेके नीचे रहनेवाले अग्निका अनुभव करना है। अग्निहोत्र करनेसे इस हृदयस्थानीय आत्माग्निकी जाग्रति होती है ।

क्षत्रिय आत्मसमर्पणसे इस अग्निको जानता है, और जो स्वार्थ छोडता है उसको भी इसका ज्ञान होता है । खुदगर्ज अर्थात् केवल स्वार्थी जो मनुष्य होता है वह इसकी शक्तिसे अनभिज्ञ होता है ।

इस आत्मशक्तिके प्रकट होनेसे शत्रु उसका कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् किसीके भी दबावसे वह दबता नहीं । विद्वान् क्षत्रिय इसीके बलसे दीर्घायु प्राप्त करता है और अमर होता है ।

भौतिक अग्निकी सहातासे अभौतिक आत्माग्निका ज्ञान इस सूक्तने दिया है । इस दृष्टिसे इस सूक्तका महत्व विशेष है ।

अग्निसे दिव्य दृष्टि

अग्नितापसे दृष्टि शुद्धता होनेका कथन इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें है—

चक्षसे सं आ दधाति । (मं० १)

'दृष्टिके लिए अग्निका आधान करता है ।' अर्थात् यज्ञ-कुण्डमें अग्निकी स्थापना करके यज्ञ करता है और अग्निमें हवन करता है । अग्निके समीप बैठकर हवन करनेसे दृष्टि सुधरती है यह इस मंत्रका तात्पर्य हैं ।

औंध रियासतमें कराड स्टेशनके समीप ओगलेवाडी नामक

ग्राममें काच बनानेका एक बडाभारी कारखाना है। उसमें हरएक प्रकारके शीशेके पदार्थ बनते हैं। शीशा बनानेके लिए जो भट्टी होती है, उसके पास इतनी उष्णता होती है कि साधारण मनुष्य क्षणमात्र भी उसके पास खडा नहीं रह सकता। परंतु जो मनुष्य वही काम करते हैं वे भट्टीके पास ही रहते हैं। गत पंद्रह वर्षोंके अनुभवसे वहांके प्रबंधकर्ताने कहा की, जो आंखके रोगी, या दृष्टिदोषसे कमजोर आंखवाले मनुष्य आये और उक्त काम करने लगे, उनकी आंखें सुधर गयीं। और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ कि अग्निके समीप इतनी उष्णतामें काम करनेके कारण एककी भी आंखें बिगडी हों। यह अनुभव विचार करने योग्य है।

इससे भी अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन सबेरे और शामको, तथा वैदिक रीतिसे देखा जाय तो प्रातः, मध्यदिनमें और सायंकालको नियमपूर्वक अग्न्याधान करके नियमपूर्वक हवन करनेवालोंको नेत्रदोषकी बाधा नहीं हो सकती। तथा यदि उस हवनमें नेत्रदोष दूर करनेवाले हवनपदार्थ डाले जांय, तो अधिक लाभ होगा। इसमें संदेह नहीं। यज्ञसे नेत्रदोष इस कारण दूर हो सकते हैं।

सबकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ७७

(ऋषिः - कबन्धः। देवता - जातवेदाः।)

अस्था॒द् द्यौरस्था॑त्पृथि॒व्यस्था॒द्विश्व॑मि॒दं जग॑त्। आ॒स्थाने॒ पर्व॑ता अस्थु॒ स्थाम्न्यश्वाँ॑ अतिष्ठिपम् ॥१॥
य उ॒दान॑ट् प॒राय॑णं य उ॒दान॒ण्न्याय॑नम्। आ॒वर्त॑नं नि॒वर्त॑नं यो गो॒पा अ॒पि तं हु॑वे ॥ २ ॥
जात॑वेदो॒ नि व॑र्तय श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृत॑ः। स॒हस्रं॑ त उपा॒वृत॒स्ताभि॑र्न॒ः पु॒नरा कृ॑धि ॥ ३ ॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक स्थिर हुआ है। (पृथिवी अस्थात्) पृथ्वी स्थिर है। (इदं विश्वं जगत् अस्थात्) यह सब जगत् स्थिर है। (आस्थाने पर्वता अस्थुः) अपने स्थान पर पर्वत भी स्थिर हुए हैं। अतः मैंने भी अपने (अश्वान् स्थाम्नि अतिष्ठिपं) घोडोंको यथास्थानमें ठहराया है ॥ १ ॥

(यः गोपाः परायणं उदानट्) जिस पृथ्वीपालक राजाने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया, (यः न्यायनं उदानट्) जिसने निम्न स्थान प्राप्त किया है, (आवर्तनं निवर्तनं) जिसमें आने और जानेका सामर्थ्य है (तं अपि हुवे) उसकी भी मैं प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (निवर्तय) लौट जा, (ते आवृताः शतं) तेरे आवरण सैंकडों हैं। और (ते उपावृतः सहस्रं) तेरे समीपके अनेक मार्ग हैं। (ताभिः नः पुनः आकृधि) उनसे हमें फिर समर्थ कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, द्युलोक तथा सब जगत् यथास्थानमें स्थित हैं। पर्वत भी अपने स्थानमें स्थिर हैं। इसी प्रकार मनुष्य, घोडे आदि यथास्थानम स्थिर रहें ॥ १ ॥

जिस भूपति राजाने उच्च और निम्न स्थान प्राप्त किये हैं, जो योग्य स्थानमें आता जाता रहता है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष ! अपने स्थानमें लौट जावे, तेरे आवरण और उपावरणकी शक्तियां अनेक हैं, उनसे वह हमें समर्थ करे ॥ ३ ॥

स्थिरता

सब जगत् अपने स्थानमें स्थिर हैं। सूर्यादि गोलक भ्रमण करते हैं, तथापि कोई भी अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता है। और सब अपनी मर्यादामें रहनेके कारण सब जगत्के अवयव स्थिर हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने धर्मकी मर्यादामें रहकर स्थिर हो जायें। इस प्रकार रहनेसे सबका सामर्थ्य बढता है।

हमारी सुरक्षा

कांड ६, सूक्त ९३

(ऋषिः – शन्तातिः । देवता – रुद्रः ।)

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥
मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥ २ ॥
त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद्विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (यमः) नियामक, (मृत्युः) मारक, (अघ-मारः) पापियोंको मारनेवाला, (निर्ऋथः) पीडक, (बभ्रुः) पोषक, (शर्वः) हिंसक, (अस्ता) शस्त्र फेंकनेवाला, (नीलशिखण्डः) नीले ध्वजसे युक्त रुद्र तथा (देवजनाः) सब दिव्य जन, (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेनाके साथ चढाई करनेवाले, (अस्माकं वीरान् परिवृञ्जन्तु) हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥

(अस्त्रे शर्वाय) अस्त्र फेंकनेवाले हिंसकके लिये (उत भवाय राज्ञे) और उन्नति करनेवाले राजाके लिये (मनसा घृतेन होमैः हरसा) मनसे, घीसे, होमोंसे और शक्तिसे (एभ्यः नमस्येभ्यः नमः कृणोमि) इन नमन करने योग्योंको नमन करता हूं (अघविषाः अस्मद् अन्यत्र नयन्तु) पापरूपी विषसे परिपूर्ण लोग हमसे दूर हों ॥ २ ॥

(विश्वेदेवाः विश्ववेदसः मरुतः) सब दिव्य और सब जाननेवाले मरने तक कार्य करनेवाले वीर तथा (अग्निषोमौ पूतदक्षः वरुणः) अग्नि, सोम, पवित्रबलवाला वरुण, (अघविषाभ्यः वधात् त्रायध्वं) पापियोंके वधसे हमें बचावें । (वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम) वायु और पर्जन्यकी सुमतिमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब शूरवीर हमारे बालबच्चों और हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥
जो नमन करने योग्य हैं उनका मनसे और दानके साथ सत्कार किया जावे । पापी हम सबसे दूर हों ॥ २ ॥
सब देव हमें पापियोंसे बचावें और हम उनकी उत्तम मतिमें रहकर उत्तम कार्य करें ॥ ३ ॥

समृद्धिकी प्राप्ति

कांड ३, सूक्त २४

(ऋषिः – भृगुः । देवता – वनस्पतिः, प्रजापतिः ।)

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः । अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

अर्थ— (औषधयः पयस्वतीः) औषधियां रसवाली हैं, और (मामकं वचः पयस्वत्) मेरा वचन भी सार-वाला है । (अथो) इसलिये (पयस्वतीनां सहस्रशः) रसवाली औषधियोंका हजारों प्रकारसे (अहं आभरे) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥
उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ — जिससे (पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाले बहुत धान्यको उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद) में जानता हूं। (यः यः अयज्वनः गृहे) जो कुछ अयाजकके घरमें है, उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पांच जातियां हैं, वे (इह स्फातिं समावहन्) यहां वृद्धिको उसीप्रकार प्राप्त करें (इव) जिस प्रकार (वृष्टे नदीः शापं) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लातीं हैं ॥ ३ ॥

(शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) सैंकडों और हजारों धाराओंवाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माकं इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौ हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आ। हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथोंवाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैला दे, उसका दान कर। और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्यकी (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिको धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियोंकी चार होती हैं। (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशामसि) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समूहः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं। (तौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहुं अक्षितं भूमानं आवहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ — रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि में जानता हूं। इसलिये उस दयावान् ईश्वरका में यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि उसी तरह प्राप्त करें, जैसे नदियां वृष्टि होने पर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

वृष्टि होनेसे तालाब आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसीप्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय होजावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसेही अधिकसे अधिक समृद्धि मिलेगी ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं। अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्राप्ति

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे ही जानते हैं। समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। जो लोग समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें। समृद्धिकी प्राप्तिके लिए पहिला नियम 'मीठी वाणी' है —

पयस्वान् मामकं वचः (मं० १)

'दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो,' भाषणमें मधुरता, रसमयता, मिठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे। समृद्धि प्राप्त करनेके लिए मीठा भाषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यकता है। आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है। इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, 'दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना'—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः। (मं० १)
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ॥ (मं० २)

'रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसे उत्पन्न किया जाता है, यह विद्या मैं जानता हूं। अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्य संग्रह बढाना समृद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हो तो अन्य समृद्धिसे भी कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाले मनुष्यके पास बहुतसे मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पासके रसवाले धान्यके आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् 'सामुदायिक उपासना करना' समृद्धिके लिए आवश्यक है—

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे। (मं० २)

'जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।' परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपावृष्टि सभीपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिए ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य है। इस मंत्रमें 'हवामहे' यह बहुवचनमें पद है, इसलिए बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका—यज्ञ करनेका—भाव इससे स्पष्ट होता है।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।' (मं. ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि होनेपर नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन करनेपर मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी।

समृद्धिके लिए रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिए चतुर्थ मंत्रमें 'हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह' अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेष महत्त्वका उपदेश है। पर इस प्रकार यदि धनधान्यकी विपुलता होगी तो स्वार्थ भी उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति सर्वथा असंभव हो जायगी, इसलिए पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश है —

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। (मं० ५)

'सौ हाथोंवाले होकर कमाई करो और हजार हाथोंवाले बनकर उसका दान करो।' यह उपदेश हरएक मनुष्यको अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह (मं० ५)

'इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्मकी यहां उन्नति करो।' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करके अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश अत्यंत मनन करने योग्य है। '(कार्यस्य स्फातिं समावह)' ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षणरूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि गौरक्ष्य वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निषाद वनके रक्षा विषयक कर्तव्योंकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति होनेपर ही संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिए अवश्य ही कटिबद्ध होना

चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। 'उपोहः' और 'समूहः' इनके विशेष अर्थ देखिये –

१ उपोहः – (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ समूहः – समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संग्रहीत द्रव्योंको वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ न हो। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें 'उपोहः (संग्रह) और समूहः (समूहोंमें वर्गीकरण करना)' ये दो बातें समृद्धिकी साधक बताई हैं। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधन हैं इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन स्पष्ट ही है —

तौ इह स्फातिं आ वहताम्।
अक्षितं बहुं भूमानम्। (मं. ७)

'वे (अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये) दोनों इस संसारमें (स्फातिं) समृद्धिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।'

जिसको समृद्धि और धन चाहिए वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिए। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है।

गाढ निद्रा

कांड ४, सूक्त ५

(ऋषिः – ब्रह्मा। देवता – स्वापनं, वृषभः।)

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥
न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन। स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥
प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥३॥

अर्थ— (सहस्रशृंगः वृषभः) सहस्र सींगवाला अर्थात् हजारों किरणोंसे युक्त बलवान् चन्द्र (यः समुद्रात् उदाचरत्) जो समुद्रसे उदय हुआ है, (तेन सहस्येन) उस बलवान्‌की सहायतासे (वयं जनान् नि स्वापयामसि) हम जनोंको सुला देते हैं ॥ १ ॥

(न वातः भूमिं अति वाति) इस समय न तो वायु भूमिपर अधिक चलता है, (न कश्चन अतिपश्यति) न कोई ऊपरसे देखता है, (इन्द्रसखा चरन्) इन्द्रका मित्र होकर बहता हुआ तू वायु (सर्वाः स्त्रियः शुनः च स्वापय) सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको सुला दे ॥ २ ॥

(प्रोष्ठे-शयाः तल्पे-शयाः) मंचकोंपर सोनेवाली, खाटोंपर सोनेवाली (वह्य-शीवरीः) हिंडोले आदिमें सोनेवाली (याः नारीः) जो स्त्रियां हैं (याः पुण्यगन्धाः स्त्रियः) जो पुण्य गन्धवाली स्त्रियां हैं (ताः सर्वाः स्वापयामसि) उन सबको हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

*

एजंदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमंजग्रभम् । अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥
य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति । तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥
स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥
स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

अर्थ— (एजत्-एजत् चक्षुः अजग्रभं) इधर उधर भटकनेवाली आंखको मैंने निग्रहमें रखा है, उसी प्रकार (प्राणं अजग्रभं) प्राणको मैंने स्वाधीन किया है, (रात्रीणां अति शर्वरे) रात्रियोंके अंधकारमें (सर्वा अंगानि अजग्रभं) सब अंगोंको मैंने निग्रहमें रखा है ॥ ४ ॥

(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो खडे होकर देखता है (तेषां अक्षीणि संदध्मः) उनकी आंखोंको हम उसी प्रकार बन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद किये जाते हैं ॥ ५ ॥

(माता स्वप्तु, पिता स्वप्तु) माता सोवे, पिता सोवे (श्वा स्वप्तु, विश्पतिः स्वप्तु) कुत्ता सोवे और प्रजारक्षक सोवे, (अस्यै ज्ञातयः स्वपन्तु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवें (अयं जनः अभितः स्वप्तु) यह मनुष्य चारों ओर सोवे ॥ ६ ॥

हे (स्वप्न) निद्रा ! (स्वप्न-अभिकरणेन) नींदके उपायसे (सर्वं जनं निष्वापय) सब जनोंको सुला दे। (अन्यान् जनान् आ-उत्-सूर्यं स्वापय) अन्य जनोंको सूर्यके उदय होनेतक सुला दे। परंतु (अहं इन्द्रः इव) मैं शूर पुरुषके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतात्) जागता रहूं ॥ ७ ॥

गाढ निद्रा लानेका उपाय

[यह सूक्त अति सरल होनेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है ।] इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है। चंद्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शांतिका ध्यान करनेसे मन शान्त बन कर गाढ निद्रा आ सकती है। (मं० १) मंद वायु चल रही है इस प्रकारकी भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है। (मं० २) आंखोंको, अंगों और अवयवोंको तथा प्राणको शांत करनेसे भी निद्रा आती है। (मं० ४) तरुण स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी वृत्तियां शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शान्ति बढानी चाहिये, जिससे सुख पूर्वक वे सो सकें। पास रक्षाके लिये कुत्तोंको भी सुलाना चाहिये। (मं० ६)

जो संरक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परंतु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबकी रक्षा करें। (मं० ७)

ऐश्वर्यमयी विपत्ति

कांड ५, सूक्त ७

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – बहुदैवत्यम् ।)

आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम् ।
नमो॑ वी॒र्त्सा॑या॒ अस॑मृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥ १ ॥

यम॑राते पु॒रोध॒त्से पुरु॑षं परिरा॒पिण॑म् । नम॑स्ते॒ तस्मै॑ कृण्मो॒ मा व॒निं व्य॑थयी॒र्मम॑ ॥ २ ॥

प्र णो॑ व॒निर्दे॒वकृ॑ता॒ दिवा॒ नक्तं॑ च कल्पताम् । अरा॑तिमनु॒प्रेमो॑ व॒यं नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥ ३ ॥

सर॑स्वती॒मनु॑मतिं भग॒ं यन्तो॑ हवामहे । वाचं॑ जु॒ष्टां मधु॑मतीमवादिषं दे॒वानां॑ दे॒वहू॑तिषु ॥ ४ ॥

यं याचा॑म्यह॒ं वा॒चा सर॑स्वत्या मनो॒युजा॑ । श्र॒द्धा तम॒द्य वि॑न्दतु द॒त्ता सोमे॑न ब॒भ्रुणा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी ! (नः आभर) हमें भरपूर दे, हमसे (परी मा स्थाः) अलग मत हो, (नः नीयमानां दक्षिणां मा रक्षीः) हमारे द्वारा लाई गई दक्षिणाको अपने पास मत रख। ऐसी (वीर्त्सायै असमृद्धये नमः) ईर्ष्या युक्त असमृद्धिके लिये नमस्कार है और (अरातये नमः अस्तु) अदानीके लिये दूरसे नमस्कार है ॥ १ ॥

हे (अराते) अदानशीलते ! (यं परिरापिणं पुरुषं पुरोधत्से) जिस बडबड करनेवाले पुरुषको तू आगे धरती है (ते तस्मै नमः कृण्मः) तेरे उस पुरुषको हम नमस्कार करते हैं। परंतु (मम वनिं मा व्यथयीः) मेरे मनकी इच्छाको तू पीडा न दे ॥ २ ॥

(नः देवकृता वनिः) हमारी देवों द्वारा निर्मित इच्छा (दिवा नक्तं च कल्पतां) दिन और रात समर्थ होवे। (वयं अरातिं अनुप्रेमः) हम अदानशीलताको प्राप्त हों (अरातये नमः अस्तु) अदानशक्तिको नमस्कार होवे ॥ ३ ॥

(यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे) हलचल करनेवाले हम विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको पास बुलाते हैं। (देवहूतिषु देवानां जुष्टां वाचं अवादिषं) देवोंके आह्वानके प्रसंगमें देवोंके लिये प्रिय वाणी ही मैं बोलता हूं ॥४॥

(यं अहं मनोयुजा सरस्वत्या वाचा याचामि) जिससे मैं उत्तम मनसे युक्त ज्ञानमय वाणीको मांगता हूं (तं अद्य बभ्रुणा सोमेन दत्ता) उसको आज भरणकर्ता सोमके द्वारा दी हुई (श्रद्धा विन्दतु) श्रद्धा प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— दान न देनेका गुण संपत्तिको संग्रहीत करता है, इसलिये यह गुण कुछ मर्यादा तक अलग न हो। परंतु देने योग्य दक्षिणाका दान कम न हो। इस मर्यादा तककी कंजूसी और असमृद्धिका आदर करते हैं ॥ १ ॥

जिस पुरुषपर उक्त प्रकारकी अदानशीलताका प्रभाव हुआ है उसको भी हम नमस्कार करते हैं, तथापि मेरे मनकी इच्छाको उससे व्यथा न पहुंचे ॥ २ ॥

देवों द्वारा प्रेरित हमारी सदिच्छा दिन और रात बढती रहे। हम उक्त प्रकारकी अदानशीलताको प्राप्त हों ॥३॥

हम हलचल करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं। हम सदा प्रियवाणी ही बोलें ॥ ४ ॥

मैं उत्तम सुसंस्कृत मन और ज्ञानमयी वाणीको चाहता हूं। उत्तम श्रद्धा भी हम सबको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥
परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि । वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥
उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया संचसे जनम् । अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे । तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही । तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

अर्थ— (नः वनिं मा) हमारी भक्तिको कम न कर और (वाचं मा वि ईर्त्सीः) वाणीको भी न रोक । (उभ इन्द्राग्नी नः वसूनि आभरतां) दोनों इन्द्र और अग्नि हमें धन प्राप्त करावें । (नः दित्सन्तः सर्वे) हमें दान करनेवाले सब तुम (अरातिं प्रतिहर्यत) अदानशीलताको विरोधके साथ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

हे (असमृद्धे) असमृद्धि ! (परः अप इहि) दूर चली जा (ते हेतिं विनयामसि) तेरे शस्त्रको हम अलग करते हैं । हे (अराते) अदानशीलते ! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुभनेवाली मानता हूं ॥ ७ ॥

हे (अराते) अदानशीलते ! (उत नग्ना बोभुवती) और नंगी होकर तू (जनं स्वप्नया सचसे) मनुष्यको आलस्यसे युक्त करती है । इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बडी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानशे) सब दिशाओंमें फैली हुई है । (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्यै) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिको हम (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) बडी सुवर्ण वस्त्र-वाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्यै) उस सुवर्णके वस्त्रोंसे आच्छादित अदानशीलताके लिये मैं (नमः अकरं) नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ— हमारी सदिच्छा कम न हो और वाणी न रुके । देव हमें धन देवें । दान देनेवाले सब दानी उक्त प्रकारकी अदानशीलताको दूरसे नमस्कार करें ॥ ६ ॥

असमृद्धि दूर चली जावे । तेरे आघातको हम हटाते हैं । मैं जानता हूं कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

कंजूसी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है । और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन करती है ॥ ८ ॥

यह बडी विशाल है और सर्वत्र फैली हुई है । उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसे ही नमस्कार है ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदानशीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

ऐश्वर्यमयी विपत्ति

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियां हैं । इनमेंसे वस्तुतः दोनों निंदनीय ही हैं; परंतु पहिलीका सर्वथैव निषेध और दूसरीका कुछ नियमों-से निषेध वेदमें किया है । आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण निर्धनताके साथ अनंत आपत्तियां लगी रहती हैं । यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये । परंतु दूसरी संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाषामें ' कंजूसी ' कहते हैं; इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है,

परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धनके होते हुए भी इसकी स्थिति कंगाल जैसी होती है। यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो वडा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्म-कृत्यके लिए भी दान नहीं देता। ऐसा मनुष्य संपत्तिमय विपत्तिसे घिरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है। जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसी यह धनमय निर्धनता है। इसीको धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है। इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही,
हिरण्यद्रापी, अरातिः। (मं० १०)

'सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम भाग्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, वडी और सोनेके कपडोंको ओढे हुई अदानशीलता यह है।' जिस धनीके पास सोना चांदी विपुल है, अन्यान्य ऐश्वर्य भी आवश्यकतासे भी अधिक है, हरएक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कपडे बर्तन और अन्यान्य साधन भी सुवर्णके हो बने हुए हैं, ऐसे महाधनी पुरुषके अंदर भी जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम 'धनयुक्त निर्धनता' है। निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्योंकि उसके पास देनेके लिए कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिमें लदा हुआ होनेपर भी सत्कर्मके लिए उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं। मं० १०) नमस्कार करना चाहिये। उसके पास भी जाना योग्य नहीं है। इसी प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे। (मं० ९)

'यह संपत्तिमयी विपत्ति वडी विशाल है और सब दिशाओंमें व्याप्त है' अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है। हरएक दिशामें इस संपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं। कोई गांव इससे खाली नहीं है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी भलाईके लिए आत्म-सर्वस्वका पूर्णतया समर्पण करनेवाले उदारधी दानी महात्मा थोडे ही होते हैं। परंतु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा बिलकुल दान न देनेवाले लोग ही बहुत होते हैं। इसीलिये नवम मंत्रमें कहा है कि 'यह दानहीनता बडी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है।' कोई नगर इससे खाली नहीं है। प्रशस्त कर्म करनेके लिए धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहां इस प्रकारके धनवान् होते हुए भी निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनको चारों ओर दिखाई देंगे। इस कंजूसीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट

नग्ना योभुवती स्वप्नया जनं सचते।
अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वीर्त्सयन्ती। (मं० ८)

'यह कंजूसी स्वयं नंगी रहकर लोगोंको भी नंगा बना देती है। और उनको आलसी भी बना देती है। यह कंजूसी मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन कर देती है।' उदार चित्त दानी पुरुष जैसे सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसे जैसे चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कंजूसका नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और संकल्प मलिन होता है। उसमें प्रसन्नता नहीं होती। यह कितनी बडी हानी है, इसका विचार पाठक करें और इस कंजूसीसे बचनेका प्रयत्न करें। क्योंकि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसे भी गिरा देती है। इसीलिए सप्तम मंत्रमें कहा है—

असमृद्धे! परः अपेहि! ते हेतिं विनयामसि
अराते! अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद। (मं० ७)

'हे असमृद्धि! दूर हट जा। तेरे शस्त्र दूर हटा देते हैं। मैं खूब जानता हूं कि तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाली है।' वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है। इसलिये इसको हटा देना चाहिये। किसी को भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये। क्योंकि यह निर्बलता बढानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है। इसीसे मनुष्य गिर जाता है। इसलिए कहा है कि—

अरातिं प्रतिहर्यत। (मं० ६)

'कंजूसीका विरोध करो'। विरोध करके अपने अंदर कंजूसी न रहे ऐसी व्यवस्था करो। और अपने अंदर—

अद्य सर्वे दित्सन्तः। मं० ६)

'आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होवें' कोई कंजूस

अपने अंदर न रहे। समाज ऐसे उदारचित्त दानी महाशयोंसे युक्त होवे और कभी कंजूसोंसे युक्त न होवे।

हार्दिक इच्छा

हमारी हार्दिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभाग हमारे सन्मुख आ जाता है।

१ यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे। (मं० ४)
२ जुष्टां मधुमतीं वाचं अवादिषम्। (मं० ५)
३ सरस्वत्या मनोयुजा वाचा यं याचामि
तं अद्य श्रद्धा विन्दतु। (मं० ५)

'(१) हम प्रगतिके लिए प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं। (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही बोलते हैं। (३) विद्या और सुविचार-से युक्त सुसंस्कृत वाणीसे जिसके पास हम मांगते हैं, उसमें देनेकी श्रद्धा होवे' वास्तवमें हम सबको विद्या, सुबुद्धि और संपत्ति प्राप्त हो। हम इसीलिये मधुर वाणीसे बोलते हैं। हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं, इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंगे, उसमें देनेकी बुद्धि हो। इस प्रकारके दानसे जनताकी भलाईके प्रशस्ततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार हो और सबका यश बढे। तथा —

१ नः देवकृता वनिः दिवा नक्तं वर्धताम्। (मं० ३)
२ नः वनिं वाचं मा वीत्सीः। (मं० ६)

'देवों द्वारा बनायी गयी हमारी यह श्रद्धामयी बुद्धि दिनरात बढे और (२) इस श्रद्धाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे।' अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी श्रद्धा हममें स्थिर रहे और बढे। इस धर्मबुद्धिसे परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों।

यहां तक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ। इससे पाठकोंको पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है। अदानशीलता अथवा कंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है; प्रत्युत मनुष्योंको हानिकारक कंजूसीसे निकाल कर उच्चता स्थापन करनेवाले श्रद्धापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना इस सूक्तको अभीष्ट है।

प्रथम मंत्रमें भी अदानशीलताको दूरसे नमन किया है। जो कंजूसी (दक्षिणां मा रक्षीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन भी फिर अपनी संदूकमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह बुरी नहीं है, उस संग्रहवृत्तिसे (आ भर) अपने पास धन भर दे और खजाना जिस प्रमाणसे भरेगा उस प्रमाणसे दान भी होगा। परंतु जो (अराति) कंजूसी असमृद्धि कंगालताका प्रदर्शन करती है और (वीत्सीं) मलिनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है। यह प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है। इसका भाव यह है कि योग्यप्रमाणसे संग्रह किया जाय और उचित दान भी दिया जाय। जो कंजूसी कंगालके समान दीखती है, वह हानिकारक है। धनीके पासमें होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी बुद्धि होनी बहुत हानिकारक है। मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी वृत्ति तो रहनी नहीं चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है। यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस वृत्तिको दूर करनेके लिये ही है। इस दृष्टिसे विचार करनेसे इस सूक्तमें बडा गंभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी। यह सूक्त बडा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है।

घातक प्रयोगको लौटाना

कांड ५, सूक्त १४

(ऋषिः – शुक्रः। देवता – वनस्पतिः, कृत्याप्रतिहरणम्।)

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

अर्थ— (सुपर्णः त्वा अन्वविन्दत्) गरुडने तुझे प्राप्त किया और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकरने तुझे अपनी नासिकासे खोदा है। हे औषधे! (त्वं दिप्सन्तं दिप्स) तू नाशकका नाश कर और (कृत्याकृतं अवजहि) हिंसा करनेवालेको मार डाल ॥ १ ॥

अवं जहि यातुधानानवं कृत्याकृतं जहि । अथो यो अस्मान्दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥
रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः । कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥
पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय । समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥
कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते । सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥
यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने । तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥
यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता । तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥
अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व । पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥
कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि । न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥
पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश । बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

अर्थ— (यातुधानान् अवजहि) यातना देनेवालोंको मार डाल। (कृत्याकृतं अवजहि) काटनेवालेको मार डाल। (अथो यः अस्मान् दिप्सति) और जो हमें मारना चाहता है, हे औषधे ! (तं उ त्वं जहि) उसको तू मार ॥२॥

हे (देवाः) देवो ! (रिश्यस्य परिशासं इव) हिंसकको चारों ओरसे चुभनेवालोंके समान और (निष्कं इव) सुवर्णभूषणके समान (त्वचः परि परिकृत्य) त्वचाके ऊपर घाव करके, (कृत्याकृते कृत्यां प्रतिमुञ्चत) हत्या करनेवालेके प्रति उसीके काटनेवाले प्रयोगको वापस करो ॥ ३ ॥

(पुनः कृत्यां हस्ते गृह्य) फिर काटनेवाले साधनको हाथमें पकडकर (कृत्याकृते परा णय) प्राणघातक उपाय करनेवालेके पास वापस भेज । (अस्मै समक्षं आधेहि) इसके सामने रख दे, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे हिंसाकारी स्वयं मारा जाय ॥ ४ ॥

(कृत्याः कृत्याकृते सन्तु) मारक साधन हिंसकोंके ऊपर ही लौट जायें। (शपथः शपथीयते) गालियां गाली देनेवालेके पास लौट जायें। (सुखः रथः इव) सुख देनेवाला रथ जैसे जाता है उसी प्रकार (कृत्याः कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातके उपाय घातकके ऊपर ही फिर पहुंच जावें ॥ ५ ॥

(यदि स्त्री यदि वा पुमान्) चाहे स्त्रीने अथवा चाहे पुरुषने (कृत्यां पाप्मने चकार) घातक प्रयोग पापकी इच्छासे किया है। (तां उ तस्मै नयामसि) उसको उसके पास उसी प्रकार हम लौटा देते हैं, (अश्वा-अभि-धान्या अश्वं इव) जिस प्रकार घोडेको बांधनेकी रस्सी घोडेके पास ले जाते हैं ॥ ६ ॥

(यदि वा देवकृता असि) यदि तू देवों द्वारा की गई है अथवा (यदि वा पुरुषैः कृता) यदि मनुष्यों द्वारा बनाई गई है, (तां त्वा वयं) उस तुझको हम (इन्द्रेण सयुजा) सहयोगी इन्द्रके द्वारा (पुनः नयामसि) पुनः हटा देते हैं ॥ ७ ॥

हे (पृतनाषाट् अग्ने) संग्राम जीतनेवाले तेजस्वी पुरुष ! (पृतनाः सहस्व) शत्रुसेनाओंका पराभव कर । (पुनः कृत्याकृते) फिर घातपात करनेवालेके प्रति (प्रतिहरणेन कृत्यां प्रति हरामसि) प्रतिहार करनेके उपायसे घातक प्रयोगको लौटा देते हैं ॥ ८ ॥

हे (कृत-व्यधनि) घातकका वेध करनेवाले ! तू (तं विध्य) उसका वेध कर। (यः चकार तं इत् जहि) जिसने घात किया उसीका नाश कर (अचक्रुषे त्वां वधाय वयं न संशिशीमहि) हिंसा न करनेवाले तुझको वध करनेके लिये हम उत्तेजना नहीं देते ॥ ९ ॥

(पुत्रः इव पितरं गच्छ) पुत्रके समान पिताके प्रति जा। (स्वज इव अभिष्ठितः दश) लिपटनेवाले सांपके समान घात करनेवालेको काट । (बन्धः इव अवक्रामी) बन्धनकी ओर जानेके समान जा । हे (कृत्ये) हिंसे (कृत्याकृतं पुनः गच्छ) हिंसकके प्रति पुनः जा ॥ १० ॥

उदे॑णीव वार॒ण्य॑भि॒स्कन्दं॑ मृ॒गीव॑ । कृ॒त्या क॒र्तार॑मृच्छतु ॥ ११ ॥
इष्वा॑ ऋजी॑यः पततु॒ द्यावा॑पृथिवी॒ तं प्रति॑ । सा तं मृ॒गमि॑व गृह्णातु कृ॒त्या कृ॑त्या॒कृतं॒ पुनः॑ ॥ १२ ॥
अ॒ग्निरि॑वैतु प्रति॒कूल॑मनु॒कूल॑मिवोद॒कम् । सु॒खो रथ॑ इव वर्ततां कृ॒त्या कृ॑त्या॒कृतं॒ पुनः॑ ॥ १३ ॥

अर्थ— (वारणी एणी इव मृगी इव) हथिनी जैसे मृगीके ऊपर आक्रमण करती है (अभिस्कन्दं कर्तारं कृत्या उद् ऋच्छतु) उसी प्रकार चढाई करनेवाले, घात करनेवालेके प्रति घातक प्रयोग चला जावे ॥ ११ ॥

हे द्यावापृथिवी ! (सा कृत्या तं प्रति इष्वाः ऋजीयः पततु) वह घातक प्रयोग उस कर्ताके प्रति बाणके समान सीधा गिरे । और (मृगं इव) मृगके समान वह (तं कृत्याकृतं पुनः गृह्णातु) उस घातक प्रयोग करनेवालेको फिर पकड लेवे ॥ १२ ॥

(अग्निः इव प्रतिकूलं) अग्निके समान प्रतिकूलताके साथ और (उदकं इव अनुकूलं एतु) जलके समान अनुकूलताके साथ वह चले । (सुखः रथ इव) सुखदायक रथके समान (कृत्या कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातक प्रयोग कर्ताके पास फिर चला जावे ॥ १३ ॥

दुष्ट कृत्यका परिणाम

दुष्ट कृत्य यदि दूसरेके घातपातके लिये किया जावे, तो वह अन्तमें कर्ताकाही घात करता है, यह इस सूक्तका तात्पर्य है । इसमें कृत्या नामका कुछ घातक प्रयोग दुष्ट लोग करते हैं यह विषय बडा दुर्बोध है और तबतक उस विषयमें हमें कोई पता नहीं लगा है । इसलिये हम इसपर अधिक कुछ लिख नहीं सकते ।

प्रथम वस्त्र परिधान
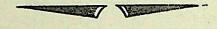
कांड २, सूक्त १३

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – अग्निः, नानादेवताः ।)

आ॒यु॒र्दा अ॑ग्ने ज॒रसं॑ वृणा॒नो घृ॒तप्र॑तीको घृ॒तपृ॑ष्ठो अग्ने ।
घृ॒तं पी॒त्वा मधु॒ चारु॒ गव्यं॑ पि॒तेव॑ पु॒त्राना॒भि र॑क्षतादि॒मम् ॥ १ ॥
परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राम॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑ ।
बृह॒स्पति॒ः प्राय॑च्छ॒द्वास॑ ए॒तत्सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑ ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अग्ने अग्ने) तेजस्वी अग्ने ! तू (आयुः-दा) जीवनका दाता, (जरसं वृणानः) स्तुतिको स्वीकार करनेवाला, (घृत-प्रतीकः) घृतके समान तेजस्वी और (घृत-पृष्ठः) घीका सेवन करनेवाला है । अतः (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मीठा सुंदर गायका घी पीकर (पिता पुत्रान् इव) पिता पुत्रोंकी जैसे रक्षा करता है उसी तरह तू (इमं अभिरक्षतात्) इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

(नः इमं) हमारे इस पुरुषको (परिधत्त) चारों ओरसे दृढ करो, (वर्चसा धत्त) तेजसे युक्त करो, इसको (दीर्घं आयुः जरा मृत्युं कृणुत) दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्था के पश्चात् मृत्युवाला करो । (बृहस्पतिः एतत् वासः) बृहस्पतिने यह कपडा (सोमाय राज्ञे परिधत्तवै) सोम राजाको पहननेके लिये (उ प्रायच्छत्) निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥
एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः । कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥
यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः) यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, (गृष्टीनां अभिशस्तिपाः उ अभूः) तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है। इस प्रकार (पुरूचीः शरदः शतं च जीव) परिपूर्ण सौ वर्षतक जी । और (रायः पोषं च उप सं व्ययस्व) धन और पोषणका कपडा बुन ॥ ३ ॥

(एहि, अश्मानं आतिष्ठ) आ, शिला पर चढ, (ते तनूः अश्मा भवतु) तेरा शरीर पत्थर जैसा दृढ बने। (विश्वे देवाः) सब देव (ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु) तेरी आयु सौ वर्षकी करें ॥ ४ ॥

(यस्य ते प्रथमवास्यं वासः हरामः) जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य यह वस्त्र हम लाते हैं (तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु) उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें। (तं त्वा सुजातं) उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और (वर्धमानं) बढते हुए बालकके (बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनु जायन्तां) पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी देव ! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और हवनादिसे घीका सेवन करने वाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालककी ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसे पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

इस बालकको चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अतिवृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसकी मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरु बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणकी वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है। इसी प्रकार सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बुनो ॥ ३ ॥

यहां आ, इस पत्थरपर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनावें ॥ ४ ॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिननेके लिये वस्त्र हम लाये हैं, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुलमें जन्मा है और यहां तू उत्तम प्रकारसे बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र-परिधान

प्रथम वस्त्र परिधान

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्वका सब विधान इससे पूर्व हो चुका है, ऐसा समझना उचित है । अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि की जाती है। सभी संस्कार अग्निमें हवनके साथ ही होते हैं। परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अभययाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभुकी प्रार्थना की गई है कि वह परम पिता

हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मोल दूकानसे लाया हुआ नहीं होता। अपितु अपने पुत्रके लिये माता ही कपडा बुनती है; इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति। (ऋ. ५।४७।६)

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं।

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति= माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं। और–

(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते= इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है। माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें। यह कपडा केवल कपडा नहीं है अपितु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं ३)

' यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है। इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है। ' सचमुच ऐसा ही होगा, जहां माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी। इस प्रकारका कपडा उस छोटे बालकको पहनाया जाता है, उस समयका मंत्र यह है–

परिधत्त, धत्त, नो वर्चसा इमम्।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः॥ (मं २)

' पहनाओ, इस हमारे बालकको यह वस्त्र पहनाओ तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे। ' जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेम ही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' देवोंके कुलगुरु बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था। ' अर्थात् यह प्रथा सनातन है। कुलका पुरोहित माताका बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालकका शुभ चिंतन करें। यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करनेयोग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है—

१ स्वस्ति

इदं वासः स्वस्तये अधि थाः। (मं० ३)

' यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो। ' स्वस्ति का अर्थ है ' सु+अस्ति ' अर्थात् उत्तम अस्तित्व, अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुना हुआ कपडा पहनना चाहिए। दूसरेका बुना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिति बुरी होती है, बिगड जाती है। अपना बुना हुआ कपडा पहननेसे अपना ' स्वस्ति ' अर्थात् कल्याण होता है, इसलिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिए।

२ विनाशसे बचाव

गृष्टीनां अभिशस्ति-पा उ अभूः। (मं० ३)

' मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है। ' अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करता है अपितु संपूर्ण मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है। इससे हरएक मनुष्य उद्यमी होता है और उस उद्यमसे ही उन सब मनुष्योंका बचाव हो जाता है। दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र बुननेका व्यवसाय है।

३ धन और पुष्टि

यह घरका बुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं० ३)

' उसमें तानेके धागे ऐश्वर्यके सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं। ' अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं हो जाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवारमें माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई शंका ही नहीं है। जहां इस प्रकार सुख और शांति रहेगी वहां ही—

४ दीर्घ आयु

शतं च जीव शरदः पुरूचीः (मं० ३)

' सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी ' यह बात सहज ही में ध्यानमें आ सकती है। यह तृतीय मंत्र वास्तवमें बालक के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने बुने कपडेका महत्त्व इस प्रकार सूक्ष्म रीतिसे दर्शाया है।

सुदृढ शरीर

हाथसे काते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है। यह कोमलता बहुत बुरी है, इससे सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त नहीं होती। अतः अपना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बालकपनमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस ' प्रथमवस्त्र परिधारण ' के समय ही एक विधि है जिसमें वस्त्र पहनते ही उस बालकको पत्थरपर खडा किया जाता है और यह मंत्र बोला जाता है—

एहि, अश्मानं आतिष्ठ, ते तनूः अश्मा भवतु।
ते शरदः शतं आयुः विश्वे देवाः कृण्वन्तु॥
(मं० ४)

' यहां आ, इस पत्थरपर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देव करें। '

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है। छोटेपनमें मातापिता अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करें और कभी ऐसा प्रयत्न न करें कि जिससे बालक नरम शरीरवाले हों। बडी आयुमें कुमार और कुमारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दत्तचित्त हों। इस प्रकार किया जाय तो सम्पूर्ण जाति वज्रदेही बन जायगी। योगसाधन द्वारा भी वज्रकाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पाठक देखें। शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेके अभ्याससे भी मनुष्यकी देह सुदृढ हो जाती है।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्धमें कहा है कि ' हे बालक ! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र (प्रथम-वास्यं वासः) लाते हैं, उस तुझे सब देव सहायकारी हों। ' इस मंत्रमें ' प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र ' का उल्लेख है। इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है। जन्मसे कुछ मास तक विशेष वस्त्र पहिनाया ही नहीं जाता। चतुर्थ मंत्रमें ' पत्थर पर खडा करने ' का उल्लेख है। अपने पांवसे न भी खडा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खडा हो सके ऐसा बालक चाहिये। इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्षकी आयुवाला हो, जिस समय यह ' प्रथम वस्त्र-परिधारण ' किया जाता है। इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरेकी सहायतासे क्यों न सही, पत्थर पर खडा हो सकता है। कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है। ' अश्मानं आतिष्ठ ' ये शब्द प्रयोग अपने पांवसे पत्थर पर चढनेका भाव बताते हैं। इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है। चार या पांच वर्षकी आयु मानना भी कदाचित् योग्य होगा। इस आयुमें यह वस्त्रधारण समारंभ किया जाता है। इस समय जो अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बडा बोधप्रद है—

तं त्वा सुजातं वर्धमानम्
बह्वः सुवृधः भ्रातरः अनुजायन्ताम्। (मं० ५)

' उत्तम जन्मे और उत्तम प्रकार बढनेवाले तुझ बालकके पीछे बहुतसे बढनेवाले भाई तुम्हारी माताके उत्पन्न हों। '

कई माता पिता प्रतिवर्ष सन्तान उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नहीं इसका विचार इस आशीर्वाद वचनसे किया जा सकता है। तीन चार वर्षकी बालककी आयुमें यह ' प्रथम-वस्त्र-धारण-विधि ' किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है। इसी समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि ' जैसा यह बालक हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता हुआ बढ रहा है, वैसे और भी बच्चे इसके पीछे उत्पन्न हों। ' मानलें कि यह आशीर्वाद प्रथम बालक की चतुर्थवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालकके जन्मका समय आता है। इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मोंके बीचमें पांच वर्षोंका अंतर होता है। देखिये—

(१) प्रथम बालकका जन्म। (२) उसके चतुर्थ वर्षमें यह ' प्रथम वस्त्र धारण विधि ' करना है, (३) इसीमें बालकको पत्थर पर चढाकर खडा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाना है। (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तेरे हृष्टपुष्ट भाई भी पीछेसे हों।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो तो पहिलेके पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है। अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध चार वर्ष मिलेगा जिससे पुत्रकी

पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा। जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं, बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं। पहिलेकी अपेक्षा दूसरेकी और दूसरे अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक नीरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्वपूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है।

घातक प्रयोगको असफल बनाना

कांड १०, सूक्त १

(ऋषिः – प्रत्यङ्गिरसः। देवता – कृत्यादूषणम्।)

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः। सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥१॥
शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा। सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥
शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥
अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक्प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(चिकित्सवः) विद्वान् लोग (यां हस्तकृतां विश्वरूपां) जिस कृत्या– घातक प्रयोग– को अपने हाथोंसे (वहतौ वधू इव) बरातके समय वधूको सजानेके समान (कल्पयन्ति) अनेक रूपोंवाली बनादेते हैं, (सा) वह कृत्या–वह घातक प्रयोग (आरात् एतु) दूर चली जावे। हम (एनां अप नुदामः) इस घातक प्रयोगको दूर कर देते हैं ॥ १ ॥

(विश्वारूपा शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी) अनेक रूपोंवाली, शिरवाली, नाकवाली तथा कानवाली (कृत्याकृता संभृता) बनायी कृत्या जो तैयार हुई हो (सा आरात् एतु) वह दूर चली जावे, (एनां अप नुदामः) इसको हम दूर कर देते हैं ॥ २ ॥

(पत्या नुत्ता जाया इव) पति द्वारा छोडी गई स्त्री जैसे (कर्तारं बन्धु) पिताके पास अथवा बंधुके पास सीधी जाती है, उसी प्रकार (शूद्रकृता, स्त्रीकृता, राजकृता ब्रह्मभिः कृता) शूद्र, स्त्री, राजा अथवा ब्राह्मणों द्वारा छोडी गई कृत्या (कर्ता ऋच्छतु) उसके कर्ताके पास वापिस जाये ॥ ३ ॥

(यां क्षेत्रे) जिस कृत्या–घातक प्रयोग–को खेतपर (यां गोषु) जिसको गौओंपर और (यां वा ते पुरुषेषु चक्रुः) जिसको तेरे पुरुषोंपर करते हैं, (सर्वाः ताः कृत्याः) वे सब घातक प्रयोग (अहं अनया ओषध्या+ अदूदुपं) इस औषधिसे असफल बनाता हूं ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४।१८।५ + अपामार्ग औषधि)

(अघकृते अघं अस्तु) पापाचरण करनेवालेके ही पाप लग जाये, (शपथीयते शपथः) शाप देनेवालेको ही शाप लगे (प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मः) हम सब बुराई वापस भेज देते हैं, (यथा कृत्याकृत हनत्) जिससे घातक प्रयोग करनेवालेका नाश हो ॥ ५ ॥

प्रतीचीनं आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः । प्रतीचीः कृत्या आकृत्याऽमून्कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥
यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् । तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥
यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया । तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥
ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वीदं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥
यद्दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम । अपैतु सर्वं मत्पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥
यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः । संदेश्यात्सर्वस्मात्पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥
देवैनसात्पित्र्यान्नामग्राहात्संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ — (प्रतीचीनः आंगिरसः) घातक प्रयोगको वापिस भेजनेमें समर्थ आंगिरसी विद्यामें प्रवीण (अध्यक्षः नः पुरोहितः) अध्यक्ष ही हमारा मुखिया नेता है । वह (कृत्याः प्रतीचीः आकृत्य) घातक प्रयोगोंको लौटा देता है । वह इस साधनसे (अमून् कृत्याकृतः जहि) उन घातपात करनेवालोंका नाश करे ॥ ६ ॥

हे (कृत्ये) घातक प्रयोग ! (यः त्वा 'परा इहि' इति उवाच) जिस प्रयोगकर्ताने तुझे 'आगे बढ' ऐसा कहा, (तं प्रतिकूलं उदाय्यं अभिनिवर्तस्व) उसी विरोधकर्ता शत्रुके पास जा, और (अनागसः अस्मान् मा इच्छः) निरपराधी हम जैसोंकी इच्छा मत कर अर्थात् हम पर आक्रमण न कर ॥ ७ ॥

हे कृत्ये (ऋभुः धिया रथस्य परूंषि) जैसे शिल्पी अपनी बुद्धिसे रथके अवयवोंको बनाता है वैसे ही (यः ते परूंषि संदधौ) जो तेरे-घातक प्रयोगके-अवयवोंको बनाता है, उसी निर्माताके पास (तं गच्छ) वापिस जा, (तत्र ते अयनं) वहीं तुझे वापिस पहुंचना है, (अयं जनः ते अज्ञातः) यह मनुष्य तुझे अज्ञात ही रहे, अर्थात् इसपर हमला न होकर घातक प्रयोगकर्ताके पास वापिस चला जावे ॥ ८ ॥

हे कृत्ये ! (ये विद्वलाः= विह्वराः अभिचारिणः) जो धूर्त घातक प्रयोग करनेवाले (त्वा कृत्वा) तुझे तैयार करके (आलेभिरे) धारण करते हैं, उस घातक प्रयोगका (कृत्यादूषणं इदं) प्रतिकार करनेवाला यह (शं-भु) शुभ साधन है (पुनःसरं प्रतिवर्त्म) यह पुनः घातक प्रयोगको लौटानेवाला है, अतः (तेन त्वा स्नपयामसि) इससे तुझे स्नान कराते हैं, जिससे सब दोष दूर हो जावें ॥ ९ ॥

(यत् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सां) जो दुर्भाग्ययुक्त नहाई हुई, मरे हुए पुत्रवालीको (उप ईयिम) प्राप्त करते हैं, (सर्वं पापं मत् अप एतु) वह सब पाप मुझसे दूर हो जावे और (द्रविणं मा उप तिष्ठतु) द्रव्य मेरे पास आजावे ॥ १० ॥

हे मनुष्य ! (यत् पितृभ्यः ददतः) जो पितरोंको देनेके समय तथा (यज्ञे वा) यज्ञमें (ते नाम जगृहुः) तेरा नाम लेवें तो (इमा ओषधीः) ये औषधियां उस (संदेश्यात् सर्वस्मात् पापात्) होनेवाले सब पापसे (त्वा मुञ्चन्तु) तेरी मुक्तता करें ॥ ११ ॥

हे मनुष्य (वीरुधः) औषधियां (त्वा) तुझे (देव-एनसात् पित्र्यात्) देवता संबंधी पापसे, पितरोंके संबंधके पापसे (नामग्राहात् संदेश्यात्) निंदित नाम लेने और बुरी वाणीके पापसे (अभिनिः कृतात्) अपमानके पापसे (ब्रह्मणः वीर्येण) ज्ञानके बल (ऋग्भिः) मंत्रोंकी शक्ति और (ऋषीणां पयसा) ऋषियोंके अमृतके द्वारा तेरी (मुञ्चन्तु) मुक्तता करें ॥ १२ ॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् । एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥
अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव । कर्तॄन्नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥
अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥
पराक्ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥ १६ ॥
वात इव वृक्षान्नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।
कर्तॄन्निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥
यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥ १८ ॥
उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् ।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥ १९ ॥

अर्थ— (यथा वातः) जैसे वायु (भूम्याः रेणुं अन्तरिक्षात् अभ्रं) भूमिसे धूली और अन्तरिक्षसे मेघको (च्यावयति) उडा देता है (एवा सर्वं दुर्भूतं) वैसे सब दुष्टभाव (ब्रह्मनुत्तं अपायाति) ज्ञान द्वारा निवारित होकर दूर हो जावे ॥ १३ ॥

हे कृत्ये ! (विनद्धा गर्दभी इव) बंधनसे छूटी हुई गर्दभीके समान (नानदती अप क्राम) शब्द करती हुई दूर चली जा । (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्ययुक्त ज्ञानसे (नुत्ता) वापस फेंकी हुई तू (इतः कर्तॄन् नक्षस्व) यहांसे कर्ताओंके पास भाग जा ॥ १४ ॥

हे कृत्ये ! (अयं पन्था त्वा अति नयामः) यह मार्ग है, इससे दूर तुझे ले जाते हैं (अभि प्रहितां त्वा प्रति प्रहिण्मः) हमारे ऊपर फेंकी हुई तुझको हम वापस फेंक देते हैं । (तेन भञ्जती अभि याहि) उससे तोडती हुई तू उसी प्रकार चली जा, जिस प्रकार (अनस्वती विश्वरूपा कुरूटिनी वाहिनी इव) रथयुक्त अनेक रूपोंसे युक्त भयंकर शब्द करती हुई सेना चली जाती है ॥ १५ ॥

हे कृत्ये ! (ते ज्योतिः पराक्) तेरी वापसीके लिये तुझे आगे प्रकाश दीखे, (ते अर्वाक् अपथं) तेरे इधर आनेके लिये तुझे कोई मार्ग न दीखे, (अस्मत् अन्यत्र अयना कृणुष्व) हमको छोडकर दूसरी ओर गमन कर । (नाव्याः दुर्गाः नवतिं स्रोत्याः अति परेण इहि) नौका द्वारा दुर्गम ऐसी नब्बे नदियोंके पार दूर चली जा । (मा क्षणिष्ठाः) मत मार, (परा इहि) दूर चली जा ॥ १६ ॥

हे कृत्ये ! (वातः वृक्षान् इव) वायु जैसे वृक्षोंको तोडता है ऐसे ही तू (कर्तॄन् नि मृणीहि) हिंसा करनेवालोंका नाश कर और (नि पादय) उखाड डाल । (एषां गां अश्वं पुरुषं मा उच्छिषः) इनके गौ घोडे और पुरुषोंको अवशिष्ट न रख (इतः निवृत्य) यहांसे निवृत्त होकर (अप्रजास्त्वाय बोधय) संतति नाशकी चेतावनी कृत्याके बनानेवालोंको दे ॥ १७ ॥

(यां कृत्यां ते बर्हिषि) जो घातक प्रयोग तेरे धान्यमें (यां श्मशाने) जो श्मशानमें और (क्षेत्रे निचख्नुः) खेतमें गाड दिया गया हो, जो (गार्हपत्ये अग्नौ अभिचेरुः) जो गार्हपत्य अग्निमें अभिचार कर्म किया हो, (पाकं अनागसं सन्तं त्वा) तेरे पवित्र और निष्पाप होने पर भी (धीरतराः) धूर्त लोगोंने जो अभिचार किया हो उसको निर्बल करते हैं ॥ १८ ॥

(उपाहृतं अनुबुद्धं) लाया हुआ और जाना गया (नि-खातं वैरं त्सारि कर्त्रं अनुविदाम) गाडा हुआ वैररूपी विनाशक अभिचार प्रयोगका हमें ज्ञान हो गया है, (यतः आभृतं तत् एतु) जहांसे वह आया हो वहां वह वापिस पहुंच जाए, (तत्र अश्वः इव वर्ततां) वहां घोडेके समान भ्रमण करे और (कृत्याकृतः प्रजां हन्तु) अभिचार-प्रयोग करनेवालेकी संतानोंका नाश करे ॥ १९ ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव । इन्द्राग्नी अस्मान्रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥२१॥
सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥
भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥
यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥
अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि । जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥२५॥
परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय । मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥
उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा । उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

अर्थ— (स्वायसाः असयः नः गृहे सन्ति) उत्तम लोहेकी तलवारें हमारे घरमें हैं । हे कृत्ये ! (ते परूंषि विद्म) तेरे जोडोंको हम जानते हैं कि वे (यतिधा) किस प्रकार और कितने हैं (उत्तिष्ठ एव, इतः परा इहि) उठ और यहांसे दूर भाग जा । हे (अज्ञाते) अज्ञात मारण-प्रयोग ! (इह किं इच्छसि) यहां तू क्या चाहता है ? । ॥२०॥

हे कृत्ये ! (ते ग्रीवाः पादौ च अपि कर्त्स्यामि) तेरी गर्दन और पांव मैं काट डूंगा अन्यथा यहांसे तू (निर्द्रव) भाग जा । (इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां) इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा उसी प्रकार करें । जिस प्रकार (यौ प्रजानां प्रजावती) संतानोंकी रक्षा माताएं करती हैं ॥ २१ ॥

(सोमः राजा मृडिता) राजा सोम हमें सुख देवे तथा (भूतस्य पतयः नः मृडयन्तु) भूतोंके पति हमें सुख देवें ॥ २२ ॥

(भवाशर्वौ देवहेतिं विद्युतं) भव और शर्व ये देव देवोंके विद्युत् रूपी हथियारको (कृत्याकृते दुष्कृते पापकृते) घातक दुराचारी पापीके ऊपर (अस्यतां) फेंके ॥ २३ ॥

(यदि कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा) यदि मारणप्रयोग तैयार होकर अनेकरूप धारण करके (द्विपदी चतुष्पदी एयथ) दो अथवा चार पांववाला बनकर हमारे पास आवे, तो (हे दुच्छुने ! सा इतः अष्टापदी भूत्वा पुनः परा इहि) हे दुःख देनेवाले कृत्ये ! वह तू यहांसे आठ पांववाली– अतिशीघ्र चलनेवाली होकर फिर वापिस चली जा ॥ २४ ॥

हे कृत्ये ! (अभ्यक्ता अक्ता स्वरंकृता) खूब तेल लगाई और सुशोभित की गई और (सर्वं दुरितं भरन्ती) सब दुर्दशाको देनेवाली तू (परा इहि) दूर चली जा । (दुहिता स्वं पितरं इव) जैसे पुत्री अपने पिताको जानती है उस तरह तू (कर्तारं जानीहि) अपने कर्ताको जान ॥ २५ ॥

हे कृत्ये ! (परा इहि) दूर हो जा । (मा तिष्ठ) यहां मत ठहर । (विद्धस्य इव पदं नय) घायल हुए प्राणीके पैरोंको देखकर उसके स्थानतक जैसे शिकारी पहुंच जाता है वैसे ही तू अपने स्थानको पहुंच, (मृगः सः मृगयुः त्वं) वह मृग है और तू शिकारी है इसलिए (त्वा निकर्तुं न अर्हति) तुझे वह काट नहीं सकती अतः तू वापिस जा ॥२६॥

(पूर्वासिनं अपरः प्रति आदाय इष्वा हन्ति) पहिलेसे बैठे हुएको दूसरा पकडकर बाणसे मारता है और (पूर्वस्य निघ्नतः अपरः प्रति नि हन्ति) और पहिलेके मारने पर दूसरा भी उसको पीटता है, इस तरह परस्पर आघात करते हैं ॥ २७ ॥

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ । यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥
अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥ २९ ॥
यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव । सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥
कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् । मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून्कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥
यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (एतत् हि मे वचः शृणु) यह मेरा कहना सुन (अथ यतः एयथ एहि) और जहांसे आयी थी वहीं चली जा (यः त्वा चकार तं प्रति) जिसने बनाया है उसके पास ही घातक प्रयोग वापिस चला जावे ॥ २८ ॥

हे कृत्ये ! तू (अनागः हत्या भीमा) निरपराधीका वध करनेवाली भयंकर है (नः गां अश्वं पुरुषं मा वधीः) हमारे गौ घोडे और मनुष्योंका वध न कर । (यत्र यत्र निहिता असि) जहां जहां तू रखी गयी है (ततः त्वा उत्थापयामसि) वहांसे तुझे उखाड देते हैं । (पर्णात् लघीयसी भव) तू पत्तेसे भी छोटी हो जा ॥ २९ ॥

(यदि) यदि तू (जालेन अभिहिता इव) जालसे घिरे हुएके समान (तमसा आवृताः स्थ) अंधेरेसे आच्छादित है । तुझसे (सर्वाः कृत्याः इतः संलुप्य) सब घातक प्रयोग यहांसे लुप्त करके उनको मैं (पुनः कर्त्रे इतः प्र हिण्मसि) फिर कर्ताके प्रति यहांसे मैं भेजता हूं ॥ ३० ॥

हे कृत्ये ! (कृत्याकृतः वलगिनः) घातक प्रयोग करनेवाले बलशाली दुष्ट और (प्रजा अभि निः कारिणः मृणीहि) प्रजाका नाश करनेवालोंका ही तू नाश कर । (अमून् कृत्याकृतः उच्छिषः) उन घातकोंमेंसे एक भी न बचे । उन सबको (जाहि) मार ॥ ३१ ॥

(यथा सूर्यः तमसः परि मुच्यते) जैसे सूर्य अन्धकारसे छूटता है (रात्रिं उषसः केतून् जहाति) रात्री तथा उषाके ध्वजोंको त्याग देता है, (एवं अहं कृत्याकृता कृतं) इस तरह मैं घातकके द्वारा किया हुआ (दुर्भूतं कर्त्रं जहामि) दुष्ट कृत्य उसीप्रकार त्याग देता हूं जैसे (हस्ती रजः इवः) हाथी धूलीको फेंकता है, उतने सहज भावसे मैं शत्रुके दुष्ट घातक प्रयोगको दूर करता हूं ॥ ३२ ॥

कृत्या—प्रयोग

' कृत्या ' नाम उस प्रयोगका है कि जिसके द्वारा किसीका मारण किया जाता है । किसीके घरमें, खेतमें, खान-पानके वस्तुमें, कपडोंमें अथवा किसी अन्य स्थानमें कुछ मारक वस्तु रखी जाती है जिसके परिणामसे वह मर जाता है । इस प्रयोगको कृत्या प्रयोग, अथवा मारण प्रयोग करते हैं ।

यह कुछ आंख नाक कानवाली मूर्ति बनाते हैं, बडी शोभावाली मूर्ति बनाते हैं, जो हाथमें पकडे वह मर जाता है। मूर्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तु भी निर्माण की जाती है जिससे मारण हो जाता है ।

इस प्रयोगमें क्या होता है, इसकी विधि क्या है, इसका किसीको भी आज पता नहीं है, आज इसके ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं । अतः इस प्रयोगके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकारके प्रयोगोंका परिणाम अपने लोगोंपर न हो और यह घातक प्रयोग अपने लोगोंसे वापिस चला जाय, इस कार्यके लिये यह सूक्त है । इस सूक्तके इच्छाशक्तिपूर्वक पठनसे जो एक मानसिक बल पैदा होता है, उस बलसे उक्त कृत्या–प्रयोग पीछे हटता है और जिसने उस कृत्याका निर्माण किया था उसपर जाकर परिणाम करता है ।

सब मंत्रोंका आशय यही है और वह आशय स्पष्ट है । अब इसको बनाना कैसा और वापिस लौटाना कैसा यह तो एक बडा खोजका विषय है । मंत्रशास्त्रज्ञ कोई सच्चा जानकर हो वही इस विषयमें कह सकता है । अतः इस विषयमें हम कुछ भी नहीं लिख सकते ।

ईर्ष्या-निवारण

कांड ६, सूक्त १८

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – ईर्ष्याविनाशनम् ।)

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् । अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ १ ॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा । यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् । ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अर्थ– (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिं) तेरी ईर्ष्या–डाह–के पहिले वेगको (उत प्रथमस्याः अपरां) और पहिलेकी गतिको तथा (हृदय्यं तं शोकं अग्निं) हृदयमें रहनेवाले उस शोक रूपी अग्निको (निर्वापयामसि) हम हटा देते हैं ॥ १ ॥

(यथा भूमिः मृतमनाः) जैसी भूमि मरे मनवाली है अथवा (मृतात् मृतमनस्तरा) मरेहुएसे भी अधिक अधिक मरे मनवाली है, (उत यथा मम्रुषः मनः) और जैसा मरनेवालेका मन होता है (एव ईर्ष्योः मनः मृतं) उसी प्रकार ईर्ष्या–डाह–करनेवालेका मन मरा हुआ होता है ॥ २ ॥

(अदः यत् ते हृदि श्रितं) जो तेरे हृदयमें स्थित (पतयिष्णुकं मनस्कं) गिरनेवाला अल्प मन है, (ततः ते ईर्ष्यां निः मुञ्चामि) वहांसे तेरी ईर्ष्याको में उसी प्रकार हटाता हूं । (दृतेः ऊष्माणं इव) जिस प्रकार धौंकनीसे वायुको निकालते हैं ॥ ३ ॥

डाहको दूर करना

दूसरेकी उन्नति देख न सकनेका नाम ' ईर्ष्या ' अथवा डाह है । यह मनमें तब उत्पन्न होता है कि जब दूसरेका उत्कर्ष सहा नहीं जाता । यह ईर्ष्या कितनी हानि करती है, इस विषयमें कहा है—

(१) हृदय्यं शोकं अग्निं = हृदयके अंदर शोक उत्पन्न करती है, शोकसे हृदय जलने लगता है और यह आग आयुका क्षय करती है । (मं. १)

(२) ईर्ष्योः मृतं मनः = ईर्ष्या करनेवालेका मन मरे हुएके समान हो जाता है, मनमें कोई शुभ विचार नहीं आते, जीवनहीन मन होता है । इसलिये उसको ' मृतमनाः ' मुर्दा मनवाला कहते हैं । वह (मृतात् मृतमनस्तरः) मुर्देसे भी अधिक मरा हुआ होता है । (मं २)

(३) पतयिष्णुकं मनस्कं = उसका मन गिरनेवाला होता है और छोटा संकुचित वृत्तिवाला होता है।

यह ईर्ष्या कितनी घातक होती है, हृदयको जलाती है, मनको मार देती है और सबका पतन कराती है । इसलिये यह ईर्ष्या मनसे दूर करनी चाहिये । ईर्ष्याके दूर होनेसे हृदय शान्त होगा, मनमें सजीव चैतन्य कार्य करेगा और मन भी ऊपर उठानेवाले विचारोंसे परिपूर्ण होगा । इस कारण ईर्ष्याके दूर होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्ष्याके मनमें रहनेसे हानि होती है । इसलिये जहां तक हो सके वहां तक प्रयत्न करके मनुष्य ईर्ष्यासे अपने आपको दूर रखे ।

*

उद्धारक क्षत्रिय

कांड ७, सूक्त १०३

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – आत्मा ।)

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्यं इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

अर्थ – (कः= प्रजापतिः क्षत्रियः वस्यः इच्छन्) प्रजापालक क्षत्रिय प्रजाका धन बढानेकी इच्छा करता हुआ (अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति) परस्परके द्रोहरूप इस निंदनीय दुर्गतिसे हमें ऊपर उठावेगा (कः= प्रजापतिः यज्ञकामः) प्रजापालनरूप यज्ञकर्ता, (उ कः पूर्तिकामः) और वही प्रजापालक हमारी पूर्णता करनेवाला है। (देवेषु कः दीर्घं आयुः वनुते) देवोंके अन्दर प्रजापालक ही दीर्घ आयु देता है ॥ १ ॥

इस सूक्तमें उद्धार करनेवाले क्षत्रियके गुण वर्णन किये हैं, अतः इसका विशेष विचार करना योग्य है—

१ कः क्षत्रियः– (कः – प्रजापतिः – प्रजापालकः । क्षत्रियः क्षतात् त्रायते) दुःखोंसे जो प्रजाजनोंका संरक्षण करता है उसको प्रजापालक क्षत्रिय कहते हैं । प्रजारक्षण यह एक क्षत्रियका मुख्य गुण है । ' कः ' शब्दका अर्थ प्रजापालक है, यही राजा है ।

२ वस्यः इच्छन् – (वसु इच्छन्) धनकी इच्छा करनेवाला प्रजाजनोंका ऐश्वर्य बढानेकी इच्छा करनेवाला क्षत्रिय हो ।

३ अस्याः अवद्यवत्याः द्रुहः नः उन्नेष्यति– इस निंदनीय आपसी कलह और पारस्परिक अवस्थासे हम प्रजाजनोंका उद्धार करनेवाला क्षत्रिय हो । क्षत्रियका यही कर्तव्य है कि, वह प्रजाजनोंको ऐसी शिक्षा देवे, कि वे आपसमें कलह करना छोड देवें, पारस्परिक द्रोह करना छोड देवें ।

४ यज्ञकामः क्षत्रियः– सत्कार-संगति-दानात्मक कर्मका नाम यज्ञ है । संगतिकरण रूप यज्ञ करनेवाला अर्थात् प्रजाजनोंका संगठन करनेवाला क्षत्रिय हो । क्षत्रिय कभी प्रजामें फूट न करे और कभी आपसके द्रोहके भावको न बढावे ।

५ पूर्तिकामः क्षत्रियः – प्रजाजनोंकी सब प्रकार पूर्णता करनेवाला राजा हो । प्रजाजनोंमें जो जो न्यूनता हो उसको पूर्ण करे और अपनी प्रजामें कभी अपूर्णता न रहने दे ।

६ दीर्घं आयुः वनुते= प्रजाजनोंको दीर्घ आयु प्राप्त हो, ऐसा प्रबंध करनेवाला राजा हो । राजा राज्यशासनका ऐसा प्रबंध करे, कि जिससे प्रजाकी आयु बढे और कभी न घटे ।

युद्धकी रीति

कांड ११, सूक्त १०

(ऋषिः – भृग्वंगिराः । देवता – त्रिषन्धिः ।)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

अर्थ— हे (उदाराः) अपने जीवनपर उदार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत, सं नह्यध्वं) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो तैयार हो जावो । हे (सर्पाः इतरजनाः) सर्पों और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! हमारे (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिः सह । अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥
अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान्वज्रेण त्रिषंधिना ॥ ३ ॥
अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषंधेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषंधेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥
शितिपदी सं द्यतु शरव्येयं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषंधेः सह सेनया ॥ ६ ॥
धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । त्रिषंधेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥
अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति ।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (त्रिषंधे) त्रिषंधि वज्रयुक्त वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसा ही में मानता हूं । (ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें और जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो (दुः-नामानः) दुष्ट नामवाले हैं, वे सब (ते त्रिसंधे चेतसि उपासतां) त्रिषंधि वीरके चित्तमें रहें, अर्थात् वह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिषंधिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले, सूईके समान नोंकवाले (अथो विकंकति मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले बाण (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर जाकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अंतः धेहि) तू शत्रुसेनाके बहुत मुर्दे भूमिमें गिरा दे । (त्रिषंधेः इयं सेना) त्रिषंधिवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ । (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह शत्रुरूपी बलि लाया गया है । (त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिषंधि नामक वज्रके लिये इस बलिकी आहुति अत्यंत प्रिय है ॥ ५ ॥

(शितिपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) श्वेत पांववाली और चार पांववाली यह बाणोंकी पंक्ति शत्रुका (सं द्यतु) नाश करे । हे (कृत्ये) विनाश करनेवाले ! (त्रि-षन्धेः सेनया सह) त्रिषंधि नामक वस्त्र धारण करनेवाली सेनाके साथ (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(धूमाक्षी सं पततु) धुंवेसे पीडित हुई आंखोंवाली होकर शत्रुसेना गिर जावे, (कृधुकर्णी च क्रोशतु) कानोंमें क्लेश होकर शत्रु रोता रहे । (त्रिषंधेः सेनया जिते) त्रिषंधिकी सेनाकी जय होनेपर (अरुणाः केतवः सन्तु) लाल रंगके ध्वज फहरें ॥ ७ ॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वयांसि अव-अयन्तां) पक्षी इस ओर आ जायें । (श्वापदः मक्षिकाः सं रभन्तां) हिंस्र पशु; मक्खियां शत्रुके मुर्दे खाने लग जांय (आमादः गृध्राः कुणपे रदन्तां) कच्चा मांस खानेवाले गीध मुर्दोंको खा जांय ॥ ८ ॥

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान्देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥ ९ ॥
बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षयणं वधं त्रिषंधिं दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥
येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः । त्रिषंधिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥
सर्वाँल्लोकान्त्समजयन्देवा आहुत्यानया । बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥ १२ ॥
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान्हन्म्योजसा ॥ १३ ॥
सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट् कृतम् । इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥
सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषंधेराहुतिः प्रिया । संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥
वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां बाहून्प्रति भनक्तु मा शकन्प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥ १६ ॥

अर्थ— हे बृहस्पते ! (इंद्रेण ब्रह्मणा च यां संधां) इन्द्र और ब्रह्माके द्वारा जिस संधिको (समधत्थाः) किया था। (तया इंद्रसंधया अहं सर्वान् देवान्) उस इन्द्रकी संधिसे मैं सब देवोंको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और कहता हूं कि (इतः जयत मा अमुतः) यहां जीत लो, वहां नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरसका बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि, (असुरक्षयणं त्रिषंधि वधं) असुरनाशक त्रिषंधि नामक वज्रका (दिवि आश्रयन्) द्युलोकमें आश्रय लेते रहें ॥ १० ॥

(येन असौ आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, (उभौ इंद्र च तिष्ठतः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं । उस (त्रिषंधि ओजसे बलाय च) त्रिषंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये (देवाः अभजन्त) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं) आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको (असिंचत) सींच कर तैयार किया, (अनया आहुत्या) उस वज्रको ग्रहण करके (देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्) सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥ १२ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं असिंचत) आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरनाशक वज्रको सींचकर तैयार किया, (तेन अमूं सेनां नि लिंपामि) उस वज्रसे इस शत्रुसेनाको नष्ट करता हूं। हे बृहस्पते ! (ओजसा अमित्रान् हन्मि) सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूं ॥ १३ ॥

(ये वषट् कृतं अश्नन्ति) जो वषट्कारसे अन्न भक्षण करते हैं, वे (सर्वे देवाः अति-आयन्ति) सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं। हे देवो ! (इमां आहुतिं जुषध्वं) इस आहुतिको स्वीकार करो और (इतः जयत, मा अमुतः) यहांसे शत्रुको जीत लो, वहांसे नहीं ॥ १४ ॥

(सर्वे देवाः अति आयन्तु) सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें (त्रिषंधेः आहुति प्रिया) त्रिषंधि वज्रको बलिदान प्रिय है। (यया अग्रे असुराः जिताः) जिससे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था, उस (महतीं संधां रक्षत) बडी संधिकी तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

(वायुः अमित्राणां इष्वग्राणि अञ्चतु) वायु शत्रुओंके बाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे। (इन्द्रः एषां बाहून् प्रतिभनक्तु) इन्द्र इनकी बाहुओंको तोड दे। ये शत्रु (इषुं प्रतिधां मा शकन्) बाण धनुष्योंपर लगानेके लिये समर्थ न हों (आदित्यः एषां अस्त्रं विनाशयतु) सूर्य इनके अस्त्रोंका नाश करे। (चन्द्रमाः अगतस्य पंथां युतां) चन्द्रमा अप्राप्त शत्रुका मार्ग रोक देवे ॥ १६ ॥

यदिं प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ १७ ॥
क्रव्यादानुवर्तयन्मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिषंधे प्रेहि सेनया जयामित्रान्प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥
त्रिषंधे तमसा त्वममित्रान्परि वारय । पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥
मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥
यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि । ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥ २२ ॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः । सर्वास्ताँ अर्बुदे हतांछ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः । सर्वानदन्तु तान्हतान्गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥ २४ ॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् । विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

अर्थ— (यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि पूर्व देव अर्थात् शत्रुरूप राक्षस यहांसे दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानसे कवचोंको तैयार किया है और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीरके रक्षण और ग्रामादिका सब रक्षण करते हैं और जो (उपोचिरे) संघटन कर रहे हैं (तत् सर्वं अरसं कृधि) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिषंधे ! (क्रव्यादा अनुवर्तयन्) मांसभक्षकोंको घेरकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युके आगे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ । (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत और उनको प्राप्त कर अर्थात् अपने आधीन करो॥ १८ ॥

हे त्रिषंधे (त्वं अमित्रान् तमसा परिवारय) तू शत्रुओंको अन्धकारसे घेर, (पृषद्-आज्य-प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचः संपततु) श्वेत पांववाली शक्ति शत्रुओंकी इस सेनाके ऊपर पडे । हे न्यर्बुदे ! (अद्य अमूः अमित्राणां सेनाः मुह्यन्तु) आज ये शत्रुओंकी सेनाएं मोहित हो जांय ॥ २० ॥

हे न्यर्बुदे ! (अमित्रः मूढाः) शत्रु मूढ हो जांय । (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखियाओंका पराभव कर । और उनको (अनया सेनया जहि) इस सेनासे जीत ले अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

(यः च कवचः) जो कवचधारी हैं (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है, वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कावचपाशैः अज्मना अभिहतः शयां) ज्याके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जायें ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्राः) जो कवचधारी शत्रु हैं, हे अर्बुदे ! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं, (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृधाः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खाएं ॥ २४ ॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता शेतां) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विकृत आकारवाली होकर गिरें ॥ २५ ॥

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥ २६ ॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् । तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषंधिना ॥ २७ ॥

अर्थ— (यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई सैन्यकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है, (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको हिंस्र पशु खांय ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं (यस्या विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है, (तया त्रिषंधिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिषंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥

युद्धकी रीति

भयानक युद्ध

युद्ध है बडा भयानक, परंतु जबतक मानव-जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेवाला नहीं है, कमसे कम अतिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षात्रभावकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लडनेवाले वीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पित करके युद्धके लिये तैयार रहें, (उदाराः) जीवनपर उदार हो जांय। बिलकुल अपने जीवनकी चिंता न करें। सब सेनाके वीर अपने झण्डे लेकर चढाईके लिये उठें और तैयार हो जांय। अपने झण्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये हुए सब वीर मिलकर शत्रुपर धावा करें। (मं. १) यह सर्प, राक्षस और अन्य लोग भी शत्रुपर हमला करनेके लिये आये दीखते है। जो भी अपना मित्रदल हो वह सब एक विचारसे चढाई करे, आपसमें फूट न हो, प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो, सब एक ही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शत्रुसे लडें और शत्रुको पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण

त्रिसंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बडा प्रखर होता है। तीन स्थानोंमें इस शस्त्रमें संधि होती है, इसलिये इसका नाम त्रिसंधि रखा गया है। त्रिसंधि वज्र है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कही है—

वज्रेण त्रिषंधिना। (मं. ३।२७)
यं वज्रं असिंचत। (मं. १२।१३)

यह त्रिसंधिवाला वज्र है, उसमें तीन जोड होते हैं और वह पानीमें सिंचित करके बनाया जाता है, अर्थात् यह फौलादका ही होना चाहिये, जो तपाकर पानीमें अथवा तैलादि द्रव पदार्थोंमें भिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें थोडेसे निर्देश हैं। जो शस्त्रनिर्माण की विद्या जानना चाहते हैं, उनको इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है।

लाल झण्डे

अरुण रंगवाले झण्डे लेकर तथा अपने वज्र साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होनेपर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे—' हे शूर सैनिको ! आप सभी इस राज्यके सच्चे स्वामी हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आप ही इसके बढानेवाले हैं। जो इस भूमंडलपर मनुष्यमात्र हैं, उनमें जो दुश्चरित्र अथवा दुष्ट हैं, (दुः - नाम) दुष्टताके साथ जिनका नाम प्रसिद्ध हुआ है, उनको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमंडल का राज्य निष्कंटक करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिसंधि नामक बडा शक्तिशाली वज्र है। उसकी सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंको दंड देना यह एकमात्र

आपका कर्तव्य है, यह बात अपने चित्तमें आप (चेतसि उपासत) रखें और इसे कभी न भूलें। (मं. २) जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दंड देना है, उस कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण वारंवार देखना चाहिये। ' ऐसे भाषणसे राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

बाणोंका स्वरूप

त्रिसंधि वज्रके साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी चढाई शत्रुपर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकारके होते होंगे, परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका उल्लेख है-

१ अयोमुखाः- जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है जिससे बाणकी नोक तीखी रह सकती है—

२ सूचीमुखाः— सुईके समान अग्रभागवाले बाण। ये बाण शत्रुके शरीरमें शीघ्रतासे घुस सकते हैं।

३ विकंकतीमुखाः- कंघेके समान कांटेदार मुखवाले अथवा कंकपक्षीके मुखके समान मुखवाले। इससे विशेष मारकता सूचित होती है।

' वातरंहसः ' और ' क्रव्यदाः ' ये शब्द बाणोंका वेग और उनकी मारकता सूचित करते हैं। इस प्रकारके बाण शत्रुपर फेंके जाते हैं और साथ साथ त्रिसंधि वज्रका भी प्रयोग होता है। (मं. ३)

त्रिसंधि वज्रका प्रयोग करनेवाली सेना जिसके पास रहेगी वह शत्रुको जीतनेमें निःसंदेह समर्थ होगा, क्योंकि इस सेनाके वीर अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते हैं और युद्धसाधन भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं। अतः इस सेनाके द्वारा संमरभूमिमें शत्रुके बहुतसे मुर्दे गिराना संभव हो सकता है। (मं. ४)

सेनापति अपनी ऐसी सेनाके साथ उठे और चढाई करे। युद्धमें अपने जीवनकी आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये। अन्यथा त्रिसंधि वज्रको समाधान नहीं होता। (त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिसंधि वज्रको इस तरहकी आहुति प्रिय होती है। (मं. ५)

इससे पता लगता है कि त्रिसंधि नामक वज्रका चलाना सुलभ नहीं है, शत्रुसैन्यमें घुसकर उसका उपयोग किया जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले वीर ही त्रिसंधि वज्रके लिये प्रिय समझे जाते हैं।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं। अब यहां दो प्रकार और बताते हैं—

४ शितिपदी- तीखे पदवाले बाण, जो बाणका भाग फौलादका होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे। यह विशेषण हरएक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है।

५ चतुष्पदी- चार पदवाले बाण। इसमें काटनेवाली धाराएं चार हुआ करती हैं। पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन दो प्रकारोंका विचार भी पाठक करें।

ये सब बाण शत्रुसेनाको पर्याप्त प्रमाणमें काटें। इस मंत्रमें ' कृत्या ' नामक किसी विनाशक प्रयोगका उल्लेख है। ' कृत्या ' का अर्थ काटनेवाली। इस कृत्याका वर्णन अथर्ववेदमें अनेक स्थानोंपर आया है। इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता कि यह क्या है यहां त्रिसंधि वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ इस कृत्याका प्रयोग होकर शत्रुसेनाका नाश होता है। अतः यह एक शस्त्रविशेष ही होगा। परंतु कृत्या प्रयोगकी विशेष खोज करनी चाहिये। (मं. ६)

धुवेंका प्रयोग

धुवेंके प्रयोगसे शत्रुसेनाको पीडित करनेका वर्णन ' धूमाक्षी ' शब्दद्वारा सातवें मंत्रमें किया है। यह धुवां किस तरह किया जाता है इसका पता नहीं चलता। परंतु शत्रुसेनाके खुले मैदानमें होनेपर इस धुवेंसे वह पीडित की जाती है, इसमें संदेह नहीं। धूम्रास्त्र प्रयोग ही यह है। धुवेंका कुछ अस्त्र शत्रुपर फेंका जाता है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। शत्रुकी सेनामें वह जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धुवां वहांके सैनिकोंमें फैलता है और वे घबरा जाते हैं। इस धुवेंसे (संतपतु) शत्रुका सैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर भी चढता हो, केवल मानसिक संताप ही यहां अपेक्षित नहीं है। अपितु शारीरिक ज्वर भी अपेक्षित है।

इस धुवेंसे जैसे ज्वर होता है वैसे ही कर्णशूल भी (कृधुकर्णी) होता होगा और वह शूल इतना भयानक होता होगा कि सैनिक (क्रोशतु) आक्रोश करने लगते होंगे। इतनी भयानक वेदना होती है। इतना प्रबल यह धूम्रप्रयोग है। इस धुवेंके प्रयोगसे आंख, फेफडे आदिको कष्ट, शरीरको ज्वर, कानमें वेदना और सबका परिणाम शत्रुसेनाका आक्रोश है। इतने प्रबल शस्त्रास्त्र जिसके पास होंगे वह विजयी होगा उसमें कोई संदेह ही नहीं है। इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक अपने लाल रंगवाले झण्डे खडे कर देते हैं और विजयानंद प्रकट करते हैं। (मं. ७)

उक्त रीतिसे शत्रुसेना काटी जानेपर उस सेनाके मुर्दोंको हिंस्र पशुपक्षी खायें। उनके मुर्दोंकी व्यवस्था करनेके लिये शत्रुके पास कोई न बचे। यह आशय यहां है। इसका आशय यही है कि शत्रुका इतना पराभव हो। (मं. ८)

संधि किये हुए मित्र राजाओंके सैनिक इकट्ठे हो जांय और निश्चित किये मार्गसे शत्रुपर आक्रमण करके शत्रुको परास्त करें। शत्रुसेनाका नाश करनेके लिए त्रिसंधि वज्रका प्रयोग किया करें। (मं. ९-१०)

त्रिसंधि वज्रसे सैनिकोंमें विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होता हैं। देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका आश्रय क्यों न करें ? (मं. ११) शत्रुनाशक इस वज्रसे देवोंने सब लोगोंको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग मनुष्य करें और विजय प्राप्त करें। (मं. १२-१५) इन मंत्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिसंधि नामक वज्रका उपयोग देव भी करते हैं। इससे सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शत्रुकी सेनाके बाणोंकी धारा खराब करना, उनके शस्त्रास्त्र निकम्मे बनाना, उनके बाहुओंको काटना अथवा ऐसा अशक्त बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अस्त्रोंको निकम्मा बनाना, उनका मार्ग अशुद्ध करना। इस तरह शत्रुका कार्य असफल करना चाहिये। (मं. १६)

शत्रुके (तनूपानं) कवच तोडने या फाडने, उनके (परिपाणं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन सामर्थ्यहीन बनाने और उनकी सब योजनाएं असफल करके उनको जीतना चाहिये (मं. १७)

शत्रुसेनाके सामने मृत्यु ही खडी रहे, हिंसक शस्त्रास्त्रोंका आघात उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शत्रुपर करना चाहिये और शत्रुको परास्त करना चाहिए। (मं. १८)

तमसास्त्रका प्रयोग

उन्नीसवें मंत्रमें भी शत्रुपर (तमसा परिवारय) अंधकारका प्रयोग करनेकी सूचना है। यह भी धुवेंका ही प्रयोग होगा, जिससे अंधेरेमें गिरनेके समान शत्रुको कुछ भी दीखता नहीं होगा। यह चढाई ऐसी भयानक है कि इससे शत्रुका कोई वीर वचता ही नहीं। (मं. १९)

संमोहनास्त्रका प्रयोग

आगे बीसवें मंत्रमें (मुह्यतु) संमोहन करनेका उल्लेख है। शत्रुसेना सबकी सब मोहित हो जाय। उसको कुछ भी न सूझे। यहां कुछ शक्ति शत्रुपर फेंकनी है, जिसके शत्रुसेनामें गिरनेसे शत्रुसेनाकी मति मोहित हो जाती है। सब सैनिकोंके चित्त भ्रांत हो जांय तब उनके पास जाकर उनको कोई काटे। (मं. २०) शत्रु (मूढाः) मोहित होकर मूढ बन जांय। उनको कर्तव्य करनेकी बुद्धि न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जहि) उनके वीरोंको काटा जावे। परंतु यह सब शीघ्रताके साथ करना चाहिए, क्योंकि मोहनास्त्रका परिणाम कुछ समय तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अपना कार्य समाप्त करना चाहिये। (मं. २१)

शत्रु कवचधारी हो अथवा विना कवच धारण करके आया हो, उसको पाशोंसे बांधकर नष्ट करना चाहिये। इस तरह नष्ट हुई शत्रुकी सेना भूमिमें गिर जाय और उन मुर्दोंको कुत्ते खा जांय। (मं. २२-२३) रथी, पदाती तथा अन्य प्रकारकी शत्रुसेना भी इसी तरह नष्ट हो जाय। (मं. २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि जिससे एक भी शत्रु न बचे। शत्रुको निःशेष पराजित करना अथवा काट डालना चाहिये। क्योंकि शत्रु थोडा भी अवशिष्ट रहा तो वह फिर उठता और कष्ट देता रहेगा। अतः युद्धमें उसका पूरा नाश करना चाहिये।

शत्रुकी पूर्ण पराजय होवे, बाणोंसे शत्रुके मर्म काटें जांय, वह भ्रांतचित्त होवे और रोनेके सिवा उसे दूसरा कुछ भी न सूझे। (मं. २६) त्रिसंधि वज्र ही बडा भारी प्रभावशाली शत्रुनाशक शस्त्र है, उसके प्रयोगसे शत्रुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (मं. २७)

इस तरह इस काण्डके इन सूक्तोंमें युद्धविद्याका उपदेश किया है।

युद्धकी तैयारी

कांड ११, सूक्त ९

(ऋषिः – काङ्कायनः । देवता – अर्बुदिः ।)

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च । असीन्परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १ ॥
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥
उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥
अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥
सप्त जातान्न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् । तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥
प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु । विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (अर्बुदे) शत्रुका नाश करनेवाले ! (ये बाहवः) जो बाहुएं हैं, (याः इषवः) जो बाण हैं, जो (धन्वनां वीर्याणि) शस्त्रधारियोंके पराक्रम हैं, तथा (असीन् परशून् आयुधं) तलवारों, फरसों और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संकल्प हैं, (तत् सर्वं) उस सबको (त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बडे बडे स्फोटक अस्त्र शत्रुओंको दिखा ॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो ! और हे देवजनो ! (यूयं उत्तिष्ठत) तुम उठो, (सं नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टाः गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुविनाशक ! (उत्तिष्ठतं आरभेथां) उठो, युद्धको प्रारंभ करो, (आदान-संदानाभ्यां) धरपकड करके (अमित्राणां सेनाः अभिधत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो ॥ ३ ॥

(यः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक सेनाध्यक्ष है, और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है। (याभ्यां अन्तरिक्षं आवृतं) जिन्होंने अन्तरिक्ष घेरा हुआ है, और जिनसे (इयं च मही पृथिवी) यह बडी पृथिवी भी व्याप्त हुई है। (ताभ्यां इन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं इति अहं अन्वेमि) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनासे शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पश्चात् में जाता हूं ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुविध्वंसक ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ उठ। (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (भोगेभिः भञ्जन् परिवारय) अपनी पकडोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुविध्वंसक ! (उदाराणां सप्त जातान् समीक्षयन्) स्फोटक अस्त्रोंके सात प्रकारोंको देखकर (आज्ये हुते) घृतकी आहुति देते ही (तेभिः सर्वैः सेनया त्वं उत्तिष्ठ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ तू उठ ॥ ६ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमणसे (पुरुषे हते) शत्रुके वीरके मरनेपर, उसकी स्त्री (विकेशी कृधुकर्णी) बालोंको खोलकर आभूषणरहित कानोंसे (अश्रुमुखी प्रतिघ्नाना) आंसुओंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई (क्रोशतु) विलाप करे ॥ ७ ॥

*

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं भ्रातरमात्स्वान्रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥
अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव ॥ ९ ॥
अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥
आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान्न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव ॥ ११ ॥
उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज । उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे ॥ १२ ॥
मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि । मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥
प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ १४ ॥
श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे । अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १५ ॥

अर्थ— हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (करूकरं संकर्षन्ती) हाथ पैर घिसती हुई, (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनसे पुत्रकी कामना करनेवाली, (पतिं भ्रातरं आत् स्वान्) पति, भाई और अपने बांधवोंका हित चाहनेवाली शत्रुकी पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (समीक्षयन्) तेरे देखते देखते (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) भयानक बडे बडे मांस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः) गीध, श्येन आदि पक्षी (ध्वांक्षाः शकुनयः) कौवे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत सेनाका मांस खाकर तृप्त हों । ॥ ९ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अधि) शत्रुके पुरुषोंके मुर्दोंसे (अथो सर्वं श्वापदं) सब जानवर (मक्षिकाः क्रमिः तृप्यतु) मक्खियां और कीडे सब तृप्त हो जांय ॥ १० ॥

हे (अर्बुदे, न्यर्बुदे) शत्रुघातक वीरो ! (तव रदिते) तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर (समीक्षयन्) तेरे देखते देखते (प्राणापानान् बृहतं सं आगृह्णीतं) शत्रुके प्राण तेरे वशमें आ जाएं । उससे (अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु) शत्रुओंमें बडा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीर ! (अमित्रान् उद्वेपय) शत्रुओंको भयभीत कर । (सं विजन्तां) शत्रु भयसे भागने लग जायें । (भिया संसृज) शत्रु भयभीत हों । (उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः अमित्रान् विध्य) बडे पकडवाले बाहुओंसे फेंकने योग्य शस्त्रोंसे शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुह्यन्तु) इनकी बाहुएं शिथिल हो जाएं, (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयके संकल्प हों वे निःसत्त्व बनें, (एषां किंचन मा उच्छेषि) इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न बचे ॥ १३ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर !(तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हते) शत्रुके वीर पुरुषके मरनेपर उसकी स्त्री (उरः प्रतिघ्नाना) छाती पीटती हुई, (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओंको पीटती हुई (अघारिणी विकेश्यः रुदत्यः) तैल न लगाकर बालोंको न समेटती हुई रोती रहे ॥ १४ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (श्वन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्तोंको साथ लेकर चलनेवाली स्त्रियां, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणां) दुष्ट दृष्टिवाली कुत्तियां (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्र भी दिखा ॥ १५ ॥

खड्डूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥
चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् । स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥
उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः । जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥
प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे । अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९ ॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् । अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु । शौष्कास्यमनु वर्ततामामित्रान्मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये । तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ २२ ॥
अर्बुदिश्च त्रिषंधिश्चामित्रान्नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन्हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥

अर्थ -- (ख- दूरे अधि चंक्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस्र पक्षिकाको दिखा । (ये अन्तर्हिताः उदाराः) जो छिपाकर रखे हुए स्फोटक अस्त्र हैं उनका प्रयोग कर । (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दाढोंवाले, काले दातोंवाले, (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान्) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्यसा ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६-१७ ॥

हे अर्बुदे ! (त्वं अमित्राणां चमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर । (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनो जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अमित्र प्रब्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय । अपनी (सेनया अग्नि जिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं विजय करती हुई चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय, (प्राण ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्ततां) शत्रुओंके मुख सूख जांय । परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न हो ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरु हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो दूर भागनेवाले और जो बधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको शत्रुओंके प्रति दिखा ॥ २२ ॥

(अर्बुदिः च त्रिषन्धिः च) अर्बुदि और त्रिसन्धि ये हमारे वीरनायक, (न अमित्रान् विविध्यतां) हमारे शत्रुओंको मार दें । (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे वृत्रनाशक शचीपते इन्द्र प्रभो ! (यथा एषां अमित्राणां सहस्रशः हनाम) इन शत्रुओंको सहस्रोंकी संख्यामें हम मार दें ॥ २३ ॥

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः । गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २४ ॥
ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः । ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥
तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥

अर्थ— हे अर्बुदे ! (वनस्पतीन्, वानस्पत्यान् ओषधीः उत वीरुधः) वनस्पतियों और वनस्पतिसे बने पदार्थों, ओषधियों, लताओं, (गंधर्वाः अप्सरसः सर्वान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् सर्वान् तान्) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरों इन सबको तू (अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) शत्रुओंको दिखा और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जांय ॥ २४ ॥

हे अर्बुदे (तव रदिते) तेरा आक्रमण होनेपर (अमित्रेषु समीक्षयन्) शत्रुओंका निरीक्षण करनेके पश्चात् हमारे शत्रुओंके ऊपर (मरुतः देवः आदित्यः ब्रह्मणस्पतिः) आदित्य देव, बृहस्पति और मरुत (ईशां चक्रुः) अधिकार करें। इन्द्र, अग्नि, धाता, मित्र, प्रजापति ये (वः ईशां चक्रुः) तेरे शत्रुओंपर शासन करें। (ऋषयः) ऋषिलोग (ईशां चक्रुः) शासन करें ॥ २५ ॥

हे (मित्राः) मित्रो, हे (देवजनाः) देवजनो ! (यूयं तेषां सर्वेषां ईशानाः) तुम उन सब शत्रुओंके अधिपति हो (उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं) उठो, तैयार हो जाओ। इमं (संग्रामं संजित्य) इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके (यथालोकं वितिष्ठध्वं) अपने अपने देश जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥

युद्धकी तैयारी

युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध-विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता ' अर्बुद ' है। ' अर्बुद ' शब्द संख्यावाचक है, वैसा ही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद १०,००,००,०००

न्यर्बुद १,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सौ कोटी न्यर्बुदमें होती है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः वहांतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिए ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे ' अर्बुद ' शब्दसे ' एक लाख सेना ' समझी जाय और ' न्यर्बुद ' शब्दसे ' दस लाख सेना ' मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिए कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन जितनी सेना होती है, उसको वैसा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम ' अर्बुदी ' और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम ' न्यर्बुदी ' होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेनापतिके वाचक हैं। श्री सायणाचार्य कहते हैं, कि ये नाम सर्पके वाचक हैं—

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्। (ऐ. ब्रा. ६।१)

इस वचनके अनुसार अर्बुद कद्रुका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐसा ही मानना पडता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वपक्षके सेनापतियोंके हैं, इसमें संदेह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तब तक सूक्तके पूर्वापर संबंधसे इनको विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ जाननेके लिए ऐसा समझ लीजिये, कि एक राजा है, उसके पास इस तरह के सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड गया है। इस अवसरमें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहां है।

'अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धनुष, बाण, परशु, तलवार आदि आयुधसमूह है उन सबकी ऐसे ढंग से रचना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय।' (मं. १) अपने सैन्यकी और अपने शस्त्रास्त्रोंकी सुसज्जता ऐसी करनी चाहिए और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पडना चाहिए कि शत्रु युद्ध करनेके लिए खडा तक न रहे। जो अपने मनके संकल्प हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पडता है, वह सब ऐसी योजनासे जगत्में उद्घोषित करना चाहिए, कि जिससे जनताको पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बडा भारी दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है, परंतु धर्म-रक्षाके लिए ही हमें युद्ध करना आवश्यक है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अत्यंत निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल संमति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिए इसकी बडी भारी आवश्यकता है।

पांडवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शस्त्रास्त्रबल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निन्दा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवों को मिल गया। यही युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको परास्त करना है, उसपर अपने शस्त्रास्त्रसाध-नोंका प्रभाव जमाना चाहिए और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिए। इस प्रकारकी जीत होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने 'उदारों' का प्रदर्शन कराना चाहिए। उदार नामक ये अस्त्र हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहां गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। जैसे बारूदके पात्र होते हैं, उनमें आग लगानेसे बारूद जलती है और अंधेरेमें उस बारूदके ज्वलनका बडा वृक्षसा बाहर आता है। इसका नाम है उदार (उत्-आर), अंदरसे ऊपर फेंकना, अन्दरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका जाता है, उसका नाम 'उत्-आर' है। इस अस्त्रको शत्रुके ऊपर फेंकनेपर वह वहां फटता है और उसके अन्दरके विना-शक पदार्थ वेगसे बाहर फेंके जाते हैं, जिससे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरहके उदार अनेक प्रकारके अपने पास हैं और युद्ध होनेपर इनके द्वारा शत्रुका नाश सरल है, इससे शत्रु डरेगा और युद्धके लिए खडा ही नहीं होगा। इस दिखावेसे भी बहुत बडा कार्य हो सकता है।

जितना दिखावा करना हो, उतना ही करना चाहिए पर अपने गुप्त शस्त्रास्त्र शत्रुको नहीं दिखाने चाहिए। क्योंकि अपने सब शस्त्रास्त्रोंका पूर्ण पता शत्रुको लगना नहीं चाहिए। अपने पास अद्भुत शस्त्रास्त्र हैं, उनसे शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है, इतना ही प्रभाव शत्रुके मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्धके विना शत्रुको नष्ट करनेकी यह योजना है। इन अपने उदार नामक शस्त्रास्त्रोंका प्रदर्शन करनेका उप-देश मन्त्र १, १५, २२, २४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिए। नहीं तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलंब नहीं लगेगा। यहां केवल प्रदर्शन अर्थात् 'दिखावा' करना है, यह दिखावा केवल शत्रुपर अपनी शक्तिका प्रभाव जमानेके लिए ही है। जो अपना असली सामर्थ्य है, वह इस दिखावेमें प्रदर्शित नहीं होना चाहिए। अर्थात् दिखावा ऐसा हो कि शत्रु इस दिखावेसे ही दब जावे।

पश्चात् सब सेनाको सज्ज करके सब सेनापति तैयार रहें। किस समय लडना पडे इसका पता नहीं होता है, अतः सर्वदा संनद्ध रहना चाहिए। अपने जो मित्र राजा हैं, उनकी शक्तिका भी विचार करना चाहिए। सुरक्षितताके साथ वे अपनेको यथासमय मिलें इस विषयमें सदा दक्ष होकर कार्य करना चाहिए। (मं. २) अपने विजयकी निश्चितता होनेके लिए यह सब इसी तरह करना योग्य है।

बाहर अपनी शक्तिका प्रभाव फैलाना, उसी तरह अपनी तैयारी करना, सदा अपनी सेनाको सज्ज रखना और अपने मित्रदलोंको सुरक्षित और स्थिर रखना, ये सभी कार्य युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध छिडना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैयारी

करके उठना और युद्धका प्रारंभ करना चाहिए। इसमें शत्रु को सोचनेकी भी फुरसत नहीं देनी चाहिए, यह विशेष सूचना मनन करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें ' आदान और संदान ' ये दो प्रकारकी युद्धविधियां हैं। एकसे शत्रुको एकदम चारों ओरसे घेरकर पकडना होता है और दूसरेमें मिलकर शत्रुपर एकदम हमला करना होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी सेना विशाल हो तो भी युद्धमें विजय संपादन किया जा सकता है। जब इस तरह विजयकी संभावना हो तभी शत्रुके सामने जाकर (अभिघत्त) उसपर चढाई करनी चाहिए। (मं. ३) इस मंत्रके शब्दोंका मनन करनेसे युद्धकी नीतिका पता लग सकता है।

एक बडा सेनापति है और दूसरा उसके नीचे कार्य करने वाला है। दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें ऐसा पराक्रम करें कि वहांके शत्रु पूर्णतासे उखड जांय। पृथ्वीके ऊपर पैदल, घुडसवार और रथियोंसे युद्ध होगा, आकाशमें विमानसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वतशिखरोंपर तोपोंसे युद्ध होगा। जहां जिसका युद्ध करना हो, वहां उसका युद्ध अत्यन्त कुशलताके साथ करके अपनी विजय और शत्रुकी पराजय करनी चाहिए। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् राजा अपनी सेनाके साथ शत्रुसे प्राप्त किये प्रदेशमें प्रवेश करे। (सेनया अहं अन्वेमि) सेनासे मैं राजा उस स्थानमें प्रवेश करता हूं। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व कभी भी शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं. ४) क्योंकि राजा पर ही राष्ट्रका सौभाग्य अवलंबित होता है। यदि राजा असावधानीसे शत्रुके प्रदेशमें जाकर वहां बन्धनमें फंस जाए तो सब सेनाका पराभव और राष्ट्रकी मानहानि संभव है। इसलिए अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुप्रदेश अपने अधिकारमें पूर्णतासे आ चुकनेपर और कोई डर न रहे तभी राजाको अपनी सुरक्षितताके लिए अपनी विश्वास रखने योग्य सेना अपने साथ लेकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिए। राजाकी सुरक्षितता पर ही सब कुछ अवलंबित है। यहां राजाका अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिए।

योग्य समयपर सेनाको तैयार (उत्थान) करना, चढाई की तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसे घेरना चाहिए कि जैसे सांप या अजगर किसीसे लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुको घेर घेरकर, चिपटकर, लिपटकर, मारना चाहिए। सेनाकी चारों ओरसे घेरना और अपनी सेना इतनी अधिक रखनी चाहिए कि जिससे शत्रु घिर जाएं। अपने सेनारूपी सांपसे शत्रुको वेष्टन करना और उसकी हलचल बन्द करना, उसका अन्य जगत्से सम्बन्ध तोडना और उसको हैरान करना चाहिए। (मं. ५)

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमिमें (अन्तर्हिताः उदाराः) गाडकर रखे जानेवाले, दूसरे पानीके अन्दर रखे जानेवाले, तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पांचवें बाणपर रखकर शत्रुपर फेंके जानेवाले, छठे नदी तालाब आदि छोटे जलाशयोंमें रखे जानेवाले और सातवें पहाडोंपर काम देनेवाले। ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक उदार होते हैं। जहां ये रखे जाते हैं वहां शत्रुको घेरकर लाया जाता है और फिर विस्फोटक द्रव्य फेंका जाता है, इनसे उद्गार निकलते हैं जो शत्रुको एकाएक छिन्नभिन्न कर देते हैं, इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करनी चाहिए। हवनाग्निमें घृतकी आहुतियां देकर सब सैनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिए। (मं. ६) यह प्रायः सबेरेका ही हवन है जो चढाईका सूचक है।

इस तरह सिद्ध होकर शत्रुपर हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा, परास्त होगा, भाग जायगा अथवा ऐसा होगा कि उसके राज्यमें स्त्रियोंको रोने और आक्रोश करनेके सिवाय दूसरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं। (मं. ७-९) शत्रुकी सेनाके पुरुष मर जाय और क्रूर जानवर उनके प्रेत खा जांय। (मं. १०) उनकी स्त्रियां छाती पीट पीटकर आक्रोश करें। (मं. १४) शत्रु मारे जांय और उनमें रोने पीटनेका बडा कोलाहल मच जाय। (मं. ११) ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकडा और मारा अथवा काटा जाय। (मं. १२) शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई भी वीर शेष न रहे। (मं. १३) शत्रुको मुर्दे खानेवाले पशुपक्षी देखते रहें, कुत्ते उनके मुर्दोंको खाते रहें, हिंसक क्रूर श्वापद उनके स्थानमें घूमते रहें (मं. १५)

(ख-दूरे) आकाशमें दूर ऊपर सेना जाकर शत्रुपर हमला करे (खर्वे वासना) निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रुसेनाको ऊपरसे मारा जाय, (अन्तर्हिताः उदाराः) भूमिमें अथवा जलमें अदृश्य करके जो उद्गरणशील अस्त्र हैं उनका स्फोट होकर शत्रु मारे जांय, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस व इतर लोगों की सहायता लेकर शत्रुको उखाडा जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय। (मं. १६-१७)

उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नाश किया जाय। अपनी सेनाकी सर्वत्र विजय हो। (मं. १८)

शत्रुको घेरकर मारा जायें। अपनी सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों। अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिनसे अग्निकी ज्वालाएं निकलें और धुंवेसे शत्रु घेरा जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। (मं. १९)

शत्रुसेनाके (वरं वरं हन्तु) बडे बडे वीरोंको चुनचुन कर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे। (मं. २०) इस तरह पराजित होनेपर शत्रुके हृदय उखड जांय, प्राण चले जायें, मुख सूख जायें। परंतु ध्यानमें रहे कि अपने पक्षके लोगोंको (मित्रिणः मा) इनमेंसे कोई कष्ट न हों। (मं. २१)

धैर्यवान् और भीरु जो भी हों, जहां कहीं रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हजारों वीर काटे जाय। वनस्पति औषधि स्फोटक पदार्थ आदि हरएक प्रकारसे शत्रुको परास्त किया जाय। (मं. २२-२४)

हमारे अग्नि, सूर्य, धाता, प्रजापति आदि तथा हमारे ऋषि और हमारे वीर शत्रुओंपर अधिकार करें, अर्थात् हमारी सभ्यताके अन्दर शत्रुकी सब जनता आकर आश्रय लेवे। अर्थात् शत्रुपर हमारा केवल भौगोलिक साम्राज्य ही न हो प्रत्युत हमारी आर्य सभ्यताका भी राज्य उनपर हो और वे पूर्णतया हमारी सभ्यतामें आ जांय। (मं. २५)

सब हमारे सैनिक इतनी विजय संपादन करके पश्चात् अपने अपने स्थानमें जाकर विश्राम करें। उनका शत्रुओंपर स्वामित्व बना रहे। (मं. २६)

यह आशय इस सूक्तका है।

विजयप्राप्ति

कांड १०, सूक्त ५

(ऋषिः – अनेके। देवता – मंत्रोक्ताः।)

(१) इन्द्र॑स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑य ब्रह्मयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑य क्षत्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ २ ॥

इन्द्र॑स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑येन्द्रयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इंद्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इन्द्रके ऐश्वर्य हो, तुमको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (ब्रह्मयोगैः वः युनज्मि) ज्ञानसाधनोंके साथ संयुक्त करता हूं ॥ १ ॥

(इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इन्द्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इंद्रके ऐश्वर्य हो, तुमको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (क्षत्रयोगैः वः युनज्मि) क्षात्रबलके साथ, संयुक्त करता हूं ॥ २ ॥

(इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इंद्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इन्द्रके ऐश्वर्य हो, आपको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (इन्द्रयोगैः वः युनज्मि) इन्द्रशक्तियोंके साथ, संयुक्त करता हूं ॥ ३ ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥ ५ ॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ ॥ ६ ॥
(२) अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥
इन्द्रस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ८ ॥
सोमस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ९ ।

अर्थ—(इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इंद्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इंद्रके ऐश्वर्य हो, तुमको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (सोमयोगैः वः युनज्मि) सोमादि औषधियोंकी शक्तियोंके साथ संयुक्त करता हूं ॥ ४ ॥

(इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इंद्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तम इन्द्रके बल हो,(इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इंद्रके ऐश्वर्य हो, तुमको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (अप्सुयोगैः वः युनज्मि) जलादि योजनाओंके साथ संयुक्त करता हूं ॥ ५ ॥

(इन्द्रस्य ओजः स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) तुम इन्द्रके शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) तुम इन्द्रके बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) तुम इन्द्रके पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) तुम इंद्रके ऐश्वर्य हो, आपको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके लिये (विश्वानि भूतानि उपतिष्ठन्तु) सब भूत तुम्हारे पास आ जायें तथा (आपः मे युक्ता स्थ) जल मुझे समयपर प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

[२] (अग्नेः भागः स्थ) तुम अग्निके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंके वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थान देता हूं ॥ ७ ॥

तुम (इन्द्रस्य भागः स्थ) इन्द्रके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंके वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ ८ ॥

(सोमस्य भागः स्थ) तुम सोमादि औषधियोंके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंके वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ ९ ॥

वरुणस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १० ॥
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ११ ॥
यमस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १२ ॥
पितृणां भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १३ ॥
देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥
(३) यो व आपोऽपां भागोऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः । इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥

अर्थ—(वरुणस्य भागः स्थ) तुम वरुणके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंके वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ १० ॥

(मित्रावरुणयोः भागः स्थ) तुम सूर्य और वरुणके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंके वीर्य ही हो ।(प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ ११ ॥

(यमस्य भागः स्थ) तुम यमके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंका वीर्य ही हो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ १२ ॥

(पितृणां भागः स्थ) तुम पितरोंके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंका वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिए स्थिर स्थान देता हूं ॥ १३ ॥

(देवस्य सवितुः भागः स्थ) तुम सविता देवके भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो ! (अस्मासु वर्चः धत्त) हममें तेज स्थापित करो, क्योंकि तुम (अपां शुक्रं) जलोंका वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये हुए (वः) तुमको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिए स्थिर स्थान देता हूं ॥ १४ ॥

[३] हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां भागः) जो तुममें जलोंका भाग है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें । (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं । (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते है । (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १५ ॥

*

यो व॑ आपोऽपामू॒र्मिर॒प्स्व१॒न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः । इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीयानेन॒ ब्रह्म॑णानेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १६ ॥
यो व॑ आपोऽपां व॒त्सो॒३॑ऽप्स्व१॒न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः । इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीयानेन॒ ब्रह्म॑णानेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १७ ॥
यो व॑ आपोऽपां वृ॑ष॒भो॒३॑ऽप्स्व१॒न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः इ॒दं तमति॑ सृजामि तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीयानेन॒ ब्रह्म॑णानेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १८ ॥
यो व॑ आपोऽपां हि॑रण्यग॒र्भो॒३॑ऽप्स्व१॒न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः । इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीयानेन॒ ब्रह्म॑णानेन॒ कर्म॑णा॒नया॑ मे॒न्या ॥ १९ ॥

अर्थ— हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां ऊर्मिः) जो तुममें जलोंकी तरंगें हैं, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें । (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं । (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १६ ॥

हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां वत्सः) जो तुममें जलोंका बछडा है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें । (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं । (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १७ ॥

(हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां वृषभः) जो तुममें जलोंका वर्षण करनेवाला मेघ है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें । (तेन तं अभि सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं, (य अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १८ ॥

हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां हिरण्यगर्भः) जो तुममें जलोंका सुवर्णके समान तेजस्वी भाग है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं । (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १९ ॥

यो वं आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः । इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २० ॥

ये वं आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।
इदं तानति सृजामि तान्माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

(४) यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम । आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥२२॥

समुद्रं वः हिणोमि स्वां योनिमपीतन । अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

अर्थ— हे (आपः) जलो ! (यः वः अपां अश्मा पृश्निः दिव्यः) जो तुममें जलोंका पत्थर जैसा वर्षादिका दिव्यभाग है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें। (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं। (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ २० ॥

हे (आपः) जलो! (येः वः अपां अग्नयः) जो तुममें जलोंका अग्नि जैसा उष्णताका भाग है, जो (अप्सु अन्तः यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर रहता हुआ यज्ञकर्ममें लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें। (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं। (य अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ २१ ॥

(त्रैहायणात् अर्वाचीनं यत् किं च) तीन वर्षोंके अन्दर जो कुछ भी (अनृतं ऊदिम) असत्य भाषण किया है, (तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् अंहसः) उस सब पापसे (आपः मा पान्तु) जल मुझे बचावे ॥ २२ ॥

हे (आपः) जलो ! (वः समुद्रं प्र हिणोमि) तुम्हें मैं समुद्रके प्रति भेजता हूं, तुम (स्वां योनिं अपीतन) अपने उद्गमस्थानको प्राप्त होओ ! (सर्वहायसः अरिष्टाः) संपूर्ण आयुतक अहिंसित होते हुए (नः किंचन मा आममत्) हम सबको किसी तरह रोग न हो ॥ २३ ॥

(आपः अरिप्राः) जल निर्दोष हैं, इसलिये वह (अस्मत् रिप्रं अप) हम सबसे दोष दूर करें। (सुप्रतीकाः अस्मत् दुरितं एनः प्र) उत्तम रूपवाला जल हम सबसे पाप और मल दूर करे। (दुष्वप्न्यं मलं प्र प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्न और मल बहाकर दूर ले जावें ॥ २४ ॥

(५) विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २६ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २७ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २८ ॥

अर्थ— [५] तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, पृथ्वीपर तेजस्वी और अग्निके समान प्रतापी है, (अहं पृथिवीं अनु वि क्रमे) मैं पृथ्वीपर पराक्रम करता हूं, (तं पृथिव्याः निर्भजामः) हम उसको पृथ्वीसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २५ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा अन्तरिक्षसंशितः वायुतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला अन्तरिक्षमें तेजस्वी और वायुके तेजसे युक्त है, (अहं अन्तरिक्षं अनु वि क्रमे) मैं अन्तरिक्षमें पराक्रम करता हूं, (तं अन्तरिक्षात् निर्भजामः) हम उसको अन्तरिक्षसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २६ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा द्यौः संशितः सूर्यतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, द्युलोकमें तेजस्वी और सूर्यके तेजसे युक्त है, (अहं दिवं अनु वि क्रमे) मैं द्युलोकमें पराक्रम करता हूं (तं दिवः निर्भजामः) हम उसको द्युलोकसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २७ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा दिक्संशितः मनस्तेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, दिशाओंमें तेजस्वी और मनके तेजसे युक्त युक्त है, (अहं दिशः अनु वि क्रमे) मैं दिशाओंमें पराक्रम करता हूं (तं दिशः निर्भजामः) दिशाओंसे उसको हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २८ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ २९ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ ३० ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ ३१ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ ३२ ॥

अर्थ— तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा आशासंशितः वात-तेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, तू उपदिशाओंमें तेजस्वी और वातके तेजसे युक्त है, (अहं आशाः अनु वि क्रमे) सब उपदिशाओंमें मैं पराक्रम करता हूं (तं आशाः निर्भजामः) उसको वहांसे हटा देता हूं (यः द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राण जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २९ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, ऋग्वेदके ज्ञानसे तेजस्वी और सामके तेजसे युक्त है, (अहं ऋचः अनु वि क्रमे) मैं ऋग्विज्ञानमें पराक्रम करता हूं (तं ऋचः निर्भजामः) ऋचाओंसे उसको हटाते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ ३० ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा यज्ञसंशितः ब्रह्मतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, यज्ञके तेजस्वी व ज्ञानके तेजसे युक्त है, तथा (अहं यज्ञः अनु वि क्रमे) मैं यज्ञ क्षेत्रमें पराक्रम करता हूं, (तं यज्ञात् निर्भजामः) हम उसको यज्ञसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ ३१ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा औषधिसंशितः सोमतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, तू औषधि द्वारा तेजस्वी और सोमके तेजसे युक्त है, (अहं औषधीः अनु वि क्रमे) मैं औषधि विद्यामें पराक्रम करता हूं, (तं औषधीभ्यः निर्भजामः) हम उसको औषधियोंसे हटाते हैं, (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ २३ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ ३३ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ ३४ ॥
विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥
(६) जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः ।
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३६ ॥
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् । सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३७ ॥

अर्थ— तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा अप्सुसंशितः वरुण-तेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, तू जलोंमें तेजस्वी और वरुणके तेजसे युक्त है (अहं अपः अनु वि क्रमे) जलोंमें मैं पराक्रम करता हूं, (तं अपः निर्भजामः) हम जलोंसे उसको हटाते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ ३३ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा कृषिसंशितः अन्नतेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, तू कृषिसे तेजस्वी और अन्नके तेजसे युक्त है, (अहं कृषिं अनु वि क्रमे) मैं कृषिमें पराक्रम करता हूं, (तं कृष्याः निर्भजामः) हम उसको कृषिसे हटाते हैं, (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ ३४ ॥

तू (विष्णोः क्रमः असि) तू विष्णुके आक्रमण जैसा आक्रामक है, तथा (सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुष-तेजाः) तू प्राणसे तेजस्वी और पुरुषके तेजसे युक्त है, (अहं प्राणं अनु वि क्रमे) मैं प्राणक्षेत्रमें विक्रम करता हूं, (तं प्राणात् निर्भजामः) प्राणसे उसको हटाता हूं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं (सः मा जीवीत्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवें ॥ ३५ ॥

[६] (अस्माकं जितं) हमारी विजय है, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा प्रभाव है । (विश्वाः पृतना अरातीः अभ्यस्तं) सब शत्रुसेना और वैरी परास्त हुए हैं । (अहं इदं) मैं यह (आमुष्यायणस्य अमुष्यः पुत्रस्य) अमुक गोत्रके अमुक माताके पुत्रके शत्रुके (वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) वर्चस्, तेज, प्राण और आयुको पूर्ण रीतिसे बांधता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) इस तरह इसको मैं नीचे गिराता हूं ॥ ३६ ॥

(सूर्यस्य आवृतं) सूर्यका आवर्तन अर्थात् (दक्षिणां अन्ववृत्तं) दक्षिण दिशामें गमन है, उसके साथ (अनु आवर्ते) मैं अनुकूल होकर जाता हूं । (सा मे द्रविणं यच्छतु) यह मुझे धन देवे । (सा मे ब्राह्मणवर्चसं) वह मुझे ज्ञानतेज देवे ॥ ३७ ॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥
सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥
ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४१ ॥
(७) यं वयं मृगयामहे तं वधैः स्तृणवामहै । व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥
वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि । इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद्देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥
राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि । सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥
यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु । तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥
अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ ४७ ॥

अर्थ—(ज्योतिष्मतीः दिशः अभ्यावर्ते) तेजोयुक्त दिशाओंमें मैं गमन करता हूं। (ताः मे द्रविणं यच्छन्तु) वे मुझे धन देवें। (ताः मे ब्राह्मणवर्चसं) वे मुझे ज्ञानतेज देवें ॥ ३८ ॥

(सप्तऋषीन् अभ्यावर्ते) सप्त ऋषियोंके अनुकूल गमन करता हूं। (ते मे द्रविणं यच्छन्तु) वे मुझे धन देवें। (ते मे ब्राह्मणवर्चसं) वे मुझे ज्ञानतेज देवें ॥ ३९ ॥

(ब्रह्म अभ्यावर्ते) ज्ञानके अनुकूल मैं चलता हूं। (तत् मे द्रविणं यच्छतु) वह मुझे धन देवे। (तत् मे ब्राह्मणवर्चसं) वह मुझे ज्ञानका तेज देवे ॥ ४० ॥

(ब्राह्मणान् अभ्यावर्ते) ब्राह्मणोंके अनुकूल मैं चलता हूं। (ते मे द्रविणं यच्छन्तु) वे मुझे धन देवे। (ते मे ब्राह्मणवर्चसं) वे मुझे ज्ञानतेज देवें ॥ ४१ ॥

(७) (यं वयं मृगयामहे) जिसे हम ढूंढते हैं, (तं वधैः स्तृणवामहै) उसे वधोंसे–हथियारोंसे नष्ट करते हैं और (परमेष्ठिनः व्यात्ते) परमेश्वरकी विकराल दंष्ट्रामें (तं ब्रह्मणा आपीपदाम) उसे हम ज्ञानकें योगसे डाल देते हैं ॥ ४२ ॥

(वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां) ईश्वरकी दाढों द्वारा बननेवाला जो (हेतिः) हथियार है, उससे (तं अभि समदात्) उसका नाश करते हैं। (तं प्सात्वा) उसका नाश करके (इयं समित्) यह जो समिधा इस यज्ञमें डाली जाती है, वह (देवी सहीयसी) शत्रुको दूर करनेमें समर्थ है ॥ ४३ ॥

(वरुणस्य राज्ञः बन्धः असि) वरुणराजके तू बंधनमें पडा हुआ है, (सः अमुं) वह मैं इस (अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं) इस गोत्रके अमुक माताके पुत्रको (अन्ने प्राणे बधान) अन्न और प्राणमें बांध देता हूं ॥ ४४ ॥

हे (भुवः पते) पृथ्वीके स्वामी! (यत् ते अन्नं) जो तेरा अन्न (पृथिवीं अनु आक्षियति) पृथ्वीपर है, हे (प्रजापते) प्रजाके पालक! (तस्य त्वं नः संप्रयच्छ) तू उसको हमें प्रदान कर ॥ ४५ ॥

हे दिव्य (आपः) जलो! (अयाचिषं) याचना करता हूं, कि (रसेन समपृक्ष्महि) हमें रससे संयुक्त करो। हे (अग्ने) अग्ने! (पयस्वान् आगमं) रसके साथ मैं आ रहा हूं (तं मा वर्चसा सं सृज) उस मुझे तेजसे युक्त करो ॥ ४६ ॥

हे अग्ने! (मा वर्चसा संसृज) मुझे तेजसे युक्त कर, (प्रजया आयुषा सं) प्रजा और आयुसे युक्त कर (देवाः अस्य मे विद्युः) देवता मेरे इस भावको जानें। (इन्द्रः ऋषिभिः सह विद्यात्) इन्द्र ऋषियोंके साथ इस विषयको जाने ॥ ४७ ॥

यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो य॒द्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः ।
म॒न्योर्मन॑सः श॑र॒व्या॒३॒ जाय॑ते या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ ४८ ॥
परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि ।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवाँ छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥ ४९ ॥
अ॒पाम॑स्मै॒ वज्रं॒ प्र ह॑रामि॒ चतु॑र्भृष्टिं शीर्षभि॒द्या॑य वि॒द्वान् ।
सो अ॑स्याङ्गा॑नि॒ प्र शृ॑णातु॒ सर्वा॒ तन्मे॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒ विश्वे॑ ॥ ५० ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यत् अद्य मिथुना शपातः) आज जो मिलकर गाली देते हैं, (यत् रेभाः वाचः तृष्टं जनयन्त) जो वक्ता वाणीका दोष करते हैं। (या मन्योः मनसः शरव्या जायते) जो क्रोधसे मनकी हिंसा होती है (तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे दुष्टोंके हृदयोंका वेध कर ॥ ४८ ॥

(यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) दुष्टोंको अपने तापसे दूर भगा, हे अग्ने ! (रक्षः हरसा परा शृणीहि) राक्षसोंको अपने बलसे दूर कर। (अर्चिषा मूरदेवान् परा शृणीहि) अपनी ज्वालासे मूर्खोंको दूर फेंक और (असुतृपः शोशुचतः परा शृणीहि) दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवालोंको शोकयुक्त करते हुए दूर भगा ॥ ४९ ॥

(विद्वान्) मैं यह सब जानता हुआ, (अस्मै शीर्षभिद्याय) इसका सिर तोडनेके लिये (अपां चतुर्भृष्टिं वज्रं प्र हरामि) जलोंके चारों ओर नाश करनेवाले वज्रको फेंकता हूं। (सः अस्य सर्वा अंगानि प्रशृणोतु) वह इसके सब अंगोंको काटे, (तत् मे विश्वेदेवाः अनु जानन्तु) वह मेरा कर्म सब देव अनुकूलताके साथ जानें ॥ ५० ॥

विजयप्राप्ति

शत्रुके पराजयके लिये यत्न

शत्रुका पराभव करनेके लिये (ओजः) शारीरिक बल, (सहः) शत्रुके हमले सहन करनेका सामर्थ्य, (बलं) सैन्य तथा अन्यान्य प्रकारके बल, (वीर्यं) पराक्रम, वीर्यकी शक्ति,(नृम्णं)प्रजाओंके समर्थनको पानेका सामर्थ्य, इतने साधन आवश्यक हैं। पश्चात् (जिष्णुयोग) विजय प्राप्त करनेकी चातुर्यमयी योजनाका उत्तम ज्ञान चाहिये, सब अन्य बलोंके होनेपर भी समयपर 'जिष्णु-योग' में न्यूनता आ जानेसे कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीके साथ 'ब्रह्मयोग' अर्थात् ज्ञानसे सिद्ध होनेवाली योजना अवश्य चाहिये। इसी तरह 'क्षत्रयोग' क्षात्र युद्धक्षेत्रमें कुशलतासे करनेयोग्य युद्धके व्युह आदि रचना विशेष करनेकी प्रवीणता आवश्यक है। 'इन्द्रयोग' राजा और राजैश्वर्य इनके साथ योग होना चाहिये; इनके अभावमें शेष कार्योंका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। 'सोमयोग' का दूसरा नाम है औषधियोग, शत्रुके साथ युद्ध छिडनेपर अपने लोग जखमी हो जायें तो उनको शीघ्र आरोग्यसंपन्न करनेके लिये इन वैद्योंके औषधियोगका बडा उपयोग हो सकता है। इसी तरह स्वपक्षीय लोगोंका शारीरिक बल बढानेके लिये भी इस औषधियोगकी अत्यंत आवश्यकता है।

'अप्सुयोग' का नाम है जलयोग। जलका तो मानवी-जीवनके साथ बडा उपयोग है। इसलिये विजयप्राप्तिके लिये जलका संयोग अच्छी प्रकार होना चाहिये। जलके अभावमें पराभव होनेमें कोई देरी न लगेगी।

संक्षेपसे ६ मंत्रोंमें विजय प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक विषयोंकी सूचना इस तरह दी है।

मंत्र ७ से २१ तक कहा है कि जो जलादि साधन अपने पास हैं, उनका उपयोग शत्रुनाश करनेके लिये करना चाहिये, जिससे शत्रु नाशको प्राप्त हो और अपनी विजय हो।

मंत्र २२ से २४ तक कहा है कि जलसे सब शरीर, मन

आदिकी निर्दोषता सिद्ध होती है, उसीसे शरीरके और मनके मल दूर होते हैं। मनके मलोंसे रोग होते हैं। जलप्रयोगसे ये सब दोष दूर होते हैं और मनुष्य निर्दोष होता है और विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक शरीर और मनमें दोष होंगे, तबतक विजय प्राप्त नहीं हो सकता और प्राप्त होनेपर स्थिर भी नहीं रह सकता।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा, उपदिशा, ऋचा, यजु, यज्ञ, औषधि, सोम, आप, कृषि, अन्न, प्राण आदि सब स्थानोंसे शत्रुको हटाना चाहिये और इन स्थानोंको शत्रुरहित करना चाहिये, यह आशय २५ से ३५ तक मंत्रोंका है।

इतना करनेपर विजय होगी और ऐसा पवित्र वीर ही शत्रुको बांधकर उसको पांवके तले दबा सकता है, यह बात ३६ वें मंत्रमें कही है।

सूर्यसे तेजस्विता, दिशाओंसे विस्तृत कार्यक्षेत्र, ऋषिओंसे ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् मंत्रोंसे सुविचार और ब्राह्मणोंसे उत्तम उपदेश प्राप्त करके विजयी होनेकी सूचना मंत्र ३७ से ४१ तकके मंत्रोंमें है।

४२-४३ इन दो मंत्रोंमें अपने शत्रुको परमेश्वरके अधीन अर्थात् उसके न्यायके अधीन करनेको लिखा है। स्वयं अपने शत्रुका नाश न करते हुए उसे परमात्माके न्यायपर छोड देना चाहिए। परंतु ऐसा करनेके लिये अपना बल बढाना, शत्रुका बल घटाना चाहिये और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शत्रु अपना कुछ भी न बिगाड सकें।

शत्रुको अपना कैदी होनेपर भी उसे परमेश्वरका कैदी मानना चाहिये। उसका नाश करना है तो परमेश्वर करे।

अपने पास बल, अन्न, जल, शौर्य, तेजस्विता आदिकी अधिकता रहे और शत्रुके पास येही वस्तुएं कम हों, ऐसी योजना करनी चाहिये। यहांतक ४७ वें मंत्रभागसे बोध मिलता है।

अपने राज्यमें कोई किसीको गाली न देवे। यह वाणीका अपव्यवहार शत्रुके राज्यमें चाहे होता रहे। दुष्टोंका विध्वंस इस तरहसे करके सज्जनोंकी रक्षा करनी चाहिये। यह इस सूक्तका संक्षेपसे आशय है।

दुष्टोंका नाश

कां ड ७, सूक्त ११४

(ऋषिः - भार्गवः। देवता - अग्नीषोमौ।)

आ ते॑ द॒दे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद्द॒दे। आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त्सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥ १ ॥
प्रेतो य॑न्तु॒ व्या᳚ध्य॒ः प्रानु॒ध्याः प्रो अश॑स्तयः। अ॒ग्नी र॑क्ष॒स्विनी॑र्हन्तु॒ सोमो॑ हन्तु दुर॒स्य॒तीः ॥ २ ॥

अर्थ- (ते वक्षणाभ्यः वर्चः आददे) तेरी छातीसे में बल प्राप्त करता हूं। (अहं ते हृदयात् आददे) में तेरे हृदयसे बल लेता हूं। (ते मुखस्य सङ्काशात्) तेरे मुखके पाससे (ते सर्वं वर्चः आददे) तेरा सब तेज में प्राप्त करता हूं ॥ १ ॥

(इतः व्याध्यः प्रयन्तु) यहांसे व्याधियां दूर हो जायें। (अनुध्याः प्र) दुःख दूर हों, (अशस्तयः प्र उ) अकीर्तियां भी दूर हों। (अग्निः रक्षस्विनीः हन्तु) अग्नि राक्षसिनियोंका वध करे। (सोमः दुरस्यतीः हन्तु) और सोम दुराचारिणियोंका नाश करे ॥ २ ॥

अपनी छाती, हृदय मुख आदि सब अवयवोंका बल बढाना चाहिये। और व्याधियां, आपत्तियां, पीडाएं और अकीर्तियां दूर करनी चाहिये, तथा दुराचारिणी स्त्रियोंको भी दूर करना चाहिये।

---

*

शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त ६

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – ब्रह्मणस्पतिः, सोमः ।)

योऽ३ुस्मान्ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥
यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति । वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥
यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः । अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

अर्थ– हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते ! (यः अदेवः अस्मान् अभिमन्यते) जो ईश्वरकी भक्ति न करनेवाला हमें नीचे गिरानेकी इच्छा करता है, (तं सर्वं) उस सब शत्रुको (सुन्वते यजमानाय मे रन्धयासि) सोमरससे यजन करनेवाले मेरे लिए नाश कर ॥ १ ॥

हे सोम (यः दुःशंसः) जो दुराचारी (सुशंसिन नः आदिदेशति) सदाचार करनेवाले हम सबको आज्ञा देता है अर्थात् हमें आधीन करना चाहता है, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) इसके मुखपर वज्रसे आघात कर, जिससे (सः संपिष्टः अप अयति) वह चूर चूर होकर दूर होवे ॥ २ ॥

हे सोम ! (यः सनाभिः) जो स्वजातीय (यः च निष्ट्यः) और जो सबसे नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य (नः अभिदासति) हमें दास बनाना चाहता है अथवा हमारा घात करता है, (तस्य बलं वधत्मना अप तिर) उसके बलको अपने वधसाधनसे उसी प्रकार दूर कर, (मही द्यौः इव) जिस प्रकार महान् द्युलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है ॥ ३ ॥

शत्रुका लक्षण

इस सूक्तमें शत्रुके लक्षण निम्नलिखित प्रकारसे बताये हैं—

१ अदेवः – जो एक अद्वितीय ईश्वरको नहीं मानता, देव की भक्ति नहीं करता, जो नास्तिक और सत्य धर्मपर अविश्वास रखता है ।

२ अभिमन्यते – जो अभिमानसे भरा हुआ है, जो घमंडी है ।

३ दुःशंस – जिसके विषयमें सब लोग बुरा कहते हैं जिसकी निंदा करते हैं, अर्थात् जो अकेला सबका अहित करता है ।

४ आदिदेशति – जो दूसरोंपर हुकूमत करनेका अभिलाषी है, जो दूसरोंको आज्ञा देना जानता है । जो दूसरों पर जिस किसी रीतिसे अधिकार जमाना चाहता है ।

५ अभिदासति – जो दूसरोंको दास बनाना चाहता है, दूसरों का नाश करता है, दूसरोंको लूटता है ।

शत्रुके ये पांच लक्षण हैं । इन लक्षणोंसे बोधित होनेवाले शत्रुको दूर करना चाहिये, फिरभले ही वह (सनाभिः) स्वजातीय, अपने कुलमें उत्पन्न हुआ हो, अथवा (नि-ष्ट्यः) निकृष्ट जातिका अथवा किसी हीन कुलमें उत्पन्न अथवा आचारहीन हो, या कैसा भी हो, उसको दूर करना चाहिये ।

शरीरसे बाणको हटाना

कांड ६, सूक्त ९०

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – रुद्रः ।)

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च । इदं तामद्य त्वद्वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥
यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः । तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ २ ॥
नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै । नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥ ३ ॥

अर्थ— (रुद्रः यां इषुं) रुद्र जिस बाणको (ते अङ्गेभ्यः हृदयाय च आस्यत्) तेरे अंगों और हृदयको शक्तिहीन करनेके लिए फेंकता है, (अद्य तां) आज उस बाणको (वयं त्वद् विषूचीं) हम तुझसे विरुद्ध दिशासे (इदं विवृहामसि) इस प्रकार दूर करते हैं ॥ १ ॥

(याः ते शतं धमनयः) जो तेरे शरीरमें सैंकडों धमनियां (अङ्गानि अनु धिष्ठिताः) अवयवोंमें रहती हैं (ते तासां सर्वासां) तेरी उन सब धमनियोंसे (विषाणि निः ह्वयामसि) सब विषोंको निश्शेष करते हैं ॥ २ ॥

हे रुद्र ! (ते अस्यते नमः) फेंकते हुए तुझे नमस्कार हो । (प्रतिहितायै नमः) फेंके हुए बाणको नमन हो । (विसृज्यमानायै नमः) छोडे जानेवाले बाणको नमन हो और (निपतितायै नमः) लक्ष्यपर लगे हुए बाणको नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ— शरीरमें लगे बाणको युक्तिसे हटाना चाहिये और शरीरको विषरहित करना चाहिये ॥ १-३ ॥

पापसे छुटकारा

कांड ७, सूक्त ११२

(ऋषिः – अरुणः । देवता – आपः, वरुणश्च ।)

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते । आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्याऽदथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

अर्थ— (द्यावा-पृथिवी शुम्भनी) द्युलोक और पृथ्वीलोक ये (महिव्रते अन्ति-सुम्ने) बडा कार्य करने, वाले, और समीपसे सुख देनेवाले हैं । (सप्त देविः आपः) सात दिव्य नदियां यहां (सुस्रुवुः) बहती हैं । (ताः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वह हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात्) मुझे शापसे (अथो उत वरुण्यात्) और वरुण देवके क्रोधसे (मुञ्चन्तु) बचावें । (अथो यमस्य पड्वीशात्) और यमके बंधनसे तथा (विश्वस्मात् देव-किल्बिषात्) सब देवोंके प्रति किये गए दोषसे मुक्त करें ॥ २ ॥

ये द्युलोक ओर पृथ्वीलोक बडे सुखदायक हैं । यहा बहनेवाली सात नदियां हमें पापसे और सब प्रकारके वाचिक,

दोषोंसे बचावें। आध्यात्मिक पक्षमें सात प्रवाह, पंच ज्ञानेन्द्रियां और मन बुद्धि हैं। आत्मासे ये सात नदियां इस ओर बहती हैं—
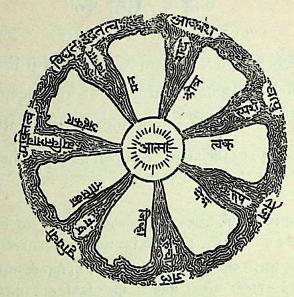
ये सात प्रवाह हमें सब पापोंसे बचावें और पाप मुक्त करें। निःसन्देह ये नदियां पापसे बचानेवाली हैं।

पापनाशन

कांड ४, सूक्त २४

(ऋषिः — मृगारः। देवता — इन्द्रः।)

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य मन्महे) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं (अस्य वृत्रघ्नः इत् शश्वत् मन्महे) इस शत्रु-नाशक प्रभुका निश्चयसे हम सदा ध्यान करते हैं, (इमे स्तोमाः मा उप मा अगुः) ये इसके स्तोम मेरे पास आये हैं। (यः दाशुषः सुकृतः हवं एति) जो दानी सत्कार्यके कर्ताके पुकारको सुनकर आता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ— सब जगत्के प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सन्मुख आते हैं। निःसंदेह वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है, वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे ।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥
यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥
यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यः उग्रबाहुः) जो बलवान् वीर (उग्राणां ययुः) प्रचण्ड वीरोंका भी चालक है और जो (दानवानां बलं आरुरोज) असुरोंके बलको तोड देता है (येन सिन्धवः गावः जिताः) जिसने नदियां और गौवें जीतकर वश में की हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(यः चर्षणिप्रः वृषभः स्वर्विद्) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है (ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति) ये पत्थर भी जिसके पास बल की प्रशंसा करते हैं, (यस्य सप्त होता अध्वरः मंदिष्ठः) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा अहिंसामय यज्ञ अत्यंत आनन्द देनेवाला है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(यस्य वशासः ऋषभासः उक्षणः) जिसके कार्यके लिये गौवें, बैल और सांड होते हैं, (यस्मै स्वर्विदे स्वरवः मीयन्ते) जिस आत्मिक बलवाले के लिये सब यज्ञ होते हैं (यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्रः पवते) जिसके लिये वेदोच्चारसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(सोमिनः यस्य जुष्टिं कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (यं इषुमन्तं गविष्टौ हवन्ते) जिस शस्त्रवालेको इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं, (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है । (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) जिस अद्वितीय देवका पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है (येन उद्यतः वज्रः अहिं अभ्यायत) जिसके द्वारा हुआ उठाया वज्र शत्रु का सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो बलवान् प्रभु वीरोंको भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियां और गौवें इस पृथ्वीपर विचरती हैं, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंको पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्तिका ज्ञाता है । साधारण पत्थर भी जिसके बलकी प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि पशु भी अपना बल लगाते हैं, जिसके आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

जिसकी संतुष्टिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छा पूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारसे सूर्य जैसे गोल स्थिर हैं, इतना प्रचंड बल जिसमें है, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जो जगद्रूपी कार्य करनेके लिये ही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है जिसके वज्रके सम्मुख कोई शत्रु खडा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यः वशी संग्रामान् युधे सं नयति) जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंके समूहोंको युद्ध करनेके लिये चलाता है (यः द्वयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंकी संगतिके लिये छोडता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उस नायके वशमें रहता हुआ मैं स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उसको बारबार पुकारता हूं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापनाशन

पापसे बचाव

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वरकी प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है। इन्द्र बलका देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है। इन्द्रके बलसे ही सब बलवान् हुए हैं। बलके विना कृमिकीट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह बतानेके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति । (मं. ३)

' ये पत्थर जिसका वर्णन करते हैं। ' अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं। बल इसीके पाससे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं। पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है, वह उसीकी है। जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं। यह साक्षी जैसे पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है क्योंकि हरएक पदार्थका बल उसीसे प्राप्त हुआ होता है।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बड कार्यको देखनेसे ही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदिदेवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है। यह प्रचंड सामर्थ्य इसी प्रभुका है इसलिये कोई शत्रु इसके सन्मुख खडा रह नहीं सकता। यह तो—

उग्रीणां उग्रबाहुः । (मं. २)

' उग्रवीरोंको भी वीर्य देनेवाला बाहुबलशाली वीर है ' अर्थात् हमारे उग्रसे उग्र जो वीर हैं वे उसके वीर्यसे वीर्यवान् हुए हैं उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं। यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी। जिस बलके कारण मनुष्यके मनमें घमंड उत्पन्न होता है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल वापस ले ले तो फिर किस बलके कारण ये लोग घमंड करेंगे ? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको लाभ पहुंचानेका यत्न करना चाहिए न कि दूसरोंको दबानेका। यही उपाय पापसे बचनेका है।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं। धर्मयुद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यही सबका सच्चा नाथ है। जो लोग इसको नाथ मानकर अपने आपको सनाथ समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं। सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पहुंचता है और वह दाताकी कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वर की भक्तिसे मनुष्य पवित्र बनें और पापसे बचें।

मधु-विद्या

कांड १, सूक्त ३४

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - मधुवनस्पतिः ।)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥
जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥
मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः । मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥
परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे । यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

अर्थ— (इयं वीरूत् मधुजाता) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है, मैं (त्वा मधुना खनामसि) तुझे मधुसे खोदता हूं । (मधोः अधि प्रजाता असि) शहदके साथ तू उत्पन्न हुई है अतः (सा) वह तू (नः मधुमतः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥ १ ॥

(मे जिह्वायाः अग्रे मधु) मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे (जिह्वामूले मधुलकं) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मिठास रहे । हे मधुरता ! तू (मम क्रतौ इत् अह असः) मेरे कर्ममें निश्चयसे रह । (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥ २ ॥

(मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो । (मे परायणं मधुमत्) मेरा दूर होना भी मीठा हो । मैं (वाचा मधुमत् वदामि) वाणीसे मीठा बोलता हूं जिससे मैं (मधुसन्दृशः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बनूं ॥ ३ ॥

मैं (मधोः मधुतरः अस्मि) शहदसे भी अधिक मीठा हूं । (मदुघात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे भी अधिक मधुर हूं । (मां इत् किल त्वं वनाः) मुझपर ही तू वैसे ही प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे वृक्षकी मधुर रसवाली शाखासे प्रेम करते हैं ॥ ४ ॥

(अ-विद्विषे) वैर दूर करनेके लिये (परितत्नुना इक्षुणा त्वा परि अगां) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूं । (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली हो और (यथा मत् न अपगाः असः) जिससे तू मुझसे दूर न होनेवाली होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगानेवाला और उखाडनेवाला भी मधुरताकी भावनासे ही उसको लगाता है और उखाडता है । इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मिठास अपने साथ लाती है, इसलिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥ १ ॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे, जिह्वाके मूलमें और मध्यमें मधुरता रहे । मेरे कर्ममें मधुरता रहे और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥ २ ॥

मेरा चालचलन मीठा हो, मेरा आना जाना मीठा हो, मेरे इशारे और भाव तथा मेरे शब्द भी मीठे हों । ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मिठासकी मूर्ति ही बनूं ॥ ३ ॥

मैं शहदसे भी मीठा बनता हूं, मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूं, इसलिये जिस प्रकार मधुर फलवाली शाखापर पक्षी प्रेम करते हैं इस प्रकार तू मुझपर प्रेम कर ॥ ४ ॥

कोई किसीसे द्वेष न करे इस उद्देश्यसे व्यापक मधुरवल्लियोंका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी बाड चारों ओर बनाता हूं ताकि इस बाडमें सब मधुरता ही बढे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषसे कोई किसीसे विमुख न हो ॥ ५ ॥

मधु-विद्या

मधुविद्या

वेदमें कई विद्याएं हैं अध्यात्मविद्या, देवविद्या, जनविद्या, युद्धविद्या; इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है। मधुविद्या जगत्की ओर किस प्रकार देखना चाहिये वह दृष्टिकोण ही मनुष्यमें उत्पन्न करती है। उपनिषदोंमें भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंसे ली है। यह मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत्की ओर देखना इस बातका मधुविद्या उपदेश करती है। दूसरी विद्या जगत्को कष्टका आगार बताती हैं; इसको पाठक कटुविद्या कह सकते हैं। परंतु यह कटु-विद्या वेदमें नहीं है। वेद जगत्की ओर दुःखदृष्टिसे देखता नहीं, न ही दुःखदृष्टिसे जगत्को देखनेका उपदेश करता है। वेदमें मधुविद्या इसीलिये है कि इसका ज्ञान प्राप्त करके लोग जगत्की ओर मधुदृष्टिसे देखनेकी बात सीखें। इस विद्याके मंत्र अथर्ववेदमें भी बहुत हैं और अन्य वेदोंमें भी हैं, उनका यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तके मंत्र ही स्वयं उक्त विद्याका उत्तम उपदेश देते हैं।

जन्म स्वभाव

वृक्षोंमें क्या और प्राणियोंमें क्या, हरएकका व्यक्तिनिष्ठ जन्मस्वभाव रहता है जो बदलता नहीं। जैसे सूर्यका प्रकाशना, अग्निका उष्ण होना, ईखका मीठा होना, करेलेका कडवा होना इत्यादि ये जन्मस्वभाव हैं। ये जन्मस्वभाव कहांसे आते हैं यह विचारणीय प्रश्न है। ईख मिठास लाता है और करेला कडवाहट लाता है। एक ही भूमिमें उगी ये दो वनस्पतियां परस्पर भिन्न दो रसोंको अपने साथ लाती हैं। कभी करेलेमें मीठा रस नहीं होता और नाही ईखमें कडुवा रस। ऐसा क्यों होता है? कहांसे ये रस आते हैं?

कोई कहेगा कि भूमिसे। क्योंकि भूमिका नाम 'रसा' है। इस भूमिमें विविध रस होते हैं। जो जो पौधा उसके पास जाता है, वह अपने स्वभावके अनुसार भूमिसे रस खींचता है और जनताको देता है। करेलेका स्वभाव-कडुवा है और ईखका मीठा है। ये पौधे भूमिके विविध रसोंमेंसे अपने स्वभावके अनुकूल रस लेते हैं और उनको लेकर जगत्में प्रकट होते हैं।

मनुष्यमें भी यही बात है। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य विभिन्न गुणधर्म प्रकट कर रहे हैं, उनको एक ही खजानेसे एक ही जीवनके महासागरसे जीवन रस मिलता है, परंतु एकमें वही जीवन शान्ति बढानेवाला और दूसरेमें अशान्ति फैलानेवाला होता है। ये स्वभाव धर्म हैं। एक ही जल मेघोंमें जाता है और मीठा बनकर वृष्टिसे परिशुद्ध स्थितिमें प्राप्त होता है, जिसको पीकर मनुष्य तृप्त हो सकता है, वही जल समुद्रमें जाता है और खारा बनता है, जिसको कोई पी नहीं सकता, यह स्वभाव भेद है।

अन्य पदार्थ अथवा अन्य योनियां अपने स्वभाव बदल नहीं सकती। मरनेतक उनमें बदल नहीं होता। परंतु मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है कि जिस योनिके लोग सुनियमोंके आचरणसे अपना स्वभाव बदल सकते हैं। दुष्टके सज्जन बन सकते हैं, मूर्खके प्रबुद्ध बन सकते हैं, दुराचारियोंके सदाचारी हो सकते हैं, इसीलिये वेद मनुष्योंकी भलाईके लिये इस मधुविद्याका उपदेश दे रहा है। मनुष्य अपनी कडवाहट कम करे और अपनेमें मिठास बढावे यही यहां इस विद्याका उद्देश्य है।

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये- 'यह ईख नामक वनस्पति मिठासके साथ जन्मी है, मनुष्य मीठी भावनाके साथ उसे खोदते हैं। यह मधुरता लेकर आई है, इसलिये हम सबको यह वनस्पति मिठाससे युक्त करे।' (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बडा अर्थपूर्ण है। इसमें चार बातें हैं- (१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव वालोंसे संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवनको व्यतीत करना और (४) दूसरोंको मीठा बना देना। पाठक देखें कि- (१) ईख स्वयं स्वभावसे मीठी होती है, (२) मीठा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले किसानोंसे उसकी मित्रता होती है, (३) ईख स्वयं मीठा जीवनरस अपने साथ लाती है और (४) जिस चीजके साथ मिलती है, उसको मीठा बनाती है।

ये चार उपदेश हैं जो मनुष्यको विचार करने चाहिए। यह ईख अपने व्यवहारसे मनुष्यको उपदेश दे रहा है और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके मननसे प्राप्त होनेवाले नियम ये हैं—

(१) अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कटुता, कठोरता या तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा हर समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढानेका यत्न करना।

(२) मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्योंके साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाववाले हों अथवा मधुरता फैलानेके इच्छुक हों।

(३) अपना जीवन हीं मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने इशारेसे भी कटुताका भाव व्यक्त न करना।

(४) प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

'ईख स्वयं मीठी है, मीठा चाहनेवाले किसानसे मित्रता करती है, अपनेमेंसे मधुर जीवनरस लाता है और जिसमें मिल जाती है उसको मीठा बना देती है।' इस प्रथम मंत्र के चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे हैं। (मं. १)

यहां अन्योक्ति अलंकार है। पाठक इस काव्यमय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन

पूर्वोक्त प्रथम मन्त्रके तीसरे पादमें अन्योक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि 'मनुष्य मिठासके साथ जीवन व्यतीत करे।' अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातकी व्याख्या अगले तीन मन्त्रोंमें स्वयं वेद करता है। इसलिए उक्त तीन मन्त्रोंका भाव थोडा विस्तारसे यहां देते हैं—

(दूसरा मन्त्र)– 'मेरी जिह्वाके मूल, मध्य और अग्रभागमें मिठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूं। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें और लेखमें नहीं करूं कि जिससे जगत्में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका चिन्तन करे। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चार एकरूपतासे मीठे बन गये तो मेरे (ऋतु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्म भी मीठे हो जायेंगे। इस प्रकार विचार, उच्चार, आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत्में मधुरता फैलाऊंगा। मेरे विचारसे, मेरे भाषणसे और मेरे आचार व्यवहारसे चारों ओर मिठास फैलेगी।'

(तीसरा मन्त्र)– 'मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके और दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे इशारे मीठे हों, मैं वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चारूं और उस भाषणका आशय भी मधुरता बढानेवाला ही हो। जिस समय मेरे विचार, उच्चार और आचारमें स्वाभाविक और अकृत्रिम मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं माधुर्यकी मूर्ति ही बनूंगा।'

(चतुर्थ मन्त्र)– 'जब शहदसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा तब तुम सब लोग निसंदेह मुझपर वैसा प्रेम करोगे कि जैसे पक्षीगण मीठे फलोंसे युक्त वृक्षशाखापर प्रेम करते हैं।'

ये तीन मन्त्र कितना अद्भुत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करनेके लिए कुछ अधिक शब्द रखे हैं, उनके कारण इनका अब अधिक स्पष्टिकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा

ये मन्त्र प्रतिज्ञाके रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूं यह भाव इन मन्त्रोंमें है। यह पूर्ण अहिंसाकी प्रतिज्ञा है। अपने विचार, उच्चार, आचारसे किसी प्रकार किसीकी भी हिंसा न हो, किसीसे द्वेष न हो, किसीसे वैर न हो, किसीसे शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर जगत्में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्म ही है और इसलिए इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें है।

मीठी बाड

खेतके चारों ओर बाड लगाते हैं जिससे खेतका नाश करनेवाले पशु उस खेततक पहुंच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठी बाड बनावे। जिससे उसके विरोधी शत्रु –क्रौर्य द्वेषभाव आदि शत्रु- उस तक न आ सकें। यह बाड अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने इंद्रियोंके साथ संयमकी हो, अपने घरमें परस्पर प्रेम की हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो। अपने सब मित्र भी उत्तम मीठे विचार जीवनमें लाने और मधुरता फैलाने वाले हों। ऐसी बाड लगानेपर अन्दरका मिठासका खेत बिगडेगा नहीं। इस विषयमें पंचम मन्त्र देखने योग्य है—

(पंचम मन्त्र)– 'मैं विद्वेषको हटानेके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे ईखकी बाड तेरे चारों ओर लगाता हूं जिससे तू मेरी इच्छा करेगी और मुझसे दूर भी न होगी।'

यह जितना स्त्री पुरुषके आपसके अविद्वेषके लिये सत्य है उतना ही अन्य परिवारों और मित्रजनोंके अविद्वेष और प्रेम बढानेके विषयमें सत्य है। परन्तु अपने चारों ओर मीठी बाड लगानेकी युक्ति पाठकोंको अवश्य जाननी चाहिए। जो अपने अन्तःकरणके क्षेत्रमें ईख लगायेंगे और उनकी पुष्टि अपने मीठे जीवनसे करेंगे, वे ही ये वैदिक उपदेश आचरण में ढाल सकते हैं।

*

संगठन-महा-सूक्त

कांड १, सूक्त १५

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सिन्धवः, [वाताः पतत्रिणः] ।)

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥
इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥
ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः । तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च । तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ— (सिंधवः) नदियां (सं सं स्रवन्तु) उत्तम रीतिसे मिलकर बहती रहें, (वाताः सं) वायु उत्तम रीतिसे मिलकर बहती रहे, (पतत्रिणः सं) पक्षी भी उत्तम गतिसे मिलकर उडते रहें। इसी प्रकार (प्र दिवः) उत्तम दिव्य जन (मे इमं यज्ञं) मेरे इस यज्ञको (जुषन्तां) सेवन करें, क्योंकि मैं (संस्राव्येण हविषा) संगठनके अर्पणसे (जुहोमि) दान कर रहा हूं ॥ १ ॥

(इह एव) यहां ही (मे हवं) मेरे यज्ञके प्रति (आयात) आओ (उत) और हे (संस्रावणाः) संगठन करनेवाले (गिरः) वक्ताओ ! (इमं वर्धयत) इस संगठनको बढाओ। (यः पशुः) जो सब पशुभाव है वह (इह एतु) यहां आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो संपत्ति है, वह (तिष्ठतु) रहे ॥ २ ॥

(नदीनां ये) नदियोंके जो (अक्षिताः उत्सासः) अक्षय स्रोत इस (सदं) संगठन स्थानमें (संस्रवन्ति) बह रहे हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (धनं) धन (संस्रावयामसि) इकट्ठा करते हैं ॥ ३ ॥

(ये) जो (सर्पिषः) घीकी (क्षीरस्य) दूधकी (च उदकस्य) और जलकी धाराएं (संस्रवन्ति) बह रही हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन सब धाराओंसे हम (धनं संस्रावयामसि) धन इकट्ठा करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— नदियां मिलकर बहती हैं, वायु मिलकर बहती है, पक्षी भी मिलकर उडते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिल जुलकर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके बढानेवाले अर्पणसे ही यह संगठनका महायज्ञ कर रहा हूं ॥ १ ॥

सीधे मेरे इस संगठनके महायज्ञमें आ जाओ और हे संगठनके साधक वक्ता लोगो ! तुम अपने उत्त म संगठन बढानेवाले वक्तृत्वोंसे इस संगठन महायज्ञको फैला दो। जो हम सबमें पशुभाव हो, वह यहां इस यज्ञमें आवे और हम सबमें धन्यताका भाव चिरकालतक निवास करे ॥ २ ॥

जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञमें बह रहे हैं, उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठन द्वारा बढाते हैं ॥ ३ ॥

क्या घी, क्या दूध और क्या जलकी जो धाराएं हमारे पास बह रहीं हैं, उन सब धाराओंसे हम अपना धन इस संगठन द्वारा बढाते हैं ॥ ४ ॥

संगठन-महा-सूक्त

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि

यह संगठन महायज्ञका सूक्त है। इसके प्रथम मन्त्रमें संगठनसे शक्ति बढानेका वर्णन है, वह संगठन करनेवालोंको देखना और उसपर खूब विचार करना चाहिए।

१ सिंधवः– नदियां। जो जल बहते हैं उसको स्रोत कहते हैं। इस प्रकारके सेंकडों और हजारों स्रोत जब इकट्ठे होते हैं और अपना भेदभाव छोडकर एकरूप होकर बहते हैं, तब उसका नाम 'नदी' होता है। नदीमें भी जिस समय बाढ आती है, उस समय विविध छोटे स्रोतोंके एकरूप होकर बहनेके कारण जो महाशक्ति प्रकट होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है। यह नदी इस समय बडे बडे वृक्षोंको उखाड देती है; जो उसके सामने आ जाते हैं उनको भी अपने साथ बहा ले जाती है। बडे वृक्ष, बडे मकान, बडे पहाड भी महानदीके वेगके सामने तुच्छ हो जाते हैं। यह वेग कहांसे आता है?

पाठक विचार करेंगे तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे छोटे स्रोतोंमें नहीं होता, अपितु जब अनन्त छोटे स्रोत एकरूप होकर और अपना भेदभाव नष्टकर एकरूपसे बहने लगते हैं अर्थात् अनन्त छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अश्रुतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार नदियां मनुष्यको 'संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश' दे रही हैं।

२ वातः– वायु भी इसी प्रकार मनुष्योंको संगठनका उपदेश दे रही है। छोटी छोटी वायु जिस समय बहती है उस समय वृक्षके पत्ते भी नहीं हिलते, परन्तु वही सब एक होकर प्रचण्ड वेगसे जब बहने लगती है तब महावृक्ष टूट जाते हैं और मनुष्य भी डर जाते हैं। पाठक इन झंझावातों से भी संगठनके बलका उपदेश ले सकते हैं। इस प्रकार वायु भी संगठनका उपदेश मनुष्योंको दे रहा है।

३ पक्षी– पक्षी भी संगठनका कार्य करते हैं। जब एक एक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी मार सकता है, परन्तु जब सेंकडों और हजारों चिडियां एक झुण्डमें रहकर अपना संगठन करती हैं, तब उनकी शक्ति बडी भारी होती है। इस प्रकारके पक्षियोंके झुण्ड बडे बडे खेतोंका धान अल्प समयमें ही खा जाते हैं। यह संगठनका सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बनाकर अपना ऐश्वर्य बढावें। पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरणसे दे रहे हैं।

इस प्रकार पहिले मन्त्रमें ये तीन उदाहरण मनुष्योंके सम्मुख रखकर संगठनका महत्त्व बताया है। यदि पाठक इन उदाहरणोंका उत्तम मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय।

यज्ञमें संगतिकरण

'यज्ञमें संगठन होता ही है। कोई यज्ञ ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो। यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है। प्रथम मन्त्रके द्वितीयार्धमें इसीलिए कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठनकी शक्ति अनुभव करके उस प्रकार अपने संगठन बनानेके उद्देश्यसे समाजके अथवा हमारे देश, जाति या राष्ट्रके लोग, इस संगठन महायज्ञमें संमिलित हों। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीढी है। तत्पश्चात् परस्पर समर्पण करनेसे संगठनकी शक्ति बढने लगती है। हवनमें सात प्रकारकी समिधाएं एकत्रित होती हैं, वे जलकर अग्नि द्वारा प्रकाश करती हैं। यदि एक एक समिधा अलग अलग हो तो अग्नि बुझ जायगी। इसी प्रकार जातिके सब लोगोंके संगठित होनेसे उस जातिका यश चारों दिशाओं में फैलता है, परन्तु जिस जातिमें एकता नहीं होती, उसकी दिन प्रतिदिन गिरावट होती जाती है। इससे यहां स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्परके लिए आत्मसमर्पणका भाव अवश्य होना चाहिए।

इस प्रकार प्रथम मन्त्रने संगठन करनेके मूल सिद्धांतोंका उत्तम उपदेश दिया है।

संगठनका प्रचार

'सब लोग यहां आ जायें, उनकी एक परिषद् बने और संगठन बनानेवाले उत्तम वक्ता अपने ऐक्यभाव बढानेवाले वक्तृत्वसे इस संगठन महायज्ञका फैलाव करें।' यह द्वितीय मन्त्रके पूर्वार्धका भाव है।

सभा, परिषद्, महासभा आदि द्वारा जातियोंके संगठन करनेकी रीति इस मन्त्रार्धमें कही है। सब लोग इसका महत्त्व जानते ही हैं। आगे जाकर इसी द्वितीय मन्त्रमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह अवश्य ध्यानसे देखने योग्य है—

पशुभावका यज्ञ

' जो सब पशुभाव हम सबमें हों वह इस यज्ञमें आ जावें, और यहीं रहें अर्थात फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहे।' पशुभावकी प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके झगडे होते हैं यदि पशुभाव संगठनके लिए दूर किया जाय और मनुष्यत्वका भाव बढाया जाय, तो आपसके झगडे नहीं होंगे। इसलिए पशुभावकी यज्ञमें समाप्ति करनेकी सूचना इस द्वितीय मन्त्रके तृतीय चरणमें दी है और संगठन के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है। इसके विना कोई संगठन हो ही नहीं सकता।

पशुभाव छोडनेका फल

पशुभाव छोडने और मनुष्यत्वका विकास करनेसे तथा संगठनसे अपनी शक्ति बढानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ चरणमें किया है—

' जो धन है वह इस हमारे समाजमें स्थिर रहे।' संगठनका यही परिणाम होता है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यको धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मन्त्रमें संगठनके नियम बताये हैं, वे ये हैं—

१ एक स्थानपर संमिलित होना, सभा करना।

२ उत्तम वक्ता जनताको संगठनका महत्त्व समझा देवें।

३ अपने अन्दरका पशुभाव छोडकर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वापस जायें, सब लोग मनुष्य बनकर परस्पर बर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवनीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे जगत्में धन्य हो जायेंगे।

तृतीय और चतुर्थ मन्त्रमें फिर नदियोंके और जलोंके स्रोतोंका वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिसे एकताका उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ भरपूर मिल सकते हैं, मानो उनमें इन पदार्थोंकी नदियां ही बहेंगी। इसलिए संगठन करना मनुष्यों की उन्नतिका एकमात्र साधन है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मन्त्रोंके उत्तरार्धमें कहा है, कि ' इन संघटित प्रयत्नोंसे हम अपना धन बढाते हैं।' संघटित प्रयत्नोंसे ही यश, धन और नाम बढता है

संगठनका उपदेश

कांड ६, सूक्त ९४

(ऋषिः – अथर्वांगिराः। देवता – सरस्वती।)

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ १ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ २ ॥

अर्थ— (वः मनांसि सं) तुम्हारे मन एक भावसे युक्त हों, (व्रता सं) तुम्हारे कर्म एक विचारसे युक्त हों, (आकूतिः सं नमामसि) तुम्हारे संकल्पोंको एक भावकी तरफ झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो, (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको हम एक विचारकी ओर झुकाते हैं ॥ १ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) में अपने मनसे तुम्हारे मनोंको ग्रहण करता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको में करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती । ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒र्ध्यास्मे॒दं स॑रस्वति ॥ ३ ॥

अर्थ — (द्यावापृथिवी मे ओते) द्युलोक और भूलोक ये मुझसे मिले जुले ही हैं। (देवी सरस्वती ओता) सरस्वती देवी मुझसे मिली हुई है। (इन्द्रः च अग्निः च मे ओतौ) इन्द्र और अग्नि मेरे साथ मिले हुए हैं। हे सरस्वति ! (इदं ऋध्यास्म) इससे हम समृद्ध हों ॥ ३ ॥

संघटनाका उपदेश
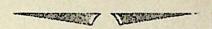
कांड ६, सूक्त ६४

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सांमनस्यम् ।)

सं जा॑नीध्वं॒ सं पृ॑च्यध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम् । दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते ॥ १ ॥

स॒मा॒नो मन्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं व्र॒तं स॒ह चि॒त्तमे॑षाम् ।

स॒मा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि समा॒नं चेतो॑ अ॒भिसं॑विशध्वम् ॥ २ ॥

स॒मा॒नी व॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः । स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति ॥ ३ ॥

अर्थ — (संजानीध्वं) समान ज्ञान प्राप्त करो, (सं पृच्यध्वं) समानतासे एक दूसरेसे संबंध जोडो, (वः मनांसि सं जानतां) अपने मन समान संस्कारसे युक्त करो। (यथा पूर्वे संजानाना देवाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व समयके ज्ञानी लोग अपने कर्तव्यभागकी उपासना करते रहे, वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥

(मन्त्रः समानः) तुम्हारा विचार समान हो, (समितिः समानी) तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो, (व्रतं समानं) तुम सबका व्रत समान हो, (एषां चित्तं समानं) इन समस्त जनोंका-तुम्हारा-चित्त समान-एक विचारवाला होवे। (समानं चेतः अभिः सं विशध्वं) समान चित्तवाले होकर सब प्रकार कार्यमें प्रविष्ट हो, इसलिये (वः समानेन हविषा जुहोमि) तुम सबको समान हविके साथ युक्त करता हूं ॥ २ ॥

(वः आकूतिः समानी) तुम सबका संकल्प एक जैसा हो, (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों, (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारा मन समान हो (यथा वः सह सु असति) जिससे तुम सब मिलजुल कर उत्तम रीतिसे रहो ॥ ३ ॥

अपना संघटन करना चाहते हो तो तुम सबका ज्ञान एक जैसा हो, तुम समान भावसे एक दूसरेके साथ मिल जाओ, कभी एक दूसरेके साथ हीनताका भाव धारण न करो सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त करो, अपने प्राचीन श्रेष्ठ लोक समय समयपर जिस प्रकार अपना कर्तव्यभाग करते रहे, उस प्रकार तुम भी कर्तव्य करो। तुम सब एक विचारसे रहो, तुम्हारी सभामें सबका समान अधिकार हो, तुम्हारे नियम सबके लिये समान हों, तुम्हारा चित्त एक भावसे भरा हुआ हो, एक विचार होकर किसी एक कार्यमें एक दिलसे लगो, इसी कारण तुम सबको समान शक्तियां मिली हैं। तुम्हारे सबके संकल्प समान हों, परस्पर विरोधी न हों, तुम्हारे अन्तःकरणके भाव सबके साथ समान हों, एक दूसरेके विरोधी न हों तुम्हारे मनके विचार भी समतायुक्त हों। इस प्रकार अपनी एकता और अपनी संघटना करके ही तुम यहां उत्तम रीतिसे आनन्दपूर्वक रह सकते हो अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता। तुम्हारी इस संघटनासे ऐसा बल बढेगा कि तुम कभी किसी शत्रुसे न दब सकोगे। और अपना उद्धार अपनी शक्तिसे कर सकोगे।

मातृभूमिका यश

कांड ७, सूक्त ६

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - अदितिः ।)

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हुवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे ।
यस्या॑ उ॒पस्थ॑ उ॒र्व१न्तरि॑क्षं॒ सा नः॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थं॒ नि य॑च्छात् ॥ ४ ॥

अर्थ— (अदितिः द्यौः) मातृभूमि स्वर्ग है, (अदितिः अन्तरिक्षं) मातृभूमि अन्तरिक्ष है, (अदितिः माता) मातृभूमि ही माता है, (सः पिता सः पुत्रः) वही पिता है और वही पुत्र है। (अदितिः विश्वेदेवाः) मातृभूमि ही सब देव हैं, (अदितिः पञ्च जनाः) मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग हैं। (अदितिः जातं) मातृभूमि ही उत्पन्न पदार्थ हैं और (अदितिः जनित्वं) उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी मातृभूमि ही हैं ॥ १ ॥

(सुव्रतानां मातरं) उत्तम कर्म करनेवालोंका हित करनेवाली, (ऋतस्य पत्नीं) सत्यका पालन करनेवाली, (तुवि-क्षत्रां) बहुत प्रकारसे क्षात्र तेज दिखानेवाली, (अ-जरन्तीं) क्षीण न करनेवाली, (उरूचीं) विशाल, (सु-शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाली, (सु-प्र-नीतिं) सुखसे योगक्षेम चलानेवाली और (अदितिं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिकी (अवसे सुहवामहे उ) रक्षाके लिये प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

(सुत्रामाणं) उत्तम रक्षा करनेवाली, (द्यां, अनेहसं) प्रकाशयुक्त और अहिंसक, (सुशर्माणं सुप्रणीतिं) उत्तम सुख देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली (सुअरित्रां अस्रवन्तीं दैवीं नावं) उत्तम वल्लियोंवाली, न चूनेवाली दिव्य नौका पर चढनेके समान (पृथिवीं) मातृभूमि पर (स्वस्तये आरुहेम) कल्याणके लिये हम चढते हैं ॥ ३ ॥

(वाजस्य प्रसवे) अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये (अदितिं मातरं महीं) अन्न देनेवाली विशाल मातृभूमिका (वचसा नाम करामहे) अपनी वाणीसे यश गाते हैं। (यस्याः उपस्थे उरु अन्तरिक्षं) जिसकी गोदमें विशाल अन्तरिक्ष है, (सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्) वह मातृभूमि हम सबको त्रिगुणित सुख देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— मातृभूमि ही हमारा स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता, पिता और पुत्रपौत्र है, वही हमारा देवता है और वही हमारी जनता है, बना हुआ और बननेवाला सब कुछ हमारे लिये मातृभूमि ही है ॥ १ ॥

मातृभूमि उत्तम पुरुषार्थी मनुष्योंकी रक्षा करती है, सत्यका रक्षक वही है, उसी मातृभूमिके लिये अनेक प्रकारके क्षात्रतेज प्रकाशित होते हैं, मातृभूमि क्षीण न करनेवाली है, विशाल सुख देनेवाली है, हमें उत्तम मार्गपर चलानेवाली और हमें अन्न देनेवाली है, उससे हमारी रक्षा होती है, इसलिये हम उसका यश गाते हैं ॥ २ ॥

उत्तम वल्लियोंवाली, न चूनेवाली नौकाके ऊपर चढनेके समान हम उत्तम रक्षक, तेजस्वी, अविनाशक, सुखदायक, उत्तम चालक मातृभूमिके ऊपर हम अपने कल्याणके लिये उन्नत होते हैं ॥ ३ ॥

अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिका यश हम गाते हैं। जिसके ऊपर यह बडा अन्तरिक्ष है, वह मातृभूमि हमें उत्तम सुख देवे ॥ ४ ॥

मातृभूमिका यश

मातृभूमिका यश

इस सूक्तमें मातृभूमिका यश वर्णन किया है। मातृभूमि सचमुच उत्तम कल्याण करनेवाली है, इसका वर्णन देखिये -

१ अदितिः- (अदनात् अदितिः) अदन अर्थात् भक्षण करनेके लिये अन्न देती है। हमारी मातृभूमि हमें अन्न देती है, इसीलिये हमारा (द्यौः) स्वर्गधाम वही है। हमारी माता पिता भी वही है. क्योंकि माता पिताके समान मातृभूमि हमारा पालन करती है। पुत्रादि भी वही है, क्यों कि (पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करनेवाली और हमारी रक्षा करनेवाली भी वही है। इसके अतिरिक्त वह पुष्टि करती है और उस कारण हमें संतति प्राप्त होती है, इसलिये वह उसीकी दयासे होती है. ऐसा मानना चाहिए। हमारे त्रिलोकीके सुख मातृभूमिके कारण ही हमें प्राप्त होते हैं। (मं. १)

२ विश्वेदेवाः अदितिः- हमारे लिये हमारी मातृभूमि ही सब देवता है। अर्थात् मातृभूमिकी उपासनासे सब देवताओंकी उपासना करनेका श्रेय प्राप्त होता है। (मंत्र १)

३ पञ्चजनाः अदितिः - हमारी मातृभूमि ही पांच प्रकारके लोग हैं। ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित ये पांच प्रकारके लोग प्रत्येक राष्ट्रमें रहते हैं। मातृभूमि इन्हींसे पूर्ण होती है, इसलिये कहा जाता है कि ये पांच प्रकारके लोग ही मातृभूमि हैं। (मं. १)

४ जातं जनित्वं अदितिः- पूर्वकालमें बने हुए और भविष्यमें बननेवाले सभी पदार्थ मातृभूमिमें ही रहते हैं। पूर्वकालमें हमने कैसा बर्ताव किया यह भी मातृभूमिकी आजकी अवस्थासे पता लग सकता है और मातृभूमिकी अवस्था भविष्य कालमें कैसी होगी, यह भी आजके व्यवहारसे समझमें आ सकता है। (मं. १)

५ सुव्रतानां माता- उत्तम सत्कर्म करनेवाले मनुष्योंका यह मातृभूमि माताके समान हित करनेवाली है। (मं. २)

६ ऋतस्य पत्नी- सत्यव्रतका पालन करनेवाली अर्थात् सत्यनिष्ठ रहनेवालोंका पालन करनेवाली मातृभूमि है। (मं. २)

७ तुविक्षत्रा- जिसके कारण विविध शौर्य करनेके लिये उत्साह उत्पन्न होता है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं. २)

८ अजरन्ती- जो इसकी भक्ति करते हैं उनको यह क्षीण, दीन और अशक्त नहीं बनाती। (मं. २)

९ सुशर्मा- उत्तम सुख देनेवाली मातृभूमि है। (मं. २-३)

१० सुप्रणीतिः - (सु-प्र-नीतिः) उत्तम मार्गसे चलानेवाली, उत्तम अवस्थाको पहुंचानेवाली मातृभूमि है। (मं. २-३) नीति शब्द यहां चलानेके अर्थमें है।

११ अनेहस् - (अहननीया) जो घात करनेके लिए अयोग्य अथवा जो कभी घात नहीं करती है, ऐसी मातृभूमि है। (मं. ३)

१२ स्वस्तये आरुहेम- अपने कल्याणके लिये हम अपनी मातृभूमिमें रहते हैं। यदि मातृभूमिमें न रहें तो हमारा कल्याण कभी संभव नहीं होगा। जो अपनी मातृभूमिमें रहते हैं उनका ही कल्याण होता है। (मं. ३)

१३ स्वरित्रा अस्रवन्ती दैवी नौः- जिस प्रकार उत्तम वल्लियोंवाली, न चूनेवाली, दिव्य नौका समुद्रसे पार जानेमें सहायक होती है, उसी प्रकार यह मातृभूमि हमें दुःखसागरसे पार करानेके लिये दिव्य नौकाके समान है। (मं. ३)

१४ वाजस्य प्रसवे मातरं महीं वचसा नाम करामहे- अन्नकी विशेष उत्पत्ति करनेके कार्यमें हम सब मातृभूमिका यश वाणीसे गाते हैं। मातृभूमि हमें बहुत अन्न देती है, इस कारण उसकी हम बहुत प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार मातृभूमिका गीत गाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। (मं. ४)

१५ सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्- वह मातृभूमि हमें तीन गुना सुख देती है। अर्थात् स्थूल शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका सुख इस प्रकार यह त्रिविध सुख देती है। (मं. ४)

इस सूक्तमें मातृभूमिका गुणवर्णन किया है। यह प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें धारण करने योग्य है। मनुष्यके लिये मातापिता मातृभूमि ही है। इसलिये जन्मभूमिको ' मातृभूमिं ' तथा ' पितृदेश ' भी कहते हैं। इसी प्रकार पुत्रभूमि भी यही है। उत्तम पुरुषार्थी लोगोंके लिये यही स्वर्गधाम होता है अर्थात् पुरुषार्थ न करनेवालोंके लिये यह नरक हो जाता है। इसका कारण मनुष्योंका गुण या दोष ही

है। मातृभूमि ही मनुष्योंका सर्वस्व है। अतः सब लोग अपनी मातृभूमिकी उचित रीतिसे भक्ति करें और उन्नतिको प्राप्त करें।

अदिति शब्द

' अदिति ' शब्द वेदमें कई स्थानोंमें विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। एक अदिति शब्द ' अद्=भक्षण करना ' इस धातुसे बनता है। इसका अर्थ ' अन्न देनेवाली ' ऐसा होता है। यह शब्द इस सूक्तमें है। ' गौ ' अदिति है क्यों कि वह दूध देती है, भूमि अदिति है क्योंकि वह अन्न, धान्य, वनस्पति आदि देती है, द्यौ अदिति है क्योंकि द्युलोकसे जल वर्षता है और उससे अन्नपान मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार अन्न देनेवालेके अर्थमें यह अदिति शब्द है। परन्तु इसका दूसरा भी अर्थ है। वह (अ+दिति) जो दिति अर्थात् खण्डित नहीं वह अदिति ' स्वतन्त्रता ' है। ये दो शब्द परस्पर भिन्नार्थक हैं। इनमें पहिला शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त है।

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

कांड ७, सूक्त ७

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – अदितिः।)

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

अर्थ— (दितेः) पराधीनताके निर्माता (तेषां पुत्राणां) उन पुत्रोंका (धाम समुद्रियं गभिषक् हि) निवास समुद्रके गंभीर स्थानमें है। वहांसे उनको (अदितेः बृहतां अनर्मणां देवानां) स्वाधीनतासे युक्त मातृभूमिके बडे अहिंसाशील दैवी गुणोंसे युक्त सुपुत्रोंके लिए (अव अकारिषं) हटाता हूं। क्योंकि (एनान् नमसा परः) इनकी सज्जनतासे अधिक योग्य (कश्चन न अस्ति) कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

भावार्थ— पराधीनता फैलानेवाले राक्षस अथवा असुर समुद्रके मध्यमें अति गंभीर स्थानमें रहते हैं। वहांसे उनको हटाता हूं और मातृभूमिकी स्वाधीनता संपादन करनेवाले श्रेष्ठ दैवी गुणोंसे युक्त अहिंसाशील सज्जनोंके लिए योग्य स्थान बनाता हूं। क्योंकि इन सज्जनोंसे कोई दूसरा अधिक योग्य नहीं है ॥ १ ॥

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर

दिति और अदिति

दिति और अदिति शब्दोंके अर्थ विशेष रीतिसे यहां देखने चाहिये। कोशोंमें इन शब्दोंके अर्थ निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं—

(१) अदिति- स्वतन्त्रता, स्वातंत्र्य, मर्यादा न रहना, अमर्याद, अखण्डित, सुखी, पवित्र, पूर्णत्व, वाणी, पृथ्वी, गौ, देवमाता इत्यादि अर्थ अदितिके हैं।

(२) दिति- खण्डित, पराधीनता, मर्यादित, दुःखी, अपवित्र, अपूर्णत्व, राक्षसमाता ये अर्थ दितिके हैं।

अदितिकी प्रजा ' देवता ' है और दितिकी प्रजा ' राक्षस ' है। यह सब महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित है।

इस सूक्तमें (दितेः पुत्राणां) दितिके पुत्रोंके स्थान अर्थात् राक्षसोंके स्थानको नष्ट करके देवोंको सुख देनेकी बात परमेश्वर द्वारा कही गयी है। दितिके पुत्रोंका स्थान समुद्रमें गहरे स्थानमें है, यह एक उस स्थानके प्रवेश योग्य न होनेकी बात है। वस्तुतः राक्षस जैसे समुद्रमें रहते हैं, वैसे भूमिपर भी रहते हैं। गीतामें राक्षसोंके गुणोंका वर्णन इस प्रकार है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।
(भ. गी. १६।४)

'दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये राक्षसगुण हैं' अर्थात् राक्षस वे हैं कि जो दंभी, घमण्डी, अभिमानी, क्रोधी, कठोर और अज्ञानी अर्थात् बन्धमुक्त होनेका ज्ञान जिनको नहीं है, ये ऐसे हैं इसीलिये इनके व्यवहारसे पारतन्त्र्य दुःख आदि फैलते हैं और जो इनकी संगतमें आते हैं, वे भी पराधीन बनते हैं। इसीलिये मन्त्रमें कहा है कि, ऐसे दुष्टोंको मैं उखाड देता हूं और देवोंका स्थान सुदृढ करता हूं।

अदितिके पुत्र देव हैं। परमेश्वर इनकी सहायता करता है। राक्षसोंको दूर करना भी इसीलिये है कि, वहां देव सुदृढ बनें। दैवी गुण ये हैं—

'निर्भयता, पवित्रता, बन्धमुक्त होनेका ज्ञान, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोभ, मृदुता, बुरा कर्म करनेके लिये लज्जा, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, अद्रोह, घमण्ड न करना इत्यादि गुण देवोंके हैं। (भ. गी. १६। १-३) ये गुण जिनमें बढ जाते हैं वे देव हैं। ये देव ही स्वतन्त्रता स्थापन करनेका कार्य करते हैं।

परमेश्वर राक्षसवृत्तिवाले लोगोंका अन्तमें नाश करता है इसका कारण यही है, कि वे जगत्में पराधीनता और दुःख बढाते हैं और वह दैवीवृत्तिवालोंकी सहायता इसीलिये करता है, कि वे देव जगत्में स्वातन्त्र्यवृत्ति फैलाते हैं और सबको सुखी करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। इसलिये मन्त्रमें कहा है कि (एनान् परः कश्चन नास्ति) इन देवोंसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। इसीलिये ईश्वरकी सहायता इनको मिलती है।

राष्ट्रीय एकता

कां ३, सूक्त ८

(ऋषिः - अथर्वा। देवता - मित्रः, विश्वेदेवताः।)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ— (उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण, वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिए उत्तम प्रकारसे रहने योग्य बडे राष्ट्रको (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

(धाता रातिः सविता) धारणकर्ता दाता सविता (मे इदं वचः) मेरा यह वचन (जुषन्तां) प्रीतिसे सुनें और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें। (शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माताको मैं बुलाता हूं (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुखस्थानपर रहनेवाला होऊं ॥ २ ॥

*

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥
सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ— (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिए (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं। (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इद्धः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह अग्नि (दीर्घं एव दीदायत्) बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इह इत् असाथ) यहीं रहो, (परः न गमाथ) दूर मत जाओ। (इर्यः गोपाः) अन्नयुक्त गौका पालन करनेवाला (पुष्टपतिः व आजत्) पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे। (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः, इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

(वः मनांसि सं) अपने मनोंको एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) अपने कर्मोंको एक भावसे युक्त करो, (आकूतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारकी ओर झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको प्रभावित करता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तसे अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (वः हृदयानि मम वशेषु कृणोमि) तुम्हारे हृदयोंको मैं अपने वशमें करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— अपनी किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूं ॥ २ ॥

मैं नमनपूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पाके योग्य होऊं। परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताकी अग्नि प्रदीप्त की गयी है वह बहुत देरतक हमारे लोगोंमें जलती रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एकविचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरेसे दूर न जाओ। अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला तथा तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुमको इकट्ठा करके यहां लावे। एक इच्छा की पूर्तिके लिए प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

तुम्हारे मन एक हों, तुम्हारे कर्म एकताके लिए हों, तुम्हारे संकल्प एक हों जिससे तुम संघशक्तिसे युक्त हो जाओ। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ॥ ५ ॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं। मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बना कर यहां आओ। मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं। मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

राष्ट्रीय एकता

अधिक उच्चता

मनुष्यके अन्दर उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है। इस विषयमें तृतीय मन्त्रका कथन विचारणीय है—

हुवे सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे। (मं. ३)

'सोम, सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें अपनी सहायताके लिए बुलाता हूं।' अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नति को प्राप्त कर सकूं।

'उत्, उत्तर' ये शब्द एकसे एक बढी अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे 'उत्' अवस्था बढकर है और उससे 'उत्तर' अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा 'उत्तरत्व' की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मन्त्रकी सूचना है अर्थात् मनुष्य अपनसे उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परन्तु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। 'उत्–तर–त्व' शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिए।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करनी चाहिए। 'श्रेय और प्रेय' अथवा 'दैव और आसुर' ऐसे दो मार्ग मनष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् देव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिए और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा के लिए ही इस मन्त्रमें 'देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना' करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर पांव नहीं रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना करना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है। एकबार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसुरी लालसामें फंस जाते हैं। इस प्रकारकी गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि—

इह इत् असाथ, न परो गमाथ। (मं. ४)

'इसी दैवी मार्गपर रहो, इसको छोडकर अन्य मार्गसे न जाओ।' यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है। कईवार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथ से उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है। ऐसा न होवे इसलिए इस चतुर्थ मन्त्रने यह सूचना दी है।

उन्नतिका मार्ग

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होनेके नाते अपनी उन्नतिके लिए उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है। वह अलग अलग रह कर उन्नत हो नहीं सकता। वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्योंको चाहिए कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं,
वः आकूतीः सम्। (मं. ५)

'तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढानेवाले हों।' इस मंत्रमें जो 'सं' उपसर्ग है वह 'उत्तमता और एकता' का द्योतक है। मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों। कई लोग बाहरसे तो कोई बुरा कार्य नहीं करते हैं परंतु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करते हैं कि जिनका परिणाम आपसमें झगडेका हेतु बने। ऐसा नहीं होना चाहिये। संकल्प, विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहियें और कभी वैरका भाव उनमें नहीं आना चाहिये। यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध बर्ताव करनेवाला हो तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका उत्तरार्ध देखने योग्य है—

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि।
(मं. ५)

'ये जो विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकता के मार्ग पर हम झुका देते हैं।' इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्गपर लाना चाहिये। समाजके शासनका ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्गपर चल ही न सकें। सज्जन तो सदा शुभ मार्ग परसे चलेंगे ही, परंतु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर

जाना छोड दें और शुभ मार्गपर चलनेमें ही अपना लाभ समझें इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्वर्तन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारनेसे जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है।

सुधारका प्रारम्भ

हमेशा यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अंतःकरणके सुधारसे हो। जो लोग अपने अन्तःकरणके सुधारके विना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत्के सुधारका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि।
मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि। (मं. ६)

' मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं। इस प्रकार में अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं। '

इस मंत्रमें ' अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश ' हर एकको ध्यानमें रखने योग्य है। क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है ? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्माही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं। जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं। उनमें यह सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है। ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा ही जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है। हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है। जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी ही सिद्धि उसको प्राप्त होगी। इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत।
मम यातं अनु वर्त्मानि एत॥ (मं. ६)

' मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो। '

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायासही प्राप्त होती है। अर्थात् उनके कहनेके विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं। यह स्वयं होता रहता है। परंतु जनताको ' अपने मार्गसे चलो ' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है। इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं। जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है। इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्म सुधारके लिये करें तो अधिक भला हो सकता है। जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है। आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्तिकी वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताको ' मेरे पीछे चलो ' ऐसा कहनेका अधिकार मिलता है। वह कहता है कि—

' मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बना कर चलो (मं. ६)। ' अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूं उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा। इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है। उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र

उक्त प्रकारके मार्ग आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग अपने आचरण अनुकूल बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको ' संवेश्य राष्ट्र ' कहते हैं, क्योंकि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जांय और रहें और आनंद प्राप्त करें। इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु। (मं. १)

' हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य विशाल राष्ट्र देवें। ' अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्शराष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने। इस प्रकारके राष्ट्रमें ' मैं प्रमुख बनूं ' यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अंतःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा। इसका सूचक वाक्य द्वितीय मन्त्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि। (मं. २)

'स्वजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊं।' यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अंतःकरणमें रहेगी, इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परन्तु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रकी उन्नतिके शिखरपर ले जायेंगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सात्त्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मन्त्रने 'उत्तरत्व की स्पर्धा' कहा है। इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिकी अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने कर्मोंकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मन्त्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः। (मं. ३)

'(अ-प्रति-ब्रुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त की हुई यह एकराष्ट्रीयताकी अग्नि बहुत दीर्घकालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे।' अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्योंकि इसी अग्निकी गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहनी चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्ज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-ब्रुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं।

इस सूक्तमें 'सजात' शब्द आया है और यह शब्द वेदमन्त्रोंमें अनेक बार आया है। 'सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है। जातिभेदके कारण एकदूसरेसे लडनेवाले लोग 'सजात' नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर 'सजात' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये। ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्द द्वारा तृतीय मन्त्रमें कही है। यही राष्ट्रभक्तिकी अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होती है।

राष्ट्रका पोषक

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दो ही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है—

इर्यो गोपा पुष्टपतिर्व आजत्। (मं. ४)

'(इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं।' यह मन्त्रभाग बहुत मनन करने योग्य है। अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला ग्वाला ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिए आवश्यक हैं। राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिए राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक इन दो वर्गोंके राष्ट्रमें अवनत रहनेपर राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती।

शूरपुत्रोंवाली माता

राष्ट्रकी बुनियाद 'सन्तान' है। पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं। इन की सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है। माता अपने बाल बच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मन्त्र में दी है। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं हुवे। (मं. २)

'शूर पुत्रोंकी अदीना माताको मैं बुलाता हूं।' अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं। यहांका 'अ-दिति' शब्द 'अदीन, प्रतिबन्धमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली' इत्यादि भाव रखता है। 'शूर-पुत्रा' शब्दका भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। 'वीरसूर्भव' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर, यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहां होंगी वहीं राष्ट्रीयताके

भाव परम उत्कर्षतक पहुंच सकते हैं। देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देनी चाहिए इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीर-पुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिए।

दैवी सहायता

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्र शक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मन्त्र देखिए—

असै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ।
(मं. ४)

'सब देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।' अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है। जो परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिए प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

एकता

कां. ३, सू. ३०

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमाः, सांमनस्यम् ।)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनस्यं) सांमनस्य अर्थात् मनका शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्वेषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारेमेंसे (अन्यः अन्यं अभि हर्यत) हरएक परस्परके ऊपर उसी प्रकार प्रीति करे (अघ्न्या जातं वत्सं इव) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (जाया पत्ये) पत्नी पतिसे (मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाईसे द्वेष न करे (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। तुम सब (सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता सबके घरोंमें स्थिर हों। हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करें ॥ ३ ॥

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः । तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥ ४ ॥
ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑राश्चर॑न्तः ।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ स॒ध्रीचीना॑न्वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि ।
स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥ ६ ॥
स॒ध्रीची॒नान्वः॒ संम॑नसस्कृणो॒म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न् ।
दे॒वा इ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (येन देवाः न वियन्ति) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

(ज्यायस्वन्तः) वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्तवाले, (संराधयन्तः) उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करनेवाले, (स-धुराः चरन्तः) एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि यौष्ट) तुम अलग मत होओ, विरोध मत करो। (अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत) एक दूसरेसे प्रेमपूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो। (वः सध्रीचीनान्) तुम सबको एक साथ पुरुषार्थ करनेवाला और (संमनसः कृणोमि) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाला बनाता हूं ॥ ५ ॥

(प्रपा समानी) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो और (वः अन्नभागः सह) तुम्हारा अन्नका भाग भी समान हो। (समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि) एक ही जुएमें तुमको एक साथ मैं जोडता हूं। (सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत) उसी प्रकार मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (अभितः नाभिं अराः इव) जिस प्रकार चारों ओरसे नाभिमें चक्रके आरे जुडे हुए होते हैं ॥ ६ ॥

(संवननेन वः सर्वान्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि) साथ मिलकर पुरुषार्थ करनेवाला, उत्तम मनवाला और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाला बनाता हूं। (अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायंप्रातः वः सौमनसः अस्तु) सायंकाल और प्रातःकाल तुम्हारे चित्त प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिससे कार्य व्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो और कभी आपसमें लडाई झगडा नहीं हो, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढ कर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ। परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुल कर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। इसीलिये तुम्हें उत्तम मनसे युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भाग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रहकर कार्य करनेवाले तुम बनो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे हुए होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिले रहो ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मनके भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्त होओ, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें। जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसंकल्पोंकी रक्षा करो ॥ ७ ॥

एकता

संज्ञानसे एकता

इस सूक्तमें ' संज्ञान ' प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है। मनुष्य प्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसमें एकता रखना अत्यंत आवश्यक है। जातीय एकता न रही तो मनुष्यका नाश होगा। जो जाति अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत्में विजयी हो रही है, तथा जिस जातिमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है। अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं—

अंदरका सुधार

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये। वैदिकधर्ममें यदि कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही होगी तो यही कही है कि संपूर्ण सुधारका प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये। हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको लाभ पहुंचा सकते हैं। परंतु हृदयमें दोष हों तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इस सूक्तमें हृदयको सुधारनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- (स-हृदयं)- हृदयके भावकी समानता अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना। (मं. १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं। जो दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता, वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता। हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है—

सांमनस्यं— (सं-मनः)- मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना। मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना चाहिये। (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं। इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इस प्रकार सहृदयता और सांमनस्यताके सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये, यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाहरका सुधार

३ अ-विद्वेषं= द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना। आपसमें झगडा न करना। (मं. १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारको सुधारनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ' मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीसे द्वेष न करे। ' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है। द्वेष न हो, झगडा न हो। दो मनुष्योंके इकट्ठे होनेपर किसी न किसी की निन्दा शुरू हो जाती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें।

निर्वैरताका व्यवहार करनेसे क्या तात्पर्य है ? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं। क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता यहां अभीष्ट है ? नहीं नहीं, यहांका ' अ-विद्वेष ' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है। सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मनकी शुद्धि होती है। ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे, वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा नहीं हो सकता। इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्ध में दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। (मं. १)

' एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम करो कि जैसे गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ करती है।' निर्वैरताका यह उदाहरण है। अहिंसाके व्यवहारका दृश्यरूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है। गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसे होता है वैसे ही अन्योंसे तुम्हें प्रेम करना चाहिए। ' अ-विद्वेष ' का अर्थ केवल ' वैरका अभाव ' नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है। वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है ' प्रेम करना '। अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरेपर प्रेम करना। पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश दिया, उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्र भागमें गौके

उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी। इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोंमें कहा है, सबसे प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंके लिए अवश्य मननीय है।

'(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे। धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे। (२) भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाएं। (३) जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं। (४)

ये मंत्र आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं। जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा।

इन मंत्रोंके अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलनी नहीं चाहिये। अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है। तथा 'भाई भाईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है। 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण करे' यह अर्थ है और (वः गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः। मं. ४) 'तुम्हारे घरके पुरुषोंको यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं,' इसका अर्थ 'तुम्हारे घरके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं।

संघमें कर्म

पञ्चम मंत्रमें जातिके लोगोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उत्तम उपदेश है, इसका सारांश यह है—

१ ज्यायस्वन्तः— बडोंका सन्मान करनेवाले बनो। वृद्धोंका सन्मान करो। (मं. ५)

२ मा वि यौष्ट— विभक्त मत बनो। अपनेमें विभेद न बढाओ। (मं. ५)

३ सधुराः चरन्तः— एक धुराके नीचे रहकर आगे बढो। यहां धुराका अर्थ धुरीण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उन्नतिके मार्गपरसे कटिबद्ध होकर चलो। (मं. ५)

अपने नेताकी आज्ञामें रहकर उन्नतिका साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ सध्रीचीनाः— एक ही कर्मके लिये मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहो। (मं. ५)

५ संराधयन्तः— मिलकर सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले बनो। (मं. ५)

६ अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत— परस्पर प्रेम पूर्वक शुभ भाषण करते हुए आगे बढो। (मं. ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेमपूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें कलह न बढे और आपसकी फूट बढकर शक्ति क्षीण न हो।

इस मंत्रके 'चित्तिनः और संमनसः' ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके 'सांमनस्य' शब्दने बताया है। उत्तम चित्तवाले और शुभ मनवाले बनो, यही इसका आशय है।

वृद्धोंका सन्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें दत्तचित्त होना ये दो उपदेश यहां मुख्यतः हैं। मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इसलिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा है कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहां यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ अविरोधसे कर्म करो। इस कर्मसे ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका निश्चय हो सकता है।

खानपानका प्रश्न

जब संघमें रहना और कर्म करना होता है तब ही खानपानका प्रश्न आता है। घरमें तो सबका एक ही खानपान होता है, क्योंकि माता, पिता, भाई, बालबच्चे प्रायः एक ही भोजन करते और एक ही पानी पीते हैं। जो खानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है, वह जातीय संघटनाके समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें षष्ठ मंत्रने उत्तम नियम बताया है—

'तुम्हारा जलपानका स्थान एक हो और अन्न भाग भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूं। तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो।' (मं. ६)

इस मंत्रमें सबका खानपान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। जातीय और

राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि 'जाति चक्रके समान है,' जिस प्रकार चक्रके आरे चारों ओरसे नाभिमें अच्छी प्रकार जुडे हुए होते हैं, उसी प्रकार चारों वर्ण राष्ट्रकी नाभिमें जुडे हुए हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोडे भी अलग हो जायेंगे तो चक्रका नाश हो जायगा। जनतामें सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये जिस प्रकार चक्रमें लकडियां एकत्र हुई होती हैं।

सेवाभावसे उन्नति

सप्तम मंत्रमें 'सं-वनन' शब्द है। इसका अर्थ 'उत्तम प्रकारकी प्रेमपूर्वक सहायता करना' है। 'वन्' धातुका अर्थ 'प्रेमपूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। 'सं+वन्' का भी यही अर्थ है। इससे संवननका अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेमपूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा-समितिका कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है—

संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि। (मं. ७)

'प्रेमपूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सब को एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं।' जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थसेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसीलिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसीलिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास

वेदका सिद्धान्त है कि 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः।' अर्थात् 'यह मनुष्य कर्ममय है।' इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे कर्म करता है, वैसी ही उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है, इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करने मनुष्यके लिए आवश्यक हैं। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके 'सव्रताः संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः सध्रीचीनान् एकश्नुष्टीन्' आदि शब्दों द्वारा मिलता है।

राष्ट्रका पोषण करनेवाला

कां. ७, सू. १०९

(ऋषिः - बादरायणिः। देवता - अग्निः।)

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

अर्थ— (बभ्रवे उग्राय इदं नमः) भरणपोषण करनेवाले उग्र वीरके लिये यह नमस्कार है। (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इंद्रियोंके विषयमें अपने शरीरको वशमें रखनेवाला है, (सः नः ईदृशे मृडाति) वह हमें ऐसी अवस्थामें भी सुख देता है। अतः मैं (घृतेन कलिं शिक्षामि) स्नेहसे कलहको—कलह करनेवालोंको—शिक्षित करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— जो राष्ट्रका भरण और पोषण करनेवाले हैं उनको मैं प्रणाम करता हूं। वे इंद्रियों और शरीरको अपने स्वाधीन करनेवाले हैं। वे ही सब प्रजाओंको सदा सुख देते हैं। हमारे अंदर जो आपसमें कलह हो उसको मैं स्नेहसे शान्त करता हूं ॥ १ ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥
अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥ ३ ॥
आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर । वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥
यो नो ध्रुवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥ ५ ॥
संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (त्वं अप्-सराभ्यः घृतं वह) तू जलमें संचार करनेवालोंके लिये घी ले जा। (अक्षेभ्यः पांसून् सिकताः अपः च) आंखोंके लिये धूली और बालूसे छाना जल प्राप्त कर। (यथाभागं हव्यदातिं जुषाणाः देवाः) यथायोग्य प्रमाणसे हव्यभागका सेवन करनेवाले देव (उभयानि हव्या मदन्ति) दोनों प्रकारके हव्य पदार्थ प्राप्त करके आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

(सूर्यं च हविर्धानं अन्तरा) सूर्य और हविष्पात्रके मध्य स्थानमें जो (सध-मादं) साथ बसनेका स्थान है उसमें (अप्सरसः मदन्ति) अप्सराएं आनंदित होती हैं। (ताः मे हस्तौ) वे मेरे हाथोंको (घृतेन संसृजन्तु) घीसे युक्त करें और (मे कितवं सपत्नं रन्धयन्तु) मेरे जुआडी शत्रुका नाश करें ॥ ३ ॥

(प्रतिदीव्ने आ-दिनवं) प्रतिपक्षीके साथ मैं विजयेच्छासे लडता हूं। (घृतेन अस्मान् अभिक्षर) घीसे हमें युक्त कर। (यः अस्मान् प्रतिदीव्यति) जो हमारे साथ प्रतिपक्षी होकर व्यवहार करता है, उसको (अशन्या वृक्षं इव जहि) बिजलीसे जैसे वृक्ष नष्ट होता है, वैसे ही नष्ट कर ॥ ४ ॥

(यः नः ध्रुवे इदं धनं चकार) जो हमें क्रीडादि व्यवहारके लिये यह धन देता है, (यः अक्षाणां ग्लहणं शेषणं च) जो अक्षोंका ग्रहण तथा विशेषीकरण करता है (सः देवः इदं नः हविः जुषाणः) वह देव इस हमारे हविका सेवन करे और हम (गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम) गन्धर्वोंके साथ एक स्थानमें आनंदसे रहें ॥ ५ ॥

(सं-वसवः इति वः नामधेयं) 'सम्यक् रीतिसे बसानेवाले' इस अर्थका आपका नाम है। आप (उग्रं-पश्याः) उग्र दृष्टिवाले (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले और (अक्षाः) राष्ट्रके मानो आंख ही हैं। हे (इन्दवः) ऐश्वर्यवानो ! (तेभ्यः वः हविषा विधेम) उन तुमको इस हवि समर्पण करते हैं। और (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

भावार्थ— जलमें संचार करनेवालोंको घी दो। आंखोंके लिये रेतसे छाना जल लो। देवताओंको यथायोग्य हवन समर्पण करो, जिससे सब आनंदित हों ॥ २ ॥

सूर्य और हविष्यपात्रके मध्यमें जो स्थान है, उसमें सबका रहनेका स्थान है। इस स्थानमें मुझे घी प्राप्त हो और जुआडीका नाश हो ॥ ३ ॥

प्रतिपक्षीपर मुझे विजय प्राप्त हो। हमें घी बहुत प्राप्त हो। जो हमारा प्रतिपक्षी हो उसका नाश हो ॥ ४ ॥

जो हमें व्यवहार करनेके लिये धन देते हैं, उनके साथ हम आनंदपूर्वक रहें ॥ ५ ॥

राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले वीर बडे उग्र स्वरूपके हैं। उनके कारण सब राष्ट्रके लोग अपने राष्ट्रमें सुखसे बसते हैं। उनको हम प्रजाजन करभार देते हैं और उनके प्रबंधसे हम धनके स्वामी बनें ॥ ६ ॥

देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम । अक्षान्यद्बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् नाथितः देवान् हुवे) जो आशीर्वाद प्राप्त करनेवाला मैं देवोंके लिये हवन करता हूं तथा (यत् ब्रह्मचर्यं ऊषिम) जो हमने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है। (यत् बभ्रून् अक्षान् आलभे) जो भरण करनेवाले अक्षोंको स्वीकार करता हूं, (ते नः ईदृशे मृडन्तु) वे हमें ऐसी अवस्थामें सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— मैं हवन करके देवोंका आशीर्वाद प्राप्त करता हूं। उसी कारण ब्रह्मचर्यव्रतका मैं पालन करता हूं। जो राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं उनके प्रयत्नसे हम सबको सुख प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

राष्ट्रका पोषण करनेवाले

यह सूक्त बडा दुर्बोध है और कई मंत्र भागोंका भाव कुछ भी ध्यानमें नहीं आता है। अतः इसकी अधिक खोज अत्यंत आवश्यक है। बडा प्रयत्न करनेपर भी इस समय इसकी संगति नहीं लग सकी। तथापि इस सूक्तपर जो विचार सूझे हैं, वे नीचे दिये हैं; जो खोज करनेवालोंके लिए कुछ सहायक बनेंगे—

राष्ट्रभृत

इसमें ' राष्ट्र-भृत् ' किंवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक, राष्ट्र-भृत्य राष्ट्रका भरण पोषण करनेवालोंका वर्णन है। राष्ट्रका (भृत्) भरण पोषण करनेवाले ' राष्ट्रभृत् ' कहलाते हैं। इनका नाम ' संवसवः ' (सं-वसु) है। उत्तम रीतिसे दूसरोंके लिये जो प्रयत्न करते हैं उनका यह नाम है। ये (उग्रं पश्याः) उग्र रूपवाले होते हैं, जिनका स्वरूप उग्र अर्थात् वीरतायुक्त होता है। इनको (अक्षाः) अक्ष भी कहते हैं, अर्थात् ये राष्ट्रकी आंख होते हैं। इनकी आंखसे मानो राष्ट्र देखता है। ' अक्ष ' का दूसरा अर्थ गाडीके दोनों चक्रोंके मध्यमें रहनेवाली डंडी भी होता है। मानो ये राष्ट्रभृत्य राष्ट्र चक्रके मध्यदण्ड ही हैं, इन्हींके उपर राष्ट्रका चक्र घूमता है। ' अक्ष ' शब्दके अन्य अर्थ ' आत्मा, ज्ञान, नियम, आधारसूत्र ' है। (मं. ६)

इनको लोग (तेभ्यः हविषा विधेम) अन्नादि दें, उनको राज्यव्यवस्थाके लिये करभार दें और उनके इंतजाममें रहकर (रयीणां पतयः स्याम) हम सब प्रजाजन धनधान्यके स्वामी हों। प्रजा राजप्रबंधके लिये कर देवे और राष्ट्रसेवक राष्ट्रका ऐसा उत्तम इंतजाम करें कि, जिस प्रबंधमें रहकर राष्ट्रके लोग धनधान्यसंपन्न हों। (मं. ६)

ये (उग्राय) उग्रवीर और राष्ट्रका (बभ्रु) भरणपोषण करनेवाले हैं। किंवा ये भूरे रंगवाले हैं। इनको (इदं नमः) यह नमस्कार हम करते है क्योंकि इनके कारण हमें (सः नः ईदृशे मृडाति) ऐसी विकट अवस्थामें भी सुख होता है। (यः अक्षेषु तनूवशी) जो इन राष्ट्रके आधारभूत वीरोंमें अपने शरीरको स्वाधीन करनेवाला है वही विशेष प्रभावशाली है और वही सबसे अधिक योग्य है। (मं. १)

आपसी झगडे दूर करनेका उपाय

आपसके झगडोंका नाम ' कलि ' है यह कलि सर्वथा नाश करनेवाला है। आपसके कलहोंसे एकका दूसरेके साथ संघर्षण होता है, इस घर्षणसे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह दोनोंको जलाती है। इन दोनोंके मध्यमें कुछ तेल या घी डालनेसे संघर्षण कम होता है। यंत्रमें दो चक्रोंका जहां संघर्षण होता है वहां वे दोनों तपते हैं, वहां तेल छोडते हैं तो उनका संघर्षण होता है और वे तपते नहीं। कलिको दूर करनेका भी यही उपाय है। (घृतेन कलिं शिक्षामि) घीसे आपसी कलह दूर करनेकी शिक्षा मिलती है। यंत्रचक्रोंका संघर्षण जैसे घीसे कम होता है, उसी प्रकार दो मनुष्यों या दो समाजोंका झगडा भी पारस्परिक स्नेहके बर्तावसे कम हो सकता है। अतः स्नेह (तेल या घी) संघर्षण कम करनेवाला है। यह स्नेह बढानेसे आपसका झगडा दूर होता है। (मं. १)

आपसका झगडा दूर करनेका यह अद्वितीय उपाय है। इससे जैसे वैयक्तिक लाभ हो सकता है, उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय शान्तिका भी लाभ हो सकता है।

द्वितीय मंत्रका समझना कठिन है (मं. २)। 'अप्सरस्' शब्दका एक अर्थ प्रसिद्ध है। उससे भिन्न दूसरा अर्थ (अप्-सरः) जलमें संचार करनेवाले किंवा 'अपस्' नाम 'कर्म' का है, कर्मके साथ जो संचार करते है वे 'अप्सरस्' होते हैं। ये कर्मचारी (सध-मादं मदन्ति) एक स्थानपर रहना पसंद करते हैं। कर्मचारियोंके लिये एक सुयोग्य स्थान हो। ऐसे स्थानसे उनको आनंद हो सकता है। इन सबको घी विपुल मिलना चाहिये और उसी प्रमाणसे अन्य खानपानके पदार्थ भी मिलने चाहिये। अर्थात् कर्मचारियोंकी अवस्था उत्तम रहनी चाहिये। सबको कार्य प्राप्त हो और सबको खानपान भी विपुल मिले।

(मे सपत्नं कितवं रन्धयन्तु) मेरा प्रतिपक्षी जुआडी नाशको प्राप्त हो। मेरा शत्रु भी नाशको प्राप्त हो और जुआडी भी न रहे। आपसकी शत्रुता जैसी बुरी है, उसी प्रकार जुआ खेलना भी बहुत बुरा है। (मं. ३)

(प्रतिदीव्ने आदिनवं) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करनेको कोई खडा हो; तो उसके साथ युद्ध करनेके लिए हरएक मनुष्य तैयार रहे। अर्थात् हरएक मनुष्य बलवान् बने जिससे उनको शत्रु डरा न सके। (यः प्रतिदीव्यति जहि) जो विरुद्ध पक्षी होकर युद्ध करनेको आवे उसका नाश कर। यह सर्वसामान्य आज्ञा है। शत्रुको दूर करनेकी तैयारी हर एकको करनी ही चाहिये। (मं. ४)

(यः नः द्युवे धनं चकार) जो हमें क्रीडादि व्यवहारके लिये धन देता है, उसको हम भी कुछ प्रत्युपकारके रूपमें दे दें। इस मंत्रभागमें जो 'द्युवे दीव्ने' आदि शब्द हैं उनमें 'दिव्' धातु है इस धातुके अर्थ 'क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति, प्रकाश, दान' इत्यादि हैं। प्रायः लोग पहिला 'क्रीडा' अर्थ लेते हैं और ऐसे शब्दोंका अर्थ 'जुआ' करते हैं। ये लोग 'विजिगीषा, व्यवहार' आदि अर्थ देखते नहीं। यदि इन अर्थोंको इस मंत्रमें स्वीकार किया जाय, तो संगति लगनेमें बडी सहायता होगी। इसमें जैसे क्रीडा अर्थ है, उसी प्रकार अन्य विजयेच्छा व्यवहार आदि भी अर्थ हैं। ये अर्थ लगनेसे 'यः नः द्युवे धनं चकार' इस मंत्रभागका अर्थ 'जो हमारे विजयके कार्यके लिये हमें धन देता है, जो हमारे विविध व्यवहार करनेके लिये धन देता है' इत्यादि अर्थ हो सकते हैं और ये अर्थ बहुत बोधप्रद हैं। जो व्यवहारके लिए हमें धन दे उसको प्रत्युपकारके लिये हम भी लाभका कुछ भाग दें। (मं. ५)

हम (ब्रह्मचर्यं ऊषिम) ब्रह्मचर्यका पालन करें, वीर्यका नाश न करें और बडे लोगोंसे (नाथितः) आशीर्वाद प्राप्त करें जिससे हमारा कल्याण हो। (मं. ६)

यह सूक्त बडा कठिन है, तथापि ये कुछ सूचक विचार हैं कि जिससे इस सूक्तकी खोज हो सकेगी।

बाह्यशक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका संबंध

कां. ६, सू. १०

(ऋषिः- शन्तातिः । देवता - नानादेवताः, अग्निः, वायुः, सूर्यः ।)

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ— (पृथिव्यै, श्रोत्राय, वनस्पतिभ्यः, अग्नये, अधिपतये) पृथ्वी, कान, वनस्पति तथा पृथ्वीके अधिपति अग्निके लिये (स्व-आह) प्रशंसा कहते हैं ॥ १ ॥

(प्राणाय, अन्तरिक्षाय, वयोभ्यः, वायवे, अधिपतये) अन्तरिक्ष, प्राण, पक्षी तथा अन्तरिक्षके अधिपति वायुके लिये हमारी स्तुति हो ॥ २ ॥

(दिवे, चक्षुषे, नक्षत्रेभ्यः, सूर्याय, अधिपतये) द्युलोक, आंख, नक्षत्र और द्युलोकके अधिपति सूर्यकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें बाह्य सृष्टिसे व्यक्तिके अन्दरकी शक्तियोंका संबंध बताया है—

बाह्यलोक	उसमें प्राप्त पदार्थ	लोकाधिपति	व्यक्तिके शरीरमें इंद्रिय
पृथिवी	वनस्पति	अग्नि	कान (शब्दग्रहण)
अन्तरिक्ष	पक्षी	वायु	प्राण
द्युलोक	नक्षत्र	सूर्य	आंख

इस प्रकार व्यक्तिके इंद्रियोंका बाह्य जगत्के लोकों और देवोंके साथ संबंध है। यह संबंध जानकर सूर्य प्रकाशसे आंखकी, शुद्ध वायुसे प्राणकी और अग्निसे श्रवण शक्तिकी शक्ति बढावें। यहां अग्निसे श्रवणशक्तिका संबंध खोजका विषय है।

रुद्रदेवता

कां. ११, सू. २

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – भव–शर्व–रुद्राः ।)

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥
शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः ।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥
पुरस्तात्ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत । अभीवर्गाद्दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (भवाशर्वौ) भव और शर्व ! हे उत्पादक और संहारक ! आप दोनों (मृडतं) हम सबको सुखी करें। (मा अभियातं) हमपर हमला न करें। आप दोनों (भूतपती, पशुपती) भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं। (वां नमः) आप दोनोंको नमस्कार है। (प्रतिहितां आयतां मा वि स्राष्टं) धनुषपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोडें, (नः द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं) हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंकी हिंसा न करें ॥ १ ॥

जो (कृष्णः अविष्यतः) काले और हिंसक कृमि हैं, उन (शुने क्रोष्ट्रे) कुत्ते और गीदडोंके लिये तथा (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) क्रूर शब्द करनेवाले गीधोंके लिये (शरीराणि मा कर्त) शरीरोंको मत काटो। हे (पशुपते) पशुओंके पालक ! (ते मक्षिकाः ते वयांसि) तेरी मक्खियां और कौवे (विघसे मा विदन्त) खानेके लिये उन कटे शरीरोंको न प्राप्त करें अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें।

हे (भव) सबके उत्पन्नकर्ता देव ! (ते क्रन्दाय प्राणाय) तेरे शब्दरूपी प्राणके लिये नमस्कार हो। (ते याः रोपयः) तेरे जो शक्तिप्रभाव हैं, हे (अमर्त्य रुद्र) अमर रुद्रदेव ! (सहस्राक्षाय ते नमः कृण्मः) सहस्र नेत्रवाले तुझ देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधरात् नमः कृण्मः) तुझे आगेसे, ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं। (अभीवर्गात् दिवः परि अन्तरिक्षाय ते नमः) सब ओरसे द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दुद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥
अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥
स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥
चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥
तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्व१न्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणत्पृथिवीमनु ॥ १० ॥
उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

अर्थ— हे पशुपते ! हे भव ! (ते मुखाय नमः) तेरे मुखके लिये नमस्कार है। (यानि ते चक्षूंषि) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है। तेरे (त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय नमः) त्वचारूप, दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अंगेभ्यः उदराय जिह्वायै आस्याय) तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, (ते दद्भ्यः गंधाय नमः) तेरे दांतोंके लिये और गन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

(नीलशिखण्डेन वाजिना अस्त्रा) नील शिखावाले बलवान् अस्त्रसे (सहस्राक्षेण अर्धकघातिना तेन रुद्रेण) हजारों आंखोंवाले सबके विनाशक उस रुद्रसे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(सः भवः विश्वतः नः परिवृणक्तु) वह उत्पत्तिकर्ता सब ओरसे हमें सुरक्षित रखे। (आप इव अग्निः) जल जैसे अग्निको घेरता है, वैसे ही (भवः नः परिवृणक्तु) उत्पत्तिकर्ता हमें घेर रखे। वह (नः मा अभि मांस्त) हमें नष्ट न करे, (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! (भवाय चतुः अष्टकृत्वः नमः) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार बार तथा आठ बार नमस्कार हो। (ते दशकृत्वः नमः) तेरे लिये दस बार नमस्कार हो। (इमे पञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पांच पशु तेरे लिये विभक्त हैं, (गावः) गौवें, (अश्वाः) घोडे, (पुरुषाः) पुरुष, (अजावयः) बकरियां और भेडें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिशः) तेरी ये चारों दिशाएं हैं, (तव द्यौः, तव पृथिवी) तेरा द्यु और पृथ्वी लोक है, (तव इदं उग्र उरु अन्तरिक्षं) तेरा ही यह बडा तेजस्वी अन्तरिक्ष है। (इदं सर्वं आत्मन्वत् तव) तेरा ही यह सब चेतनावाला है, (यत् पृथिवीं अनु प्राणत्) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥

(यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह (वसुधानः अयं उरुः कोशः) वसुओंका निवासस्थानरूप यह विश्वरूपी बडा कोश (तव) तेरा ही है। हे (पशुपते) पशुपालक ! (सः नः मृड, ते नमः) वह तू हमें सुख दे, तेरे लिये नमस्कार हो। (क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः परः) सियार, गीदड, कुत्ते सब दूर हों। (अघरुदः विकेश्यः) बुरे स्वरसे रोनेवाली, बालोंको खोलकर चिल्लानेवाली स्त्रियां भी दूर हों, अर्थात् ये शोकके प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् ।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥
योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति । पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥
भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय । ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १४ ॥
नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥
सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद्रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥
श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् । पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥ १८ ॥
मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद्दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥

अर्थ— हे (शिखंडिन्) कलगी धारण करनेवाले ! तू (सहस्रघ्नि शतवधं हिरण्ययं हरितं धनुः बिभर्षि) हजारोंका नाश करनेवाला, सैकडोंका वध करनेवाला, सुवर्णमय धातुका धनुष धारण करता है । (रुद्रस्य इषुः देवहेतिः चरति) रुद्रका बाण देवोंका शस्त्र विचरता है, वह (इतः यतमस्यां दिशि) यहांसे जिस दिशामें हो, (तस्यै नमः) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

हे रुद्र ! (यः अभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है, (विद्धस्य पदनीः इव) घायलके पदक्षेपके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुंक्षे) उसके पीछेसे तू उससे बदला लेता है ॥ १३ ॥

(भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ) उत्पत्ति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले ज्ञानी हैं। (उभौ उग्रौ वीर्याय चरतः) ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं। (इतः यतमस्यां दिशि) वे यहांसे जिस दिशामें हों वहां (ताभ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र ! (आयते परायते तिष्ठते आसीनाय) आनेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले (ते नमः) तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

(सायं प्रातः रात्र्या दिवा नमः) शामको, सवेरे, रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो (भवाय शर्वाय च उभाभ्यां नमः अकरं) भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

(सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं) सहस्रनेत्र, ज्ञानी और बहुत प्रकारसे शस्त्र फेंकनेवाले रुद्रको (पुरस्तात् अति पश्यं) आगे देखता हूं । (ईयमानं जिह्वया मा उपाराम) उस गतिमानको हम अपनी जिह्वासे धर्षित न करें ॥ १७ ॥

(श्यावाश्वं कृष्णं असितं मृणन्तं) अश्वयुक्त, आकर्षक, बन्धनरहित, सुखदायी (केशिनः भीमं रथं पादयन्तं) किरणोंवालोंके बडे भारी रथको भी परास्त करनेवाले (पूर्वे प्रतीमः) पहिले प्राप्त करते हैं और (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! (मत्यं देवहेतिं नः मा अभिस्राः) जानबूझकर फेंका हुआ देवोंका शस्त्र हमारे पास न आवे । (नः मा क्रुधः, ते नमः) हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो । (अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु) हमसे दूर दिव्य शाखाको फेंक ॥ १९ ॥

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः । मा त्वया समरामहि ॥ २० ॥
मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु । अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥ २१ ॥
यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥
यो३न्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन्देवपीयून् । तस्मै नमो दशभिः शक्करीभिः ॥ २३ ॥
तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥ २४ ॥
शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि ।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान्परि पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे ॥ २५ ॥
मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना । अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम् ॥ २६ ॥

अर्थ— (नः मा हिंसीः) हमारी हिंसा न कर, (नः अधि ब्रूहि) हमें उपदेश कर, (नः परिवृंग्धि) हमारी रक्षा कर, (मा क्रुधः) क्रोध न कर, (त्वया मा समरामहि) तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥

हे (उग्र) उग्रवीर ! (नः गोषु पुरुषेषु अजाविषु मा गृधः) हमारी गौवें, मनुष्य, भेड, बकरियोंके विषयमें लालच न कर । (अन्यत्र विवर्तय) दूसरे स्थानपर भयको लेजा । (पियारूणां प्रजां जहि) हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥ २१ ॥

(यस्य तक्मा कासिका हेतिः) जिसके हथियार, क्षयज्वर और खाँसी हैं, (वृषणः अश्वस्य क्रन्दः इव एकं एति) बलवान् घोडेके हिनहिनानेके समान निःसन्देह एक पुरुषपर जिनका हथियार जाता है, (अभि पूर्वं निर्णयते) जो पहिले ही निश्चय करता है, (अस्मै नमः अस्तु) इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

(यः अन्तरिक्षे विष्टभितः तिष्ठति) जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और (अयज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्) यज्ञ न करनेवाले देवोंके द्वेषकोंका नाश करता है, (तस्मै दशभिः शक्करीभिः नमः) उसको दश शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरण्याः वने हिताः पशवः मृगाः) अरण्यमें उत्पन्न, जंगलमें रहनेवाले मृग आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि तुभ्यं) हंस गरुड शकुनि और अन्य पक्षीगण ये सब तेरे ही हैं । हे पशुपते ! (तव यक्षं अप्सु अन्तः) तेरी पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है, (तुभ्यं वृधे दिव्याः आपः क्षरन्ति) तुझे बढानेके लिए दिव्य जल गिरते हैं ॥ २४ ॥

(शिंशुमाराः अजगराः पुरीकयाः) घडियाल, अजगर, कछुए, (जषाः मत्स्याः रजसा येभ्यः अस्यसि) मछलियां, जलजन्तु और मलिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र फेंकता है इनमेंसे (न ते दूरं, न ते परिष्ठाः) दूर कोई नहीं है, न कोई तेरेसे भिन्न स्थानपर है, तू तो (सर्वान् सद्यः परिपश्यसि) सबको एक ही बार देखता है और (पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे भूमिं हंसि) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक व्यापनेवाली सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! (तक्मना नः मा संस्राः) ज्वरसे हमें पीडा न हो, (विषेण मा) विषबाधा न हो, (दिव्येन अग्निना मा) दिव्य अग्निसे कष्ट न हों । (अस्मात् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय) हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व१न्तरिक्षम्। तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥२७॥
भव राजन्यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥
रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः। इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥
नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः। नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥

अर्थ— (भवः दिवः ईशे) भव द्युलोकका ईश्वर है, (भवः पृथिव्याः) भव पृथ्वीका स्वामी है। (भवः उरु अन्तरिक्षं आपप्रे) भव बडे अन्तरिक्षमें व्यापक है। वह (इतः यतमस्यां दिशि तस्मै नमः) यहांसे जिस दिशामें हो वहां हमारा नमस्कार उसके लिये है ॥ २७ ॥

हे (राजन् भव) उत्पादक देवराज ! (यजमानाय मृड) यजमानको सुखी कर, (पशूनां पशुपतिः हि बभूथ) तू पशुओंका स्वामी है। (यः श्रद् दधाति) जो श्रद्धा रखता है, (देवाः सन्ति इति) देवता है ऐसा मानता है (अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड) उसके द्विपाद और चतुष्पादोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

(नः महान्तं मा हिंसाः) हमारे बडोंकी हिंसा न कर, (नः अर्भकं मा) हमारे बालकोंकी हिंसा न कर, (नः वहन्तं मा) हमारे समर्थ पुरुषकी हिंसा न कर, (नः वक्ष्यतः मा) हमारे बलवान् बननेवालोंकी हिंसा न कर (नः पितरं मातरं च मा हिंसीः) हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र (नः स्वां तन्वं मा रीरिषः) हमारे शरीरोंको दुःखी न कर ॥ २९ ॥

(रुद्रस्य ऐलवकारेभ्यः असंसूक्तगिलेभ्यः) रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले, अस्पष्ट शब्द करनेवाले (महास्येभ्यः श्वभ्यः) बडे मुखवाले कुत्तोंको (इदं नमः अकरं) यह नमस्कार करता हूं ॥ ३० ॥

हे देव ! (ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः) तेरी बडा शब्दघोष करनेवाली, केश रखनेवाली, (नमस्कृताभ्यः संभुञ्जतीभ्यः) नमस्कारोंसे संस्कृत और उत्तम अन्न भोग करनेवाली (ते सेनाभ्यः नमः) तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, (नः स्वस्ति अभयं च) हमारा कल्याण हो और हमारे लिय निर्भयता हो ॥ ३१ ॥

रुद्र-देवता

भव और शर्वके सूक्तका आशय

यह सूक्त 'भव और शर्व' देवताका वर्णनपरक है। कोई यहां यह न समझे कि भव और शर्व ये देवता परस्पर भिन्न हैं। भवाशर्वौ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है, तथापि एक ही देवताके ये दो गुण हैं। सर्व विश्वमें व्यापनेवाला एक ही देवता है, वह सृष्टिकी उत्पत्ति करता है इसलिये उसका नाम 'भव' है और वह सबका संहार करता है इसलिये उसी देवताका नाम 'शर्व' है।

पुराणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एक ही रुद्रदेवके हैं, वही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्यत्र भी जहां जहां भव शर्व आदि नाम आये हैं वहां ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये। इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व पशुपति आदि शब्द आये हैं, जो उस एक ही परमेश्वरके वाचक हैं।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है। यहां सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एक ही देवताके दो देव माने जा सकते हैं तो अनेक गुणोंके कारण

एक ही ईश्वरके अनेक नाम भी संभव हैं। वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एक ही परमात्मापर अधिष्ठित है। एक ईश्वरके अनेक गुणोंके कारण अनेक देवता माने गये हैं।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व यहां कहा है, यह देवता अपना मारण, हिंसन अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करता है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें दी है— कुत्ते, गीदड, सियार, मक्खियां, कौवे, अस्त्र, शस्त्र, धनुष्य, बाण, विद्युत्, अग्नि, ज्वर, क्षय ये मारणसाधन हैं। मक्खियोंको रुद्रके मारक साधनोंसें रखा है, वह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें। मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है। अतः रोगोंसे बचनेके लिये चारों और स्वच्छता रखनी चाहिये जिससे मक्खियां न हों और मनुष्य रोगोंसे बचें। इसी तरह अन्यान्य मारणसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये। (मं. २ देखो)

आगे मंत्र ७ तक रुद्रके अंगप्रत्यंगोंको नमस्कार कहा है। यह एक मृत्यु देवताका उपासना प्रकार है। सातवें मंत्रमें रुद्रसे विरोध न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है। यही भाव आगेके कई मंत्रोंमें है (मा समरामहि) यही शब्द आगेके कई मंत्रोंमें बारबार आये हैं।

नवम मंत्रमें अनेकबार रुद्रके लिये नमन किया है। दशम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीन ही संपूर्ण विश्व है। इसी कथनसे विश्वनियामक देव ही मारकभावके मिषसे रुद्र नामसे यहां कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एक ही है।

आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवको नमन ही किया है। आगे तीन मंत्रोंमें मृत्यु दूर करनेकी प्रार्थना है।

तेईसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कहकर देवविरोधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है। यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है। आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारसे रहते हैं, वह देव सबको समदृष्टिसे देखता है और विघातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखने योग्य है।

सत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्का ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। यह मंत्र पढते ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता। आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त (देवाः सन्ति) दैवीशक्तियां इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा जो (यः श्रद्धाति) श्रद्धापूर्वक मानता है वही सुखी होता है, यह कथन विशेष महत्वका है। इस जगत्का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियां इस विश्वमें कार्य कर रही हैं।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है। इस प्रकार इस सूक्तका आशय है।

यज्ञ

कां. ७, सू. ९७

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – इन्द्राग्नी।)

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन्होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीमही॒ह ।
ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान्य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (चिकित्वन् होतः) ज्ञानी हवनकर्ता ! (यत् अद्य इह) जो आज यहां (अस्मिन् प्रयति यज्ञे) इस प्रयत्नपूर्वक करने योग्य यज्ञमें हम (त्वा अवृणीमहि) तुझको स्वीकार करते हैं। अतः हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! तू (ध्रुवं अयः) स्थिरतासे आ (उत ध्रुवं यज्ञं प्रविद्वान्) और स्थिरयज्ञको जाननेवाला तू (सोमं उप याहि) सोमके पास जा ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी होता गण ! तुम्हारा वरण मैंने इस यज्ञमें किया है, यह यज्ञ उत्तम विधिपूर्वक करो। स्थिरचित्तसे रहो और शान्तिसे यज्ञ समाप्त करो ॥ १ ॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥
यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥ ३ ॥
सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥
यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ ५ ॥
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (हरिवन् इन्द्र) किरणयुक्त तेजस्वी प्रभो ! (नः मनसा गोभिः सं) हमें मनपूर्वक गौओंसे युक्त कर, (सूरिभिः सं) विद्वानोंसे युक्त कर, (स्वस्त्या सं) कल्याणसे युक्त कर और (नेष) ले चल । (यत् देवहितं अस्ति) जो देवोंका हितकारी है उस (ब्रह्मणा सं) ज्ञानसे युक्त कर तथा (यज्ञियानां देवानां सुमतौ सं) पूजनीय देवोंकी उत्तम मतिमें हमें ले चल ॥ २ ॥

हे देव अग्ने ! (यान् उशतः देवान्) जिन अभिलाषा करनेवाले देवोंको (आ अवहः) यहां ले आया था (तान् स्वे सधस्थे प्रेरय) उनको अपने संघ स्थानमें प्रेरित कर । हे (वसवः) वसुदेवो ! (जक्षिवांसः) अन्न खाते हुए और (मधूनि पपिवांसः) मधुररस पीते हुए हमारे लिये (वसूनि धत्त) धनोंको प्रदान करो ॥ ३ ॥

हे (देवाः) देवो ! हम (वः सु-गा सदना अकर्म) तुम्हारे लिये उत्तम जाने योग्य घर बनाते हैं । (सवने मा जुषाणाः आजग्म) यज्ञमें मेरे दानको स्वीकार करते हुए तुम आये, अब (स्वा वसूनि वहमानाः वसुं भरमाणाः) अपने धनोंको धारण करते हुए और हमारे लिये धनका धारण करनेवाले तुम सब (घर्मं दिवं अनु आरोहत) प्रकाशमान् द्युलोकके ऊपर चढो ॥ ४ ॥

हे यज्ञ ! तू (यज्ञं गच्छ) यज्ञस्थानके प्रति प्राप्त हो, (यज्ञपतिं गच्छ) यजमानको प्राप्त हो । (स्वां योनिं गच्छ) अपने आश्रयस्थानको प्राप्त हो, (स्वा-हा) स्वकीय वस्तुका त्याग ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

हे (यज्ञपते) यज्ञकर्ता यजमान ! (एषः ते यज्ञः) यह तेरा यज्ञ (सह-सूक्त-वाकः) उत्तम सूक्त वचनोंसे युक्त होनेके कारण (सुवीर्यः) वीर्यवान् हुआ है, (स्वा-हा) स्वकीय अर्थका त्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे देव ! हमें गौवें दो, ज्ञानियोंकी संगति दो, हमारा सब प्रकार हित करो, जो हितकारी ज्ञान है वह मुझे दो, सब सज्जनोंका मन मेरे विषयमें उत्तम होवे ॥ २ ॥

अग्नि इस यज्ञमें सब देवोंको लाता और वापस पहुंचाता है । सब देव यहां आवें, अन्न खावें, सोमरस पीवें और हमें धन देवें ॥ ३ ॥

हे देवो ! यह यज्ञ मानो तुम्हारा घर ही है । इस सोमाभिषवमें आओ, साथ धन लेते आओ, वह धन हमें अर्पण करो और यज्ञसमाप्तिके बाद स्वर्गमें अपने स्थानमें जाओ ॥ ४ ॥

यज्ञ यज्ञस्थानमें और यजमानके पास ही होता है । स्वार्थका त्याग करना ही यज्ञ है ॥ ५ ॥

सूक्त और मंत्रकथनपूर्वक जो यज्ञ होता है वही वीर्यवान् होता है । स्वार्थत्याग ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

वषंड्ढुतेभ्यो वषडहुंतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥
मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ— यह (हुतेभ्यः वषट्) हवन करनेवालोंको अर्पित है और (अहुतेभ्यः वषट्) हवन न करनेवालोंके लिये भी अर्पित है । हे (देवाः) देवो ! तुम लोग (गातुविदः) मार्गोंको जाननेवाले हो (गातुं वित्त्वा गातुं इत) मार्गको जानकर मार्गसे ही जाओ ॥ ७ ॥

हे (मनसः-पते) मनके स्वामी ! (नः इमं यज्ञं दिवि देवेषु) हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें देवोंके मध्यमें (धां) स्थापित करो । (दिवि स्वा-हा) द्युलोकमें हमारा समर्पण हो (पृथिव्यां स्वाहा) पृथिवीमें हमारा यह समर्पण पहुंचे, और (अन्तरिक्षे स्वाहा) अन्तरिक्षमें तथा (वाते स्वाहा) वायुमें अथवा प्राणमें हमारा समर्पण पहुंचे ॥ ८ ॥

भावार्थ— समर्पण तो सबके लिये करना चाहिये, चाहे वे यज्ञ करनेवाले हों या न हों । मार्ग जाननेके पश्चात् उसी मार्गसे जाना उत्तम है ॥ ७ ॥

हे मनपर अधिकार रखनेवाले यजमान ! जो यज्ञ तुम करो उसे देवोंके लिये समर्पित करो, उसका समर्पण पृथ्वी, अन्तरिक्ष, और द्युलोकमें स्थित सबके लिये होवे ॥ ८ ॥

यह सूक्त यज्ञका महत्त्व वर्णन करता है ।

यज्ञ

कां. ५, सू. २६

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - वास्तोष्पतिः, मन्त्रोक्ताः ।)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्र विद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (वः यजूंषि समिधः) आपके लिये यजुर्वेद मंत्र और समिधाएं (युनक्तु स्वाहा) उपयोगमें लावें, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ १ ॥

(महिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयुजः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थमदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्तुतिस्तोत्रोंको प्रयुक्त करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रैषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आज्ञाएं और आत्मनिवेदन करनेकी रीतियां जाननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः इह वहत, स्वाहा) अपनी धर्मपत्नियोंके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ४ ॥

(माता इव पुत्रं) माता जैसे पुत्रको पूर्ण करती है, उसी प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत् देव (छंदांसि पिपृतः स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥
विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

अर्थ— (इयं अदितिः बर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिति देवी हवन सामग्री और शोधक साधनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ अगन् स्वाहा) यज्ञका विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

(सुयुजः विष्णुः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपाः नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भगः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (अस्मै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इसके लिये आशीर्वाद देवे। इस यज्ञमें मेरा आत्म समर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमाः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पयांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) जलोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (ब्रह्मणा वषट् कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान और दान द्वारा यज्ञको बढाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आवो। हे बृहस्पते! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ। (अयं यज्ञः यजमानाय स्वः) यह यज्ञ यजमानके लिये तेज बढानेवाला होवे। (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण

'स्वाहा' शब्दका अर्थ (स्व+आ+हा) 'अपना करके कहने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगत्की भलाईके लिये समर्पण करना' है। वास्तविक रीतिसे यज्ञमें यह आत्मशक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है। मानो, इसके विना कोई यज्ञ हो नहीं सकता। यज्ञमें आहुति देते समय 'स्वाहा न मम' (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है। इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें स्वाहा शब्दका पाठ इसीलिये किया है।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत्, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग सोम, अश्विनौ, बृहस्पति आदि सब देवता जगत्के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रहे हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रहे हैं यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्थकता यज्ञद्वारा करे। अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत् जीवन देते हैं, अदिति आधार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबकी रक्षा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबको भाग्यवान् बनाता है, सोम शांति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सब को ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगत्का यज्ञ सांग संपूर्ण करता है। ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते अपितु सब जगत्की भलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन, मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञजनताकी भलाईके लिये करें और इस आत्मसर्वस्व समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करें। इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सूक्तने दिया है।

यज्ञ

कांड ५, सूक्त १२

(ऋषिः – अंगिराः । देवता – जातवेदाः ।)

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥
तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥
आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

अर्थ – हे (जातवेदः) ज्ञान प्रकाशक देव ! (अद्य मनुषः दुरोणे समिद्धः देवः) आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ तू देव (देवान् यजसि) देवोंका यजन करता है। हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य देव ! तू (चिकित्वान् आवह च) ज्ञानवान् उसको यहां लेआ । (त्वं कविः प्रचेता दूतः असि) तू कवि और विशेष ज्ञानी दूत है ॥ १ ॥

हे (तनू-न-पात् सुजिह्व) शरीरको न गिरानेवाले और उत्तम जिह्वावाले देव ! (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जन् स्वदय) सत्यके चलने योग्य मार्गोंको मधुरतासे युक्त करता हुआ स्वादयुक्त कर। (धीभिः मन्मानि) बुद्धियोंसे मननीय विचारोंको (उत यज्ञं ऋन्धन्) और यज्ञको सिद्ध करता हुआ (देवत्रा नः अध्वरं च कृणुहि) देवोंके मध्यमें हमारा अहिंसामय कर्म पूर्ण कर ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च) हवन करनेवाला, स्तुति और वन्दन करनेके योग्य तू (सजोषाः वसुभिः आयाहि) प्रेमसे वसुओंके साथ आ । हे (यह्व) पूज्य ! (त्वं देवानां होता असि) तू देवोंका आह्वान करनेवाला है। (सः इषितः यजीयान् एनान् यक्षि) वह इष्ट और याजक तू इनका यजन कर ॥ ३ ॥

(अह्नां अग्रे) दिनके प्रथम भागमें (अस्याः पृथिव्याः प्रदिशा) इस पृथ्वीकी दिशासे (वस्तोः बर्हिः प्राचीनं आवृज्यते) आच्छादानके लिये तृणादि पूर्व दिशाके सामने फैलाया जाता है यह (स्योनं) सुखदायक आसन (वितरं वरीयः) विस्तृत और श्रेष्ठ (देवेभ्यः अदितये) देवोंके लिये तथा स्वतंत्रताके लिये (उ विप्रथते) फैलाया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ अग्निदेव देवोंके लिये यज्ञ करता है और उनको यहां लाता है। यह मित्रके समान पूज्य, ज्ञानी, कवि, उत्तम चित्तवाला देवोंका दूत है ॥ १ ॥

शरीरको न गिरानेवाला और मधुर भाषी देव सत्यको पहुंचानेवाले मार्गोंको माधुर्ययुक्त करता है। उत्तम मननीय विचारोंसे यज्ञको सिद्ध करके देवोंके बीचमें हमारा यज्ञ पहुंचता है ॥ २ ॥

उत्तम हवन करनेवाला, स्तुति योग्य और नमस्कारके योग्य तू देव वसुओंके साथ यहां इस यज्ञमें आ। तू देवोंको बुलानेवाला है। इसलिये तू याजकोंमें उत्तम याजक उन देवोंको यहां ले आ ॥ ३ ॥

प्रातःकाल इस पृथिवीको आच्छादित करनेके लिये पूर्वदिशाकी ओरसे फैलाते हैं। यह विस्तृत और उत्तम आसन सब देवोंके बैठनेके लिये सुखदायक है और यह स्वतंत्रताके लिये भी उत्तम है ॥ ४ ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥
दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥
य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

अर्थ— (शुम्भमानाः जनयः पतिभ्यः न) शोभायमान स्त्रियां जिस प्रकार पतियोंका आदर करती हैं उसी प्रकार (व्यचस्वतीः उर्विया) विस्तृत और महान् (बृहतीः विश्वं इन्वाः) विशाल और सबको प्राप्त करनेवाले (देवीः द्वारः) हे दिव्य द्वारो ! (देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत) देवोंके लिये सुखसे आने जाने योग्य होवो ॥ ५ ॥

(सुष्वयन्ती यजते उपाके) उत्तम चलनेवाली, यजनीय और समीपस्थित (दिव्ये योषणे) दिव्य और सेवनीय (बृहती सुरुक्मे) बडी सुन्दर (शुक्रपिशं श्रियं अधि दधाने) शुद्ध शोभाको धारण करनेवाली (उषा-सानक्ता योनौ नि आसदताम्) दिन और रात्री हमारे घरमें आवें ॥ ६ ॥

(प्रथमा सुवाचा दैव्या होतारा) पहिले, सुन्दर बोलनेवाले दोनों दिव्य होता (मनुषः यज्ञं यजध्यै मिमाना) मनुष्यके यज्ञमें यजन करनेके लिये निर्माण करनेवाले (विदथेषु प्रचोदयन्ता कारू) यज्ञोंमें प्रेरणा करनेवाले कर्मकर्ता (प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्तौ) प्राचीन ज्योतिको उसकी दिशासे बताते हैं ॥ ७ ॥

(भारती नः यज्ञं तूयं आ एतु) सबका भरण करनेवाली मातृभूमि हमारे यज्ञमें बलके साथ आवे । (इडा मनुष्वत् यज्ञं चेतन्ती इह) मातृभाषा मनुष्योंसे युक्त यज्ञको चेतना देती हुई यहां आवे । (सरस्वती सु-अपसः आसदन्तां) मातृसभ्यता उत्तम कर्म करनेवालोंके पास बैठे और ये (तिस्रः देवीः इदं स्योनं बर्हिः) तीनों देवियां इस उत्तम आसन आकर विराजें ॥ ८ ॥

(इमे जनित्री द्यावापृथिवी) इन उत्पन्न करनेवाली द्यु और पृथिवीको और (विश्वा भुवनानि रूपैः यः अपिंशत्) सब भुवनोंको विविध रूपोंसे रूपवान् जिसने बनाया है । हे (होतः) याजक ! (यजियान् इषितः विद्वान्) यज्ञ करनेवाला इष्ट विद्वान् तू (अद्य इह तं देवं त्वष्टारं यक्षि) आज यहां उस त्वष्टा देवके लिये यजन कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— स्त्रियां जिस प्रकार पतिको सुख देती हैं, उसी प्रकार ये हमारे दिव्य दरवाजे, जो विस्तृत बडे और सबको आने जानेके योग्य हैं, देवोंको सुखपूर्वक अन्दर लानेवाले हों ॥ ५ ॥

उत्तम गमन करने योग्य, एक दूसरेके साथ संबंधित, दिव्य और सुंदर प्रातःकाल और रात्रीका समय सुखपूर्वक हमारे घरमें बीते ॥ ६ ॥

ये सुंदर मंत्रगान करनेवाले दिव्य होतागण मनुष्योंका यह यज्ञ पूर्ण करनेके लिये पूर्वदिशाकी ज्योतिका संदेश देते हुए, सबको प्रेरणा करनेके लिये यहां आवें ॥ ७ ॥

उपाव सृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥
सद्यो जातो व्य् मिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

अर्थ — (त्मन्या समञ्जन्) स्वयं प्रकट होता हुआ तू (देवानां पाथः हवींषि ऋतुथा उप अवसृज) देवोंके लिये अन्न और हवन ऋतुके अनुसार दे । (वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः) वनस्पति, शान्तिकर्ता अग्निदेव (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर घृतके साथ हव्यका स्वाद लेवें ॥ १० ॥

(सद्यः जातः अग्निः यज्ञं वि अमिमीत) शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि यज्ञका निर्माण करता है । वह (देवानां पुरोगाः अभवत्) वह देवोंका अग्रगामी है । (अस्य ऋतस्य होतुः प्रशिषि वाचि) इस सत्य प्रवर्तक होताकी प्रकृष्ट शासनवाली वाणीमें (स्वाहाकृतं हविः देवाः अदन्तु) स्वाहाकार द्वारा दिया हुआ हव्य देव खावें ॥ ११ ॥

भावार्थ— हमारे इस यज्ञमें सबका पोषण करनेवाली मातृभूमि यज्ञकी प्रेरणा करनेवाली मातृभाषा और उत्तम कर्मकी प्ररणा करनेवाली प्रवाहसे प्राप्त मातृसभ्यता यहां आकर इस यज्ञमें विराजें ॥ ८ ॥

जो सब भूतोंको और द्यावापृथिवी को विविध रूप देता है, हमारा याजक उस त्वष्टा देवका यहां यजन करे ॥९॥

स्वयं यहां प्रकट होकर सब देवोंको ऋतुओंके अनुसार हवि और अन्न दे । वनस्पति, शमिता और अग्नि ये सब देव हमारी हवि और घृत मधुरता युक्त करें ॥ १० ॥

प्रज्वलित अग्नि यहां हमारे यज्ञको निर्माण करती है । यह देवोंकी अग्रणी है । इस होता अग्निकी वाणीमें अर्थात् मुखमें स्वाहाकारपूर्वक डाली हुई हवि सब देव खावें ॥ ११ ॥
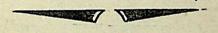
यज्ञ

यजमानकी इच्छा

यजमान अपने घरमें यज्ञयाग अथवा होमहवन करता है, उस समय उसके मनमें जो विचार होने चाहियें वे इस सूक्तमें बडे सुंदर वर्णनके साथ दिये हैं। घरमें धर्मकृत्य, धर्मका संस्कार करनेके समयमें ये ही विचार यजमानको मनमें धारण करने चाहिए—

‘ (१) यह मेरे घरमें प्रदीप्त किया हुआ यज्ञीय अग्नि निःसंदेह सब देवताओंका यजन करता है। वह निःसंदेह सब देवोंको यज्ञस्थानमें ले आता है, क्योंकि वह देवोंको बुलानेवाला और हवि उनको पहुंचानेवाला प्रत्यक्ष देवदूत ही है।

(२) यह उत्तम जिह्वावाला अग्निदेव सत्यता पहुंचानेवाले धर्ममार्गोंपर मीठे पाथेय देनेवाला है। यह यहां आता है उत्तम स्तोत्रोंके यज्ञ करता है और अहिंसामय कर्मोंको देवोंतक पहुंचा देता है ॥

(३) हे अग्ने ! पृथिव्यादि आठ वसु देवोंको तू यहां इस यज्ञमें ला। तू वंदनीय और प्रशंसनीय देव है। तू देवोंको यहां बुलानेवाला है, इसलिये देवोंको यहां बुलाकर उनके लिये यजन कर ।

(४) हमने प्रातःकालसे ही देवताओंके सुखपूर्वक बैठनेके लिये पूर्वदिशाके सन्मुख आसन फैलाकर रखे हैं। देव यहां आवें और सुखपूर्वक यहां विराजें ।

(५) हमारे घरके द्वार पूर्णतया खोलकर रखे हुए हैं, इनमेंसे देव सुखपूर्वक आवें और इस यज्ञमें मंगल करें ।

(६) सबेरेसे सायंकालतकका शोभन और तेजस्वी समय है, यह सब समय उत्तम आनन्दकारक रीतिसे हमारे घरमें बीते अर्थात् हमारे लिये यह समय सुख देनेवाला होवे ।

(७) दिव्य होतागण हमारे यज्ञमें आवें, मनुष्योंको बुलावें, उत्तम प्रकार यज्ञ कर्म करें और इस यज्ञसे प्रकाशका मार्ग सबको बतावें ।

*

(८) इस यज्ञसे सबका भरणपोषण करनेवाली मातृ-भूमिका सत्कार हो, यहां मातृभाषा सबको उत्तम प्रेरणा देवे, प्रवाहसे प्राप्त सभ्यता उत्तम कर्मकी प्रेरणा करे। इस प्रकार ये तीनों देवियां इस यज्ञमें आकर कार्य करें।

(९) ये द्यावापृथिवी हैं, इनके कारण ही सब स्थिर-चर पदार्थ रूपसे संपन्न हुए हैं। इनके बीचमें यह यज्ञ चल रहा है, अतः इस यज्ञमें सबको आकार देनेवाले त्वष्टा देवके लिये हवन अवश्य होवे।

(१०) यज्ञकी समिधाएं, अग्नि और हवन सामग्री घीसे युक्त होवे, हवन सामग्रीमें मीठा पदार्थ मिलाया जावे और ऋतुओंके अनुकूल देवोंके निमित्त हवन होता रहे।

(११) अग्नि प्रदीप्त होते ही यज्ञका प्रारंभ होता है और देव भी उस यज्ञस्थानमें आते हैं। इस अग्निमें स्वाहाकार पूर्वक किया हुआ हवन सब देव खाते हैं और तृप्त होते हुए हमारा कल्याण करते हैं।

इस प्रकार यजमान अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है। जिस यजमानके मनमें विश्वासपूर्वक ये बातें रहती हैं और जो सचमुच समझता है कि इस यज्ञकर्ममें सब देवताएं भाग लेती हैं और मनुष्यका कल्याण करती हैं, वही यजमान वैदिक कर्मोंसे अध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। अविश्वासीके उद्धारका कोई मार्ग नहीं है।

इस सूक्तके कथनानुसार पाठक स्वयं जान सकते हैं कि कैसी सामग्री होनी चाहिए यज्ञकी विधि जाननेके लिये भी। इस सूक्तके मननसे बहुत लाभ हो सकता है।

अग्निका नाम इस सूक्तमें ' तनू-न-पात् ' आया है। इसका अर्थ है ' शरीरको न गिरानेवाला ' अर्थात् शरीरको चलानेवाला। इस शरीरमें अग्नि शरीरको चलाता है, यह बात इस मंत्रमें स्पष्ट कही है। मृत मनुष्यका शरीर शीत हो जाता है और जीवित मनुष्यके शरीरमें उष्णता रहती है। इस प्रकार इस शरीरको चलानेवाला अग्नि है। आगे चलकर यही तनूनपात् शब्द आत्मका वाचक हो जाता है और आत्मा शरीरका चालक है यह बात सब जानते ही हैं।

जो यज्ञ अग्निमें किया जाता है उसका नाम अध्वर है, यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। अ-ध्वरका अर्थ ' अ-हिंसा ' है अथवा ' अ-कुटिलता ' भी है। अर्थात् यज्ञका अर्थ अहिंसा युक्त और कुटिलता रहित कर्म है। मनुष्यको इस प्रकारके ही कर्म करने चाहिये। परंतु कई मनुष्य यज्ञके नामसे हिंसामय कर्म करते हैं और आश्चर्यकी बात यह है कि वे उस हिंसाको ही अहिंसा मानते हैं। इससे ज्यादा अर्थका अनर्थ और क्या हो सकता है ?

यज्ञ

कांड ७, सूक्त ९८

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – मंत्रोक्ताः।)

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ— (घृतेन हविषा बर्हिः सं अक्तं) घी और हवनसामग्रीसे आहुति भरपूर हो, (इन्द्रेण, वसुना, मरुद्भिः सं अक्तं) इन्द्र, वसु, मरुत् इन देवोंके साथ (विश्वदेवेभिः देवैः सं) सब अन्य देवोंके साथ भरपूर हो। (हविः इन्द्रं गच्छतु) यह हवन सब देवोंके मुख्य प्रभुको पहुंचे। (स्वा-हा) यह आत्मसमर्पण ही है ॥ १ ॥

इस सूक्तका संबंध पूर्वसूक्तके साथ है। हवनसामग्री, घी आदि पदार्थ पूर्ण रीतिसे यथाविधि यज्ञमें समर्पण किये जावें। यह सब यज्ञ परमेश्वरको समर्पित हो ऐसी बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जावे। स्वार्थत्याग-अपनी वस्तुका समर्पण-करनेसे ही यज्ञ सिद्ध होता है।

यज्ञ

कांड ७, सूक्त ९९

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – वेदी ।)

परिं स्तृणीहि परिं धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् ।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदिं परिस्तृणीहि) वेदिको चारों ओर अच्छी प्रकार आच्छादित कर और (परि धेहि) उसको धारण कर। (अमुया शयानां जामिं मा मोषीः) इस यज्ञभूमिमें सोनेवाली इस हमारी बहिन अर्थात् यजमानकी धर्मपत्नीके साथ कपट मत कर। (होतृ–सदनं हरितं हिरण्ययं) यह हवनकर्ताका घर हरियालीसे युक्त और उत्तम-वर्ण युक्त है। (यजमानस्य लोके एते निष्काः) यजमानके स्थानपर ये सिक्के, सुनहरी मोहरें, या आभूषण हैं ॥१॥

वेदिके चारों ओर अत्यंत स्वच्छता रखनी चाहिये और सदा वह स्थिर रखनी चाहिये। किसी स्त्रीके साथ कपट या बुरा वर्ताव नहीं करना चाहिये। घरके साथ हरियाली युक्त उद्यान बनाकर उसको उत्तम अवस्थामें रखना चाहिये। घरको उत्तम स्वच्छ अवस्थामें रखना चाहिये। ये ही गृहस्थीके भूषण हैं।

अन्नका यज्ञ

कांड ४, सूक्त ३४

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – ब्रह्मौदनम् ।)

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥ १ ॥
अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका सिर ब्रह्म है। (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बडा क्षेत्र है और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर–मध्यभाग–उत्तम देवसंबंधी है। (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है। इसकी (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः अधिजातः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्–अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र और निर्मल बने हुए (शुचिं लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं। (जातवेदाः एषां शिश्नं न प्रदहति) अग्नि इनके सुखसाधनरूप इन्द्रियको नहीं जला पाता और (स्वर्गे लोके एषां बहु स्त्रैणं) स्वर्गलोकमें इनको बहुत सुख मिलता है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस अन्नका सिर ब्राह्मण, पीठ क्षत्रिय, मध्य भाग वैश्य [और शेष भाग शूद्र] है। छंद इसके दायें बायें भाग हैं, इसका मुख सत्य है। इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विदेही, शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं। सुख प्राप्त करनेके साधनभूत इसकी इंद्रियें अग्निसे नहीं जलतीं अतः उच्च लोकमें भी वह ये सुख प्राप्त कर सकता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥
विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥
एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥
घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ६ ॥

अर्थ— (ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अवर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती । जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (देवान् उपयाति) देवोंको प्राप्त होता है और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः संमदते) शान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (यमः एनान् रेतः न परिमुष्णाति) यम इनके वीर्यको कम नहीं करता । वह (रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गसे विचरता है और (पक्षी ह भूत्वा अति दिवः सं एति) पक्षीके समान होकर द्युलोकको पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एषः यज्ञानां वहिष्ठः विततः) यह सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है । इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिवं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर यजमान द्युलोकमें प्रविष्ट होता है । (श-कफः मुलाली) शान्तचित्त होकर मूलशक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं बिसं शालूकं) अण्डेके समान बढनेवाले, आनन्ददायक कमल कन्दके समान बढनेवालेको (सं तनोति) ठीक प्रकार फैलाता है । (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृतह्रदाः मधुकूलाः) घीके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं, उनको कभी कष्ट नहीं प्राप्त होते । वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और वहांका आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदान रूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वीर्य नहीं होते । वे इस लोकमें रथोंमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें द्युलोकके भी ऊपर पंहुचते हैं ॥ ४ ॥

यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, जो इसको करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं । वहां शान्तिसे युक्त होते हुए अन्तःशक्तिसे संपन्न होकर आनंद प्राप्त करते हैं । वहां सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति उनको प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥
इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ— (क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णान्) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि) चार घडोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूं (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(इमं विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु निदधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करनेवाला (सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे। (विश्वरूपाः कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— दूध, दही, जल और शहदसे पूर्ण भरे हुए चार घडे विद्वानोंको दान करनेसे उच्च लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती। अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका यज्ञ

अन्नका विष्टारी यज्ञ

' विष्टारी यज्ञ ' का वर्णन इस सूक्तमें किया है। ' विष्टारी ' शब्दका अर्थ है ' विस्तार करनेवाला ' अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत होता हैं। यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है। अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पकाकर तैयार किया हुआ हो अथवा धान्यके रूपमें हो अथवा जिससे धान्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इसका अर्थ एक ही है।

इस सूक्तमें ' पचन्ति ' क्रिया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अयोग्य नहीं होगा। सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं। ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं। दूध तपाया जा सकता है, परंतु शहद और दही पकानेकी वस्तु नहीं है। इसलिये इस विष्टारी यज्ञके लिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है। उत्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात विद्वानोंको खिलाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको धान्य समर्पण करना है और गौणपक्ष धान्य खरीदनेके धन आदि साधनको अर्पण करना है। जल, शहद, दूध, घी, मक्खन तथा खानपानके अन्यान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञका अंग है। जलदान करनेका अर्थ कुंआ खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवाली गौवें देना। शहद, घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं।

ब्राह्मणोंको दान

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणोंको देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु । (मं. ८)

' यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूं ' अर्थात् यह अन्न ब्राह्मणोंमें विभक्त करता हूं। किसी अन्यको नहीं देता है। ऐसा क्यों करना चाहिए इसका थोडासा विचार करना आवश्यक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमें से क्षत्रिय राजप्रबंधका कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इसलिये उनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। वैश्य कृषि और क्रयविक्रयादि व्यापार करता है तथा सूद भी प्राप्त करता है, इसलिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। शूद्र सब कारीगरी करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इसलिये उनके पास धन होता है, अतः काम धंदा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको भी दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। निषाद प्रायः जंगलमें रहते हैं, स्थायी गृहादि बनाकर नहीं रहते, वनमें जहां वन्य खाद्यपेय प्राप्त होता है, वहीं जाकर निवास करते हैं। इसलिये ये किसीके पास दान नहीं मांग सकते। शेष रहे ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमावें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है, जिससे क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इसलिये इसकी जन्मसिद्ध निर्धनता रहती है। दूसरे धन धान्य प्राप्त होनेपर ही इसकी वृत्ति चलेगी, अन्यथा भूखा ही रहना पडेगा, इसलिये ब्राह्मणको दान देना चाहिये। ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इसका सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय ?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दें इसका भी कारण ढूंढना चाहिये। इस सूक्तमें दानका जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेही होकर पवित्र लोकको प्राप्त करता है। (मं. २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है। (मं. ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसको मधुररसकी धाराएं प्राप्त होती हैं। (मं. ५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। स्वर्गमें क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्यको यहां ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इस विषयमें थोडीसी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोडासा स्वरूप कथन करते हैं—

मृत्युलोक

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं। स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुख दुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं। मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहांके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं।

स्वर्गलोक

(२) परलोक— दूसरा लोक। इसमें यह देह छोडनेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समावेश होता है। इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परन्तु इसमें थोडासा भेद है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकारके देह मनुष्यको प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत्में होता है। स्थूल देहसे सूक्ष्म जगत्में कार्य नहीं हो सकता परन्तु सूक्ष्म देहोंसे स्थूल जगत्में अंशरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहोंसे अर्थात् मरणके पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देहसे इस स्थूल जगत्में कार्य नहीं कर सकते। इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्थाकी ठीक कल्पना होनी चाहिये।

वासनादेह

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह ' वासना देह ' है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है। जो मनुष्य घात पात और हिंसा आदिकी अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसी प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनकी यह वासनादेह बडी मलिन होती है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं, शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनकी वासनादेह शुद्ध और पवित्र बनती है।

मृत्युसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हो जाए तो भी स्थूल देहके नाशसे यह ' वासनादेह ' नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नंतर भी और स्थूल देहके नष्ट हो जानेपर भी यह

जीव अपनी वासना देहसे अपनी वासनाएं करता रहता है। आमरणान्त हिंसकवृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा समवृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी शांतिसे पूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं। हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशांति और निर्भयताकी वासनाओंसे शांति होती है। वासना देहके कार्यक्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है। बुरी वासनाओंके प्रावल्यसे जो अशान्ति होती है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढता है अर्थात् शान्तिसुखका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है। मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जो कहते हैं उसका हेतु यही है। जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हीन वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्वलित करता है।

नरकके दुःख

कामी और क्रोधी पुरुष अपनी कुवासनाके अतृप्त रहनेसे कैसे तडपते रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अशुभ वासनाओंके भडक उठनेसे मृतात्माको कैसा तडपना पडता होगा, यही उसका नरक वास है। इस वासना देहकी बुरी वासनाओंका जाल जबतक चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता। क्योंकि उसके ये कष्ट स्वयं उसके अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं। जब वासनाएं उठ उठ कर उनका परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती हैं, तब उसका यह नरक वास समाप्त होता है।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना जब बन्द हो जाती हैं तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसकी वासना देह भी फट जाती है अर्थात् इसकी वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है। इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है। शुभ और अशुभ स्वप्नका अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे ही होता है। यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तरकी स्थितिकी कल्पना हो सकती है और अपनी वासनाओंकी शुभाशुभ अवस्थाका भी पता उसको लग सकता है, तथा

मरणोत्तर नरक प्राप्त होगा या स्वर्ग प्राप्त होगा, इसका भी ज्ञान हरएकको इससे हो सकता है। अपनी वासनाओंकी परीक्षासे यह समझना कठिन नहीं है।

कल्पवृक्ष और कामधेनु

जब पूर्वोक्त प्रकार वासनादेहकी मृत्यु हो जाती है तब मृतात्माका कारणदेह कार्य करने लगता है। यहां यदि उसके शुभ और सत्यप्रियताके विचार हुए तो उसको अपने संकल्पोंसे ही सुख और आनंद मिलता है। जो कल्पना होगी, वह मूर्तरूपमें इस समय उपस्थित होगी। यही कल्पवृक्षका स्थान है, या स्वर्गीय कामधेनु भी यही है। जो कल्पना उठेगी वह मूर्तरूप धारण करके इसके सन्मुख आ जायगी। शुभ मंगल कल्पनाओंसे सुख और अन्य कल्पनाओंसे दुःख होगा। कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य यदि 'व्याघ्रका हमला अपने ऊपर होनेकी कल्पना' करेगा तो उसकी कल्पनाके साथ ही व्याघ्रके हमलेसे वह उसी समय मर जायगा। इसमें कल्पवृक्षका कोई दोष नहीं है, अपितु कल्पना करने-वालेका ही दोष है। क्योंकि दूसरा मनुष्य सुमधुर फलभोज की कल्पना करके सुमधुर फलोंका आस्वाद भी लेगा। यह केवल कल्पनाके ही खेल हैं इस कारण देहकी अवस्थामें येही संकल्पोंके खेल होते हैं। यदि इसके शुभ संकल्प बने हों, तो इस समय उसके लिये ये शुभसंकल्प अत्यंत सुख दे सकते हैं। स्वर्गलोकमें घी, दूध, शहद, दहीकी मीठी नदियां प्राप्त होंगी और अन्यान्य सुख मिलेगा, ऐसा जो इस सूक्तमें कहा है, वह सुख इस प्रकार उसके शुभ विचारोंके कारण ही उसको प्राप्त होगा। शहदकी कल्पना होते ही वह उसको प्राप्त होगा और इसी प्रकार अन्य सुख भी इसको मिलेंगे। मंत्र ५ से ८ तक जो स्वर्ग सुखका वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है। अष्टम मंत्रमें—

विश्वारूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु। (मं. ८)

'विश्वरूपी कामनापूर्ण करनेवाली कामधेनु मुझे स्वर्गमें मिले' ऐसा जो कहा है, यह कामधेनु इसी समय इस रीतिसे प्राप्त होती है। इस स्वर्गलोकके संकल्पके प्रभावका वर्णन इस प्रकार है—

संकल्पसिद्धि

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति... ॥ ७ ॥
अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति... ॥ ८ ॥
अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति... ॥ ९ ॥

यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव
समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥
(छां. ८।२।७-१०)

' अन्नपान, गानाबजाना, स्त्रीसुख आदि जिसकी कामना वह इस समय करता है, उसके संकल्पसे ही उसको उन सब सुखोंकी प्राप्ति होती है । ' यह छांदोग्य उपनिषद्में कहा हुआ वर्णन इस सूक्तके वर्णनके साथ पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि दोनों वर्णन समान ही भाव व्यक्त कर रहे हैं।

स्वर्गमें शहद, दही, दूध, घी, शुद्धोदक आदिकी नहरें हैं, यह बात वस्तुतः नहीं है। परंतु शहदकी कल्पना उठनेसे जितना चाहे बडा शहदका तालाव या स्रोत उसको प्राप्त हो सकता है और उसके सेवन करनेका आनंद उसको केवल संकल्पके प्रभावसे ही मिल सकता है।

इस सूक्तमें ' स्वर्गलोकमें बहुत (बहु स्त्रैणं) स्त्रीसुख (मं. २); मीठे रसकी धाराएं (मधुमत् पिन्वमानाः धाराः मं. ५-७); (घृतन्हृदाः) घीके तालाब, (मधुकूलाः) शहदकी नदियां, (क्षीरेण दध्ना पूर्णाः) दूध और दहीसे भरे हौज (मं. ८) ' इत्यादि जो वर्णन है वह पूर्वोक्त रीतिसे अनुभवमें आनेवाला है, यह पाठक स्मरणमें रखें । ' कारण ' शरीरकी यह अवस्था है जहां संकल्पकी सिद्धि होती है।

कुराणमें बहिश्त

कुराण शरीफमें जो ' बहिश्त ' की कल्पना है और उस बहिश्तमें पानीके स्रोत बहने और शहदकी नदियां होनेका जो वर्णन है वह इस सूक्तके वर्णनसे मिलता जुलता है इस सूक्तके पंचम मंत्रमें ' वहिष्ठः ' शब्द है जो स्वर्गदायक यज्ञका वाचक है और साथ साथ स्वर्गका भी दूरतः वाचक है, उसीका रूपान्तर कुराणशरीफका ' बहिश्त ' है। नदियां और स्रोत दोनों स्थानपर समान हैं। परन्तु वेदादि ग्रंथोंमें जो स्वर्गकी कल्पना विशदकी है और ऊपर बताये छांदोग्योपनिषद्में जो कल्पना स्पष्ट कर दी है, इस प्रकार कुराणशरीफमें नहीं की है, इसलिये उस ग्रंथके माननेवालोंको प्रतीत होता है, कि यहां सचमुच शहदकी नदियां हैं। परंतु वैदिकधर्मके ग्रंथोंमें स्वर्गकी स्पष्ट कल्पना बता दी है, इसलिये हमें पता है कि वहां संकल्पके बलके कारण उक्त अनुभव आते हैं और वहांके अनुभव उस ' कारण ' शरीरकी अवस्थामें निःसंदेह सत्य हैं। अन्य धर्म ग्रंथोंके वचनोंका वेदके वचनोंके साथ इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिसे विचार किया जायगा, तो उनके संदिग्ध वचनोंका ठीक अर्थ ध्यानमें आ जायगा और धर्मवचनोंका ठीक ठीक अर्थ सबको विदित होगा।

मनो-रथ

इस प्रकार स्वर्गकी पुष्करिणी और कामधेनु क्या है उसका तात्पर्य क्या और उसका अनुभव किस समय कैसा होता है इस बातका विचार हुआ। स्वर्गधामका अनुभव ' कारण ' शरीरमें पूर्वोक्त प्रकार होता है। इसको ' मनोदेह ' अथवा ' मनोरथ ' अर्थात् मनरूपी रथ भी कह सकते हैं। इसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें इस प्रकार है—

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते । (मं. ४)

' यह रथमें बैठता है और महारथी बनकर चलता है। ' यह उसका ' मनो-रथ ' ही है। मनके संकल्पके रथमें बैठता है और जिस सुखको चाहे केवल संकल्पसे ही प्राप्त करता है। अशुभ संकल्प हों तो ये ही संकल्प राक्षस बनकर इस समय इसके पीछे पडते हैं और अनेक भयंकर दृश्योंका अनुभव यह उस समय करता है। डरसे व्याकुल होता है।

शुभसंकल्पोंको मनमें स्थिर करनेसे जो लाभ होते हैं उनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

नैषां शिस्नं प्रदहति जातवेदाः । (मं. २)
नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः । (मं. ४)

' अग्नि शुभसंकल्पधारी मनुष्यका शिस्न जलाता नहीं, और यम उसका वीर्य कम नहीं करता। ' अर्थात् जो अशुभ विचारोंका सतत चिन्तन करते रहते हैं उनका शिस्न अग्नि जलाता है और यम उनको निर्वीर्य बना देता है। इन अशुभ विचारोंके कारण वह मनुष्य इन्द्रिय शक्तियोंसे हीन होता है और क्षीणवीर्य भी बनता है। इस जगत्में भी यह अनुभव पाठकोंको मिल सकता है। जो दुराचारी होते हैं और दुष्ट विचारोंसे अपने मनको कलंकित करते हैं, वे यहीं ही निर्वीर्य और निस्तेज होते हैं। मृत्युके पश्चात् वासना-देहमें जिस समय उसकी वासनाएं भडक उठतीं हैं उस समय उसके दग्ध हो जानेके कष्ट कल्पनासे ही पाठक जान सकते हैं। विषयवासनाओंकी ज्वालाएं उठ उठ कर उसको प्रतिक्षण जला देती हैं और उस समय उसकी जलन असह्य हो जाती है। यह तो अनियमसे बर्ताव करनेवालोंकी अवस्था है। धर्मनियमोंसे चलनेवालोंकी अवस्था भी देखिये—

यमोंका पालन

(यः) यमे आस्ते (स) उपयाति देवान् । (मं. ३)

' यो यममें रहता है वह देवोंको प्राप्त होता है ' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमोंको जो अपने आचरणमें लाता है, वह स्वर्गनिवासी देव ही बन जाता है। शुभ विचार उसके मनमें स्थिर रहनेके कारण मरनेके पश्चात् दुष्ट वासनाओंके कष्ट उसको होते ही नहीं, अतः वह सीधा स्वर्गधाममें कल्पवृक्षोंके वनमें कामधेनुओंका दूध पीता हुआ और अमृत रसधाराओंका मधुर आस्वाद लेता हुआ पूर्वोक्त प्रकार आनंदमें रमता और विचरता है। वह शुभ संकल्पोंसे शुद्ध पवित्र और मलहीन होकर परिशुद्ध अवस्थामें विचरता है (मं. २)। मनुष्योंको प्रयत्न करके ऐसी अपनी मनोभूमिका बनाना आवश्यक है। यह सब उन्नति यज्ञसे ही होती है। और इसी कार्यके लिये इस ' विष्टारी यज्ञ ' की रचना है।

ब्राह्मणका घर

इस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्नदान किया जाता है। यहां प्रश्न होता है कि यह अन्नदान ब्राह्मणोंको ही क्यों होता है और इसका बडा विस्तृत फल क्यों होता है। ब्राह्मणकी कल्पना केवल एक गृहस्थ मात्रकी कल्पना नहीं है। हरएक ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन करनेवाला होनेके कारण हरएक सच्चे ब्राह्मणका घर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय होता है, इसलिये जो दान ऐसे ब्राह्मणको दिया जाता है वह विश्वविद्यालयको ही दिया जाता है। थोडेसे विद्यार्थियोंको पढानेवाला ब्राह्मण अध्यापक कहलाता है, सैंकडों विद्यार्थियोंको विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण आचार्य पदवीके लिये योग्य होता है और हजारों विद्यार्थियोंको विद्या देनेवाले ब्राह्मणको कुलपति कहते हैं। अर्थात् इस एकके नीचे विद्यार्थियोंकी संख्याके अनुसार सैंकडों अध्यापक होते हैं। अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ है गुरुकुल, विद्यालय और विश्वविद्यालयका आचार्य और भट्टाचार्य। इसको दान देनेसे वह दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात् परम्परासे वह दान राष्ट्रके हरएक घरतक पहुंचता है।

गुरु-कुल

राष्ट्रके विद्यार्थी-प्रायः त्रैवर्णियोंके विद्यार्थी अथवा समय समय पर पंच-वर्णियोंके भी विद्यार्थी-ब्राह्मणोंके घरोंमें रहकर विद्याभ्यास करते थे। कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि जो अध्यापन न करता था। एक एक कुलपतिके आश्रममें दस हजारसे साठ साथ हजारतक विद्यार्थी पढते थे। और प्रायः ब्राह्मणोंके घर ' गुरु-कुल ' ही हुआ करते थे। पाठक यह अवस्था अपने आंखके सामने लावेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जनतामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएकके पास किस रीतिसे जाकर पहुंचता है।

दानकी रीति

ऐसे ब्राह्मणोंके आश्रमोंकी भूमिमें कुंवे खुदवाकर जल दान करना, बहुत दूध देनेवाली गौवें उनको देकर दूध-देना, शहद, मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदिका दान करना गेहूं, चावल आदि धान्य देना अथवा धान्यकी जहां अच्छी, उपज होती है ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रममें अन्न ले जाकर वहां पकाकर वहांके आश्रमवासियोंको खिलाना, अथवा लड्डू आदि पदार्थ बनाकर वहां भेजना, किंवा अन्य रीतिसे अन्नदान करना यह विष्टारी यज्ञकी रीति है। यह बडा उपकारी यज्ञ है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदिका सुख प्राप्त हो सकता है।

शुभभावनाकी स्थिरता

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है, तब उसके मनमें शुभ भावना होती है। वारंवार इस प्रकारका दान करनेसे वह शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है। दान करनेसे मनकी प्रसन्नता भी बढ जाती है। स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है। और वारंवार दान देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाती है। इस रीतिसे यह विष्टारी यज्ञ मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है। येही शुभ संस्कार उसके मनको जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखनेके लिये सहाय्यक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता देते हैं। इस रीतिसे यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है।

यज्ञका सत्य फल

कां. ६, सू. ११४

(ऋषिः – ब्रह्मा । देवता – विश्वेदेवाः ।)

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् । आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः । यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥
मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः । अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवासः) देवो ! (वयं देवासः यत् देवहेडनं चकृम) हम स्वयं दैवीशक्तिसे युक्त होते हुए भी जो देवोंका अनादर करते हैं, हे (आदित्यः) आदित्यो ! (यूयं तस्मात् नः ऋतस्य ऋतेन मुञ्चत) तुम सब उससे हमें यज्ञके सत्य द्वारा छुडाओ ॥ १ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो ! हे (यजत्राः) याजको ! हे (यज्ञवाहसः) यज्ञ चलानेवालो ! (यत् यज्ञं शिक्षन्तः न उपशेकिम) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करते हुए उसको यथावत् न कर सकें, तो (नः ऋतस्य ऋतेन इह मुञ्चत) हमें यज्ञके सत्य द्वारा यहां मुक्त करो ॥ २ ॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवो ! (वः शिक्षन्तः अकामाः न उपशेकिम) आपसे शिक्षा प्राप्त करते हुए हम विफल होकर यदि उसे पूर्ण न कर सकें, तो भी (मेदस्वता स्रुचा आज्यानि जुह्वतः) घृतयुक्त चमससे घीका हवन करते हुए हम (यजमानाः) यजमान तो हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवोंके संबन्धमें जो तिरस्कार कभी कभी हमसे होता हो, तो उस पापसे हम यज्ञके सत्य फलके द्वारा मुक्त हों ॥ १ ॥

हम अपनी ओरसे सांग यज्ञकी तैयारी करते हैं तथापि उसमें जो त्रुटि होती हो तो उस पापसे हम यज्ञके सत्यफल-द्वारा मुक्त हों ॥ २ ॥

उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेपर भी जो दोष हमसे होता है उसके निवारणके लिए यज्ञमें जो घृतकी आहुतियां हम देते हैं, इस प्रकार और हम एक उत्तम यज्ञकर्ता बनें ॥ ३ ॥

मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी अनेक दोष उससे होते हैं, सत्ययज्ञसे ही वे दोष दूर हो सकते हैं । यज्ञ करनेका भाव है कि जनताकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना । यह यज्ञ सब दोषोंको दूर कर सकता है ।

यज्ञसे उन्नति

कां. ६, सू. ५

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – इन्द्राग्नी ।)

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत । समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (घृतेन आहुत अग्ने) घीसे आहुति पाये हुए अग्ने ! (एनं उत्तरं उन्नय) इस मनुष्यको अधिक ऊंचा उठा । (एनं वर्चसा संसृज) इसको तेजसे संयुक्त कर । (च प्रजया बहुं कृधि) और प्रजासे समृद्ध कर ॥ १ ॥

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद्वशी । रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥
यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम् । तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (इमं प्रतरं कृधि) इस मनुष्यको ऊंचा कर । यह (सजातानां वशी असत्) यह मनुष्य स्वजातिके पुरुषोंके बीच सबको वशमें करनेवाला होवे । (रायस्पोषेण संसृज) इसको धन और पुष्टि उत्तम प्रकार प्राप्त हो और (जीवातवे जरसे नय) दीर्घजीवनके लिये बुढापेतक सुखपूर्वक लेजा ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं, (त्वं तं वर्धय) तू उसको बढा; (सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः) सोम और यह ब्रह्मणस्पति (तस्मै अधि ब्रवत्) उसको आशीर्वाद देवे ॥ ३ ॥

हवनसे आरोग्य

जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है और सब प्रकारकी उन्नति होती है । इसके विषयमें देखिये—

१ एनं उत्तरं— जिसके घरमें हवन होता है वह (उत्+तरः) अधिक उच्च बनता है, पूर्वकी अपेक्षा अधिक उन्नत होता है ।

२ वर्चसा सं— जिसके घरमें हवन होता है वह तेजस्वी होता है ।

३ प्रजया बहुः— जिसके घरमें हवन होता है उसकी उत्तम संतानें होती हैं ।

४ इमं प्रतरं— जिसके घरमें हवन होता है, वह अधिक ऊंचा बनता है । हरएक प्रकारसे श्रेष्ठ होता जाता है ।

५ सजातानां वशी— जो प्रतिदिन हवन करता है, स्वजातियोंको अपने आधीन करनेवाला होता है ।

६ रायस्पोषेण सं— उसका धन बढता है और पुष्टि भी बढती है । वह हृष्टपुष्ट होता है ।

७ जीवातवे जरसे नय— उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है ।

अर्थात् जिसके घरमें हवन होता है उसकी हरएक प्रकारसे उन्नति होती है । प्रतिदिन उसको सुख और सौभाग्य प्राप्त होता है । इसलिये प्रतिदिन हवन करना लाभकारी है । हवनसे आरोग्य, बल, दीर्घआयु प्राप्त होकर; धन, यश और अन्य सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस भी प्राप्त होता है ।

यज्ञमें आत्मसमर्पण

कां. २, सू. ३५

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — विश्वकर्मा ।)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥

अर्थ— (ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) अच्छी बातोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (यान् धिष्ण्या अग्नयः) जिनके संबंधमें बुद्धिकी अग्नियां (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करती हैं, (तेषां या अवया दुरिष्टिः) उनकी जो अवनतिकारक सदोष इष्टिकी पद्धति है, (विश्वकर्मा तां नः सु+इष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो अन्न खाते हुए भी श्रेष्ठ कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनकी बुद्धियोंके अंदर रहनेवाली अग्नियां भी बडा पश्चात्ताप करती हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जांय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्यस्मान् ॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें अनुताप करनेवाले (यज्ञपतिं ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पतिको ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं । (यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध) जिन मथने योग्य रसभागोंको तैय्यार किया गया है ! (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु) विश्वकी रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥

(सोमपान् अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ-करनेवालोंको दानके अयोग्य समझनेवाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञका ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है (एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रचयिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कल्याणके लिये मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं) क्योंकि इनकी आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे (महिष विश्वकर्मन्) बलवान् और विश्वके रचयिता ! (बृहस्पतये द्युमत् नमः) ज्ञानपतिके लिये व्यक्त नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः प्रभृति मुखं च) जो यज्ञकी आंख भरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी, कान और मनसे मैं अर्पित करता हूं । (सुमनस्यमानाः देवाः) उत्तम मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु) विश्वके कर्ता द्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आवें ॥ ५ ॥

भावार्थ— दुःखी प्रजाजनोंके संबंधके हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप समझते हैं, जो सोमका मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाये ॥ २ ॥

जो यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंको दानके लिये अयोग्य समझता है, न उसके द्वारा यज्ञका तत्व समझा हुआ होता है और न वह समयपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥ ३ ॥

ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है । उस ज्ञानीके लिये हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान् विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिये हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥

मैं अपनी वाणी, कान और मनसे यज्ञके चक्षु, पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण

अयाजकोंकी निन्दा

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निंदा की है कि— " जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे सत्कर्मोंको करनेकी रुचि नहीं रखते, अन्य सत्कर्म भी नहीं करते, सद्भावना भी नहीं फैलाते " (मं० १) उन्हें सद्गति कैसे प्राप्त होगी ? मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारकी अग्नियां हैं, वे सत्कर्म, सद्भावना और सद्विचारके अभावके कारण, पश्चात्ताप करती हैं। क्योंकि दुष्ट मार्गमें मनुष्यके सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि शक्तियोंका विकास नहीं होता। " धिषणा " शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला " धिष्ण्यः अग्निः " है। हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है। ऐसा मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और यह सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो (मं० १)। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु " जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिये पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व समझा हुआ होता है और न उसको समयका महत्त्व ही यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें वह जो कुछ कर्म करता है उससे पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्मा ही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्ग पर चलावे। (मंत्र० ३) "

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दाकी है।

याजकोंकी प्रशंसा

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसाकी है। " जो दीन और दुःखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे। " (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है— " ऋषि बडे तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, ऐसे इन ऋषियोंके लिये नमस्कार है। " (मं० ४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋषयः) ऋषियोंके लिये ' घोर ' यह विशेषण आया है। इसका अर्थ ' उच्च (Sublime) श्रेष्ठ, उन्नत ' ऐसा होता है। ऋषियोंके उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह कहा है कि " उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है। " वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परन्तु यहां हमें बोध मिलता है कि " जिसके मनमें और आंखमें ओतप्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा; " उच्च होनेका यह उपाय है। सत्यका पालन करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ताकी पूजा

इस सूक्तका देवता ' विश्वकर्मा ' है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। ' इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रशस्ततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है। ' (मं० ५) इस प्रभुने आत्मसमर्पण करके सम्पूर्ण जीवोंकी भलाईके लिये विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यज्ञ करना प्रारंभ किया। इसलिये ऐसे ' विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे। ' (मं. ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्यमात्रके लिये योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यको कहता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि। (मं. ५)

' वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूं। ' यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेकी तैय्यारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करनेके समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

कालका यज्ञ

कांड ३, सूक्त १०

(ऋषि- अथर्वा । देवता- एकाष्टका ।)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे । सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥
संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्रथमा ह वि+उवास) पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई । (सा यमे धेनुः अभवत्) वह नियममें धेनु जैसी हुई । (सा पयस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्रीरूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं । (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

हे (रात्रि) रात्री ! (यां त्वां) जिस तुझको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपास्महे) हम सब भजते हैं, (सा नः आयुष्मतीं प्रजां) वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

(इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छत्) जो पहले प्रगट हुई और जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं । (नव-गत् वधूः जनित्री जगाय) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं । हे (एकाष्टके) एक अष्टका ! (वयं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (रयीणां पतयः स्याम) धनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ— पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है । जो सुनियमोंका पालन करता है, उसके लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है । इसलिये यह वेला भविष्यमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्रीरूपी कामधेनुको देखकर देव आनंदित होते हैं । यह संवत्सरकी पत्नीरूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने ॥ २ ॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इसलिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥ ३ ॥

यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है । इस वेलामें अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। यह वेला उसी प्रकार विजय करती है, जिस प्रकार नवीन कुलवधू प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥ ४ ॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनानेवाले-सोमरस निकालनेवाले पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं। हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥ ५ ॥

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
आ मा पुष्टे च पोषे च देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत । सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥
आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥
ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् । समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥
ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः । धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

अर्थ—हे (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि! (इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौके घीसे युक्त स्रवनेवाले स्थानके प्रति (हव्या गृभाय) हव्यको ग्रहण कर। (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (रात्री) रात्री! (पुष्टे च पोषे च मा आभर) पुष्टि और पोषणके बीचमें मुझको भर दे। हम (देवानां सुमतौ स्याम) देवोंकी सुमतिमें रहें। हे (दर्वे) चमस! तू (पूर्णा परा पत) पूर्ण भरी हुई दूर जा और (सुपूर्णा पुनः आपत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ। (सर्वान् संभुञ्जन्ती) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई (नः इषं उर्जं आभर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

हे (एकाष्टके) एकाष्टके! (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आ अगन्) आया है। (सा) वह तू (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

(मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतुसंबंधी ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अयनवर्ष समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (धात्रे, विधात्रे, समृधे) धाता, विधाता तथा समृद्धिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ — हे जातवेद! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमेंसे गौका घी चू रहा है ऐसा घीसे पूर्ण भीगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्राम्य सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

हे रात्री! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे। देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे। हे चमस! तू घीसे पूर्ण हो कर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ और वहांकी दैवीशक्तिसे पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

हे एकाष्टके! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बाल बच्चोंके लिये दीर्घ आयुष्य धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञके लिये अर्पित करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु (शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन) काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके काल विभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥ १० ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे । गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥
इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः । कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

अर्थ— (इडया घृतवता जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं। (अलुभ्यतः गोमतः गृहान्) जिसमें न्यूनता नहीं हैं, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (वयं उप सं विशेम) हम प्रवेश करें ॥ ११ ॥

(एकाष्टका तपसा तप्यमाना) इस एक अष्टकाने तपसे तपते हुए (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बडी महिमावाले इन्द्ररूपी गर्भको प्रकट किया। (तेन देवाः शत्रून् वि-असहन्त) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया। (दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली इन्द्र प्रकट हुआ है ॥ १२ ॥

हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापतेः दुहिता असि । तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णीष्व) हमारी हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूरय) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— गौके घीसे देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं। हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवें सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभावशाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १२ ॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली ! और हे सोमको जन्म देनेवाली अष्टके ! तू प्रजापतिकी दुहिता है। इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसको स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कालका यज्ञ

कामधेनु

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है। यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे । (मं० १)

' पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है। ' उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापनका प्रारंभ होता है। यह बेला ' यम ' के लिये ही दूध देनेवाली गोमाता बनती है। यह यम कौन है ? यम यह है—

यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन)

" अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। " ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ ' शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं। ' इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला ' यम ' कहलाता है। नियमसे चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्यके लिये यह ' समय ' कामधेनु बनता है। परंतु अनियमसे व्यवहार करनेवालेके लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
(मं० १)

'वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तरकी आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे।' यह हरएककी इच्छा स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये। परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं। इसलिये हरएककी इच्छा होते हुए भी बहुतसे मनुष्योंके लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यम नियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है। पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है।

सब यह जानते हैं कि उषासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है। रात्री तो प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये 'नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना' इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं। रात्रीको सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड कर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है, उसीका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है।

एक पूर्ण दिनमें 'दिन और रात' ये दो विभाग हैं। इतने समय आठ प्रहर होते हैं। आठ प्रहरोंका नाम 'अष्टक अथवा अष्टका' है, एक पूरे दिनकी यह 'एकाष्टका' है अर्थात् आठ प्रहरोंका समय है! दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम 'एकाष्टका' है, यही इस सूक्तका देवता है। दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसे करना चाहिए यह बताना ही इस सूक्तका उद्देश्य है। प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहे तो सब आयुका उत्तम उपयोग हो सकता है सब आयुके यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है।

अंधकारमयी रात्री

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं। रात्रीमें अंधकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अंधकारपूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है—

'देव भयदायिनी अंधकारमयी रात्रीका आनंदसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सरकी पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं० २)। इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु, प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं० ३)। यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है। इस रात्रीमें बडी महिमाएं हैं, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधूके समान यशस्विनी रात्री है (४)।'

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है। इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है। जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशका सूचक बताता है। सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोण है। पाठक इसी दृष्टिकोणसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें। जैसे दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है। इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये। यही वेदको अभीष्ट है।

संवत्सरकी प्रतिमा

तृतीयमंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है। संवत्सर वर्षका नाम है। वर्ष बडे आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है। प्रतिमाका अर्थ 'प्रति+मान' है अर्थात् मापनेका साधन। दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, दिनसे ही वर्ष मापा जाता है। यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है। संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है। वार्षिक कालका विशालरूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है। यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली। (मं० २)
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज। (मं० ३)
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः। (मं० ४)

'यह रात्री हमें मंगलमयी होवे। यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे। इस रात्रीकी बडी महिमा है।' यह रात्रीका वर्णन निःसंदेह सत्य है, रात्री सचमुच सुमंगली है। इसी रात्रीमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएकको है। 'जो रात्रीमें रतिक्रीडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। (प्रश्न. उ. १।१३)'

यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियमपालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं। इससे उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है। इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं हैं और इस कारण रात्री बडी उपकारक है। कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्रीभयदायक है, यह ठीक है पर उसी कारण तो आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्योंमें उत्पन्न होती है और उससे धैर्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण बढते हैं। इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं।

हवन

आगे पंचम मंत्रमें पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन है। षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारकी हवि घीसे पूर्णतया भिगो कर, घी चुआते हुए हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहियें इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है। घीके अंदर हवाके दोषको दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट ही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करनी चाहिये। षष्ठ मंत्रके ' उत्तरार्धमें ग्रामीण सप्त पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें ' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रमका स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय, बैल, घोडे, घोडियां, भेड, बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है। ' आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालेकी तेजस्विता बढावे। '

पूर्णा दर्वे परापत, सुपूर्णा पुनरापत। (मं० ७)

' चमस पूर्णभर कर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भरकर वापस आवे। ' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुति दे देवे, दान देनेके समय कंजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। ' यज्ञ ' का ' दान और आदान ' इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। ' जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना ' यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समान ही है इस लिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंके यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश है। (१) मास= महिना। (२) ऋतु= दो मासका समय। (३) आर्तव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल। (४) अयन= तीन ऋतुओंका समय वर्षके अयन होते हैं दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम ' हायन ' होता है। (५) समाः– तीस दिनोंका एक मास ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष ' समा ' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्यावाले होते हैं। (६) संवत्सर– सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं और मासोंके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है। उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है।]

इस प्रकारका ' जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंके पालन करनेवाले परमात्माके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नाम ही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंको दण्डित करना है। यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना ' आत्मयज्ञ ' करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उप-

देश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

यज्ञका कार्य

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह (धात्रे, विधात्रे, समृद्धे, भूतस्य पतये। मं. ९-१०) धारक, निर्माता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंको धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुख साधनका निर्माण करता है, (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते हैं।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञका ही वर्णन करते हुए कहा है, कि–

अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संविशेम। (मं. ११)

'लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करें।' अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमें व्यवहार करें अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा हो कि वहां किसीकी लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं हो। जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसा होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शत्रुनाशक इन्द्र

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है। एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है। जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं। यह वेला बडी महिमाएं अपने अंदर रखती है इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसीका पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है। (मं. १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी देवने कहा है। रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोम भी कहते हैं। ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बताते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोधप्रद है।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवे। कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे। माताएं अपने संतानोंको इस प्रकारकी शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करें।

यह इसकी महिमा जान कर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने।

सविता और वायु

कां. ४, सू. २५

(ऋषिः– मृगारः। देवता– सविता, वायुः।)

वायोः॑ सवि॒तुर्वि॒दथा॑नि मन्महे॒ यावा॑त्म॒न्वद्वि॑श॒थो यौ च॒ रक्ष॑थः।
यौ विश्व॑स्य परि॒भू ब॑भू॒वथु॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ १ ॥

अर्थ— (वायोः सवितुः) वायु और सविता इन दो देवोंके (विदथानि मन्महे) जानने योग्य हम गुणोंका मनन करते हैं। (यौ आत्मन्वत् विशथः) जो दोनों आत्मावाले जंगम जगत्में प्रविष्ट होते हैं (यौ च रक्षथः) और जो दोनों रक्षा करते हैं। (यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

भावार्थ— विश्वमें आयु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और नेत्र) ये दोनों अनेक प्रकारके प्राणिमात्रको धारण करते हैं। ये सब प्राणियोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं। ये दोनों सब जगत्के तारक होते हैं इसलिये वे हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— (ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये गए हैं। (याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडलको धारण किया है, (कश्चन ययोः प्रायं न अन्वानशे) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (तौ नः अंहसः मुञ्चन्तं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभायुक्त ! (तव व्रते जनासः नि विशन्ते) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं। (त्वयि उदिते प्रेरते) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं। हे (वायो सविता च) वायो और हे सविता ! (युवं भुवनानि रक्षथ) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचावो ॥ ३ ॥

हे (वायो सविता च) वायो और सविता ! (इतः दुष्कृतं अप सेधतं) यहांसे दुष्कर्म क[illegible]लोंको दूर हटा दो तथा (रक्षांसि शिमिदां च) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो। (ऊर्जया बलेन हि सं सृजथः) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो ! (मे तनू) मेरे शरीरमें (सुसेवं रयिं) सेवन करने योग्य कान्ति और (पोषं दक्षं) पुष्टियुक्त बल (आ सुवतां) उत्पन्न करो (इह महः अयक्ष्मतातिं धत्तं) यह बडी नीरोगता धारण कराओ और (तौ न अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

हे सविता और हे वायो ! (ऊतये सुमतिं प्रयच्छतं) रक्षाके लिये उत्तम बुद्धि प्रदान करो। (प्रवतः वामस्य अर्वाक् नियच्छतं) प्रकर्षयुक्त धनका भाग हमें प्रदान करो। तथा (महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः) वृद्धि करनेवाला सोमादि अन्न तृप्तिके लिये दो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— इन दोनोंके अनंत कर्म हैं। ये ही अन्तरिक्षमें मेघ मंडलको धारण करते हैं। इनके साथ किसी अन्यकी तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

सूर्य विचित्र तेजवाला है, (शरीरमें आंख भी वैसी ही है) इसके उदय होने अर्थात् खुल जानेके पश्चात् ही प्राणीकी प्रवृत्ति कार्यमें होती है। विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आंख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये दोनों हमारी रक्षा करनेके लिये हमें शुद्ध बुद्धि, उत्कर्षको ले जानेवाला धन और पोषक अन्न देवें और हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (नः श्रेष्ठाः आशिषः) हमारी श्रेष्ठ आकांक्षाएं (देवयोः धामन् उप अस्थिरन्) उक्त दोनों देवोंके धाममें स्थिर होवें । (सवितारं वायुं च देवं स्तौमि) सविता और वायु देवकी मैं स्तुति करता हूं इसलिये कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये हमारी श्रेष्ठ आकांक्षायें दोनों देव सुनें और पूर्ण करें तथा हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

सविता और वायु

सविता और वायु

सविता और वायु इन दो देवोंका वर्णन इस सूक्तमें है। सूर्य और हवा यह इनका प्रसिद्ध अर्थ है । मनुष्यके आरोग्यके लिये सूर्य और वायुका कितना उपयोग है यह सब जानते ही हैं । सूर्य और वायु न हो तो मनुष्यका जीवन उसी समय नष्ट हो जाए। सूर्यप्रकाश विपुल मिलनेसे और शुद्धवायु विपुल प्राप्त होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अन्धेरे घरमें रहनेसे और दूषित वायुमें रहनेसे विविध प्रकारकी बीमारियां मनुष्यके पीछे लगती हैं । यह विषय वेदमें अनेक स्थानोंपर आया है तथा यह विषय अब सर्व साधारणको भी ज्ञात है। इसलिये इन दो देवोंका हमारी नीरोगताके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है यहां विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

सूर्य देवता

' सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ' (ऋग्वेद) यह ऋग्वेदमें कहा है। सूर्य स्थावर जंगमका आत्मा ही है। इतना सूर्यका महत्त्व है । सूर्यके कारण ही स्थावर जंगम पदार्थ रहते हैं, सबकी स्थिति सूर्यके कारण है, इतना सूर्यका महत्त्व होनेसे सूर्यदेवका संबंध हमारे आरोग्यसे कितना है यह स्वयं ज्ञात हो सकता है ।

यह सूर्य हमारे शरीरमें अपने एक अंशसे नेत्र इंद्रियमें रह रहा है । ' सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् । ' (ऐ० उप०) सूर्य आंख बनकर चक्षुओंमें है । नेत्र इंद्रिय स्वयं प्रकाश है, इस नेत्रसे प्रकाशका किरण निकलती है और उसका परिणाम बाह्यपदार्थपर होता है । ब्रह्मचर्यादि सुनियमयुक्त व्यवहारोंसे अपने अंदरका सामर्थ्य बढता है और अनियमसे घटता भी है । यह नेत्रस्थानमें रहनेवाला सूर्यका अंश हमें योग्य और अयोग्य पदार्थोंका दर्शन कराता है । इस नेत्रेन्द्रियका पिता सूर्य है । यह नेत्र अपने पितासे प्रकाशकी सहायता लेकर यहांका कार्य चलाता है और विविध रूपोंको बताता है । अपनी उन्नतिको सिद्ध करनेवालोंका दर्शन करने और अवनति करनेवालोंका दर्शन न करनेसे साधक पापसे बच जाता है । यह है सूर्य देवका पापसे बचानेका कार्य । पवित्र दृष्टिसे अनेक प्रकारके पापसे बचना संभव है । सब सृष्टिको परमात्मशक्तिरूप मानने और देखनेसे मनुष्यकी दृष्टि ही पवित्र हो जाती है। दृष्टिकी पवित्रता होनेसे मनुष्य पापसे बच जाता है । मनुष्य जो पाप करता है वह दृष्टिके दोषसे ही करता है । विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं ज्ञात होगा कि दृष्टिकी पवित्रतापर ही बहुत सारी मनुष्यकी शुद्धता निर्भर है । दृष्टि बंद रही तो काम, लोभ, मोह आदि विकार उतने प्रमाणसे कुछ अंशमें कम रहेंगे ।

वाणी, बल और नेत्र

पूर्व सूक्तोंमें अग्निके बहाने वाणीकी शुद्धता इन्द्रके मिषसे बलकी पवित्रता और इस सूक्तमें सूर्यके मिषसे नेत्र इंद्रियकी पवित्रताको प्राप्त करनेकी सूचना दी है । पापसे बचनेका अनुष्ठान यह है । इस प्रकार अपने अंदरकी शक्तियोंको पवित्र और पुनीत करनेसे मनुष्य पापसे बचता है । यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता सदा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तःशुद्धि करनेका अनुष्ठान करते हैं। अन्योंको वैसा लाभ नहीं हो सकता ।

सूर्यचक्र

सूर्यका दूसरा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इसका अधिकार पचन इंद्रियपर रहता है । पेटके बराबर पीछे यह

चक्र है। इसमें सूर्यशक्ति रहती है जो अन्न पाचनका कार्य करती है। इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये जाते हैं। (मं० ६) ऐसे शुद्ध अन्नका भक्षण करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संभालना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं। अशुद्ध अन्नसे मनकी वृत्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र बनती है जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें।

प्राण

अब वायुका विचार करना चाहिये। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।' (ऐ० उ०) वायु प्राण बनकर नाकके द्वारा फेफडोंमें जाता है और वहां रक्तकी शुद्धि करता है। इसकी शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं। इस के अशुद्ध होनेसे प्राणी मर जाते हैं इस प्रकार यह जीवनका हेतु है। योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम 'प्राणायाम' कहलाता है। जिस प्रकार धौंकनीसे वायु देकर प्रदीप्त की गई अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, उसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होनेवाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इंद्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं। मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और कुतर्क नहीं करता। इस कारण आत्मिक शक्ति-की उन्नति होनेमें सहायता होती है। पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है। अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठीक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है।

कपोत-विद्या

कां. ६, सू. २७

(ऋषिः- भृगुः। देवता- यमः, निर्ऋतिः।)

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥
शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥
हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्कपोतः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (इषितः निर्ऋत्याः दूतः कपोतः) भेजा हुआ दुर्गतिका दूत कपोत (यत् इच्छन् इदं आजगाम) जिसकी इच्छा करता हुआ इस स्थानके प्रति आया है। (तस्मै अर्चाम) उसकी हम पूजा करते हैं और उससे (निष्कृतिं करवाम) दुःखनिवारण हम करते हैं। (नः द्विपदे चतुष्पदे शं अस्तु) हमारे दो पांववालों और चार पांववालोंके लिये शान्ति होवे ॥ १ ॥

(इषितः कपोतः नः शिवः अनागाः अस्तु) भेजा हुआ कपोत हमारे लिये कल्याणकारी और निष्पाप होवे। हे (देवाः) देवो ! (नः गृहं शकुनः) हमारे घरके प्रति वह शुभसूचक होवे। (विप्रः अग्निः हि नः हविः जुषतां) ज्ञानी अग्नि हमारी हवि लेवे और (पक्षिणी हेतिः नः परि वृणक्तु) पंखवाला यह हथियार हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(पक्षिणी हेतिः अस्मान् न दभाति) पंखवाला यह हथियार हमें न दबावे। (आष्ट्री अग्निधाने पदं कृणुते) अंगीठीके अग्निके पास यह अपना पांव रखता है। (नः गोभ्य उत पुरुषेभ्यः शिवः अस्तु) हमारे गौओं और मनुष्योंके लिये यह कल्याणकारी होवे। हे (देवाः) देवो ! (कपोतः इह नः मा हिंसीत्) यह कपोत यहां हमारी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

कबूतर दूरदूर देशसे वार्ता लानेका कार्य करता है। यह हानिकारक वार्ता न लावे। शुभ वार्ता लावे इस विषयमें यह प्रार्थना है। कबूतरके अंदर यह गुण है कि वह सिखानेपर कहींसे भी छोडा जाय, सीधा घरपर ही आता है। प्रवासी लोग ऐसे शिक्षित कबूतर अपने पास रखते हैं और जहां जाना होता है, वहां जाकर उस कबूतरके गलेमें चिट्ठी बांधकर उसको छोड देते हैं, वह छोडा हुआ कबूतर घर आता है और घरवालोंको प्रवासी का संदेश पहुंचाता है।

इस सूक्तके निर्देशोंसे पता लगता है कि, इस कपोतविद्यामें और भी अधिक बातें हैं, जिनसे यह कबूतर बुरा और भला भी बन सकता है। परंतु इसका पता अभीतक नहीं लगा है। यह सूक्त कुछ पाठभेदसे (ऋ. १०।१६५।१-३) में है, परंतु वहां देखनेसे भी इसपर विशेष प्रकाश नहीं पडता है।

इसी विषयका अगला सूक्त है वह अब देखिये—

कपोत-विद्या

कां. ६, सू. २८

(ऋषिः - भृगुः। देवता - यमः, निर्ऋतिः।)

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
सं लोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात्पथिष्ठः ॥ १ ॥
परीमेऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥
यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋचा प्र-नोदं कपोतं नुदत) मंत्रके द्वारा भेजे जाने योग्य कपोतको भेजो। हम तो (इषं मदन्तः) अन्नको प्राप्त करके आनंदित होते हुए (दुरिता पदानि संलोभयन्तः) और पापके चिन्हरूपी इसके अशुभ पादचिन्होंको मिटाते हुए (गां परिनयामः) गौको चारों ओर ले जाते हैं। (ऊर्जं हित्वा) जल स्थानको छोडकर (पथि-ष्ठः प्रपदात्) मार्गमें स्थित प्रवासी आगे चला जावे ॥ १ ॥

(इमे अग्निं परि अर्षत) इन्होंने अग्निको प्राप्त किया है, (इमे गां परि अनेषत) इन्होंने गौको प्राप्त किया है। और (देवेषु श्रवः अक्रत) देवोंमें यश संपादन किया है। अब (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इन लोगोंको भय दिखा सकता है? ॥ २ ॥

(यः प्रथमः) जो पहिला (बहुभ्यः पंथां अनुपस्पशानः) अनेकोंके लिये मार्गोंका निश्चय करता हुआ (प्रवतं आससाद) योग्यमार्ग प्राप्त करता है (यः अस्य द्विपदः) जो इसके दो पांववालों और (यः चतुष्पदः ईशे) जो चार पांववालोंके ऊपर स्वामित्व करता है, (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस मृत्यु देनेवाले यमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

वार्ताहर कबूतरको मंत्रका पवित्र उच्चार करके और ईश्वरकी प्रार्थना करके पवित्र इच्छासे भेजो। कभी घातक इच्छासे न भेजो। हम गौओंको पालते हैं, उत्तम अन्नके सेवनसे आनंदित होते हैं और पापवासनाओंको दूर करते हैं; इसलिये हमारा प्रवासी सुखपूर्वक आगे बढता जायगा। इसमें संदेह नहीं है।

जो प्रतिदिन अग्निमें हवन करते हैं, गायका सत्कार करते हैं और यश बढानेवाला पुण्यकर्म करते हैं, उनको डरानेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं होता इसलिये मनुष्य इस उपायसे अपने आपको कष्टोंसे बचा सकता है।

यमका अधिकार द्विपाद और चतुष्पाद सबपर समान है। वह सब लोगोंके मार्गको अर्थात् जीवनके मार्गोंको यथावत् जानता है। इसलिये उस यमको सब मनुष्य नमस्कार करें।

यह आशय इन तीनों मंत्रोंका है। इसमें बीचके मंत्रमें जो कहा है कि सत्कर्म करनेवालोंको कोई डरा नहीं सकता, वह बात हरएकको विशेष लक्ष्यके रखनी चाहिये। अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

कपोत-विद्या

कां. ६, सू. २९

(ऋषिः – भृगुः। देवता – यमः, निर्ऋतिः।)

अमून्हेतिः पतत्रिणी न्ये॑तु यदुलूको वदति मोघमेतत्। यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः। कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्सुवीरताया इदमा ससद्यात्। पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पतत्रिणी हेतिः अमून् नि एतु) पंखवाला हथियार इन शत्रुओंको नीचे करे। (उलूकः यत् वदति मोघं एतत्) जो उल्लू बोलता है वह व्यर्थ है। (यत् वा कपोतः अग्नौ पदं कृणोति) अथवा जो कबूतर अग्निके पास पांव रखता है वह भी व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई अशुभ नहीं होगा ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (यौ प्रहितौ अप्रहितौ ते दूतौ) जो भेजे हुए अथवा न भेजे हुए तेरे दोनों दूत (नः इदं गृहं आ इतः) हमारे घर आते हैं; (कपोतोलूकाभ्यां तत् अपदं अस्तु) कपोत और उल्लूके द्वारा वह पद रखने योग्य न होवे, अर्थात् कोई अशुभकी सूचना देनेवाले प्राणी हमारे घरोंमें पांव न रखें, ॥ २ ॥

(अ-वैरहत्याय इदं आपपत्यात्) हमारे वीरोंकी हत्या न होनेकी सूचना देनेवाला यह होवे। (सुवीरतायै इदं आ ससद्यात्) हमारे वीरोंके उत्साहके लिये यह सुचिन्ह होवे। (पराङ् पराची अनुसंवतं) नीचे अधोवदन करके अनुकूल रीतिसे (परा एव वद) दूरसे बोल। (यथा यमस्य गृहे) जिससे यमके घरमें (अरसं त्वा प्रतिचाकशान्) निर्बल हुआ हुआ तुझे लोग देखें। (आभूकं प्रति चाकशान्) केवल आया हुआ ही तुझे देखें अर्थात् तू शत्रुदूत असमर्थ होकर यहां रह ॥ ३ ॥

ये सभी सूक्त बडे दुर्बोध हैं। कबूतर, उल्लू आदिकोंसे किस प्रकार अनिष्ट सूचनाएं मिलती हैं यह कहना कठिन है। परंतु इन सूक्तोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने वीर शत्रुपर हमला करनेको जब जाते हैं, तब वे अपने साथ कबूतर ले जाते हैं और वहांका संदेश अपने घरमें अथवा अपने राष्ट्रमें भेज देते हैं। यह शुभ संदेश प्राप्त होवे और अपने वीरोंके मृत्यु आदिका, अथवा अपने पराजयका संदेश न प्राप्त हो। इस विषयकी प्रार्थनाएं इन मंत्रोंमें हैं। परंतु इन सूक्तोंका विषय खोजका ही विषय है। इसलिये इन सूक्तोंपर अधिक लिखना असंभव है।

कृषिसे सुख-प्राप्ति

कांड ३, सूक्त १७

(ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - सीता ।)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥
लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु । सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कवयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, (युगा वितनोत) जुओंको फैलाओ, (कृते योनौ इह बीजं वपत) तैयार हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । (विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । (सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्) हंसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलानेमें सुखकारक, लकडीके मूठवाला हल (गां अविं) गौ और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल और (पीवरीं च प्रफर्व्यं) पुष्ट स्त्रीको (इत् उद्वपतु) निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) इन्द्र हलका फाल पकडे, (पूषा तां अभिरक्षतु) पूषा उसकी रक्षा करे। (सा पयस्वती नः उत्तरां समां दुहां) वह हलकी रेखा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंको प्रदान करे ॥ ४ ॥

(सु-फालाः भूमिं शुनं वितुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुखपूर्वक खोदें । (कीनाशाः शुनं वाहान् अनुयन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पला ओषधीः कर्त) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जुओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलकें लोहेका कठिन फाल लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये बनाई जावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे । यह हल ही गौ बैल, भेड, बकरी, घोडी, स्त्रीपुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥३॥

इन्द्र अपनी वृष्टि द्वारा हलसे खुदी हुई रेखाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उसकी उत्तम रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

*

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— (वाहाः शुनं) बैल सुखी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे। (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जांय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबुकको सुखसे ऊपर चला ॥६॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनको स्वीकार करें। (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥७॥

हे (सीते) जुति हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं। हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो। (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली हो और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली हो ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती हुई भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई। हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंचित हुई तू (नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— हलके सुन्दर फाल भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवें ॥ ५ ॥

बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय। रस्सियां जहां जैसी बांधनी चाहिये वैसी बांधी जांय और आवश्यकता होनेपर चाबुक ऊपर उठाया जाय ॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवि को स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इसलिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे सुख-प्राप्ति

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है। भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमि अच्छी प्रकार जोती जाय, हलकी लकीरें ठीक की जांय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है, तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे। इस प्रकार वृष्टि और सूर्य प्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहें तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा।

धान्य बोनेके पूर्व हवन

पञ्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है। जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होती है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है। इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती हैं, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाकू जैसे हानि-कारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा।

खादके लिये घी और शहद

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी, शहद और दूधका खाद वनस्पतियोंको डालनेका उपदेश है। आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे ? परन्तु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

ऐतिहासिक उदाहरण

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये गए थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषिशास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है। साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्यों कि जिन लोगोंको पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता, वे खादके लिये दूध, दही, घी और मिश्री कहांसे लायेंगे।

गौरक्षाका समय

वैदिक काल गौकी रक्षाका काल था, इसलिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था। परन्तु आज अनार्योंके भक्षणके लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इसलिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता। यह कालका परिवर्तन है।

अश्व

कांड ६, सूक्त ९२

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – इन्द्रः, वाजी।)

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥

अर्थ — हे (वाजिन्) अश्व ! (युज्यमानः वातरंहाः भव) जोतने पर वायुके वेगसे युक्त हो, (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) इन्द्रकी इस सृष्टिमें मनोवेगसे चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युजन्तु) सब ज्ञानसे युक्त मरनेतक उठनेवाले वीर तुझे नियुक्त करें। (त्वष्टा ते पत्सु जवं आदधातु) त्वष्टा तेरे पांवोंमें वेग रखे ॥ १ ॥

भावार्थ — घोडा वेगवान् हो, चलनेके समय मनके वेगके समान शीघ्र दौडे। ऐसे घोडेको वीर जोतें और ईश्वर ऐसे घोडेके पांवमें बडा वेग रखे ॥ १ ॥

जवस्ते अर्वन्निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत्परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन्बलवान्बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥
तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अर्वन्) गतिशील ! (यः गुहा निहितः ते जवः) जो हृदयमें स्थित तेरा वेग है, (यः श्येने वाते उत परीत्तः) जो वेग श्येनपक्षीमें और जो वायुमें है और जो अन्यत्र भी है; हे (वाजिन्) अश्व ! (तेन त्वं बलवान्) उस वेगसे तू बलवान् होकर (समने पारयिष्णुः) संग्राममें पार करानेवाला होता हुआ (आजिं जय) युद्धमें विजय कर ॥ २ ॥

हे (वाजिन्) अश्व ! (ते तनूः तन्वं नयन्ती) तेरा शरीर हमारे शरीरको लेकर चलता हुआ (अस्मभ्यं वामं धावतु) हम सबको अल्प कालमें हमारे उद्देश्य स्थल पहुंचावे और (तुभ्यं शर्म) तुम्हारे लिये सुख देवे। (अव्हुतः देवः) अकुटिल देव (धरुणाय) सबकी धारणाके लिये (दिवि ज्योतिः इव) द्युलोकमें जैसी सूर्य तेजस्वी है, उसके समान (महः स्वं आ मिमीयात्) सबको महान् तेज देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो वेग वायु, श्येन पक्षी और अन्य वेगवान् पदार्थोंमें है, वह वेग इस घोडेमें हो । ऐसा वेगवान् बलवान् घोडा युद्धमें विजयको प्राप्त करनेवाला हो ॥ २ ॥

यह घोडा मनुष्योंको अतिशीघ्र दूरतक पहुंचावे । वह स्वामीको सुख देवे और स्वयं सुखी होवे । द्युलोकमें सूर्यके समान घोडा यहां चमकता रहे ॥ ३ ॥

उत्तम घोडेका वर्णन इस सूक्तमें हैं। घोडा बलवान् और चपल तथा शीघ्रगामी हो। युद्धमें जानेवाले सैनिक ऐसे घोडोंका उपयोग करें और विजय प्राप्त करें। इत्यादि बोध इस सूक्तमें है।

वृष्टि कैसी होती है ?

कांड ६, सूक्त २२

(ऋषिः – शन्तातिः । देवता – आदित्यरश्मिः, मरुतः ।)

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥

अर्थ— (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हुए (सु-पर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्य किरणें (कृष्णं नियानं दिवं) सबका आकर्षण करनेवाले सबके यानरूप द्युलोकस्थ सूर्यके प्रति (उत् पतन्ति) चढती हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आती हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे पृथ्वीको भिगाती हैं ॥ १ ॥

पर्यस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥
उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (रुक्मवक्षसः मरुतः) चमकनेवाले हृदयवाले वायुदेवो ! (यत् एजथ) जब तुम वेगसे चलते हो, तब (अपः ओषधीः) जलों और औषधियोंको (पयस्वतीः शिवाः कृणुथ) रसवाली और हितकारिणी बनाते हो। हे (नरः मरुतः) नेता मरुतो ! (यत्र च मधु सिंचत) और जहां मधुर जल सींचते हो (तत्र ऊर्जं सुमतिं च पिन्वत) वहां बल देनेवाला अन्न और उत्तम बुद्धि स्थापित करते हो ॥ २ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (या वृष्टिः) जिनसे होनेवाली वृष्टि (विश्वाः निवतः पृणाति) सब निम्न स्थानोंको भर देती है। ऐसे (तान् उदप्रुतः इयर्त) उन जलोंसे भरपूर मेघोंको भेजो। (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार दुःखित कन्या पिताको कंपित करती है उसी प्रकार (ग्लहा) मेघोंका शब्द (एजाति) सबको कंपित करता रहे तथा वह शब्द (एरुं तुन्दाना) मेघको उसी प्रकार प्रेरित करे, (पत्या जाया इव) जिस प्रकार पतिके साथ रहेनेवाली धर्मपत्नी पतिको गृहस्थीके संसारमें प्रेरित करती है ॥ ३ ॥

मेघ कैसे बनते हैं ?

सूर्य-किरणें पृथ्वीके ऊपरका जल हरण करती हैं इस कारण उनको (हरिः, हरयः) कहा है। वे सब स्थानको (सु-पर्णाः सुपूर्णाः) कहते हैं अथवा उनकी विशेष गतिके कारण उनका यह नाम है। ये किरणें (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेती हैं, मानो ये जलका वस्त्र पहनती हैं और (दिवं उत्पतन्ति) द्युलोकमें-ऊपर आकाशमें-ऊपर जाती हैं। अर्थात् पृथ्वीके ऊपरका जलांश लेकर ये सूर्य-किरणें ऊपर जाती हैं और (ऋतस्य सदनं) जलके स्थान अन्तरिक्षमें रह कर वहां मेघरूपमें परिणत हो जाती हैं और उन मेघोंसे पृथ्वीपर फिर वृष्टिरूपमें वही जल आता है। अर्थात् जो जल सूर्यकिरणोंके द्वारा ऊपर खींचा जाता है वही जल वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर आता है। यह कार्य सूर्यकिरणोंका है।

सूर्यकिरणोंका यह कार्य सदा होता रहता है, वे, समुद्रसे पानी ऊपर खींचती हैं, उनसे मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है, इस प्रकार जलकी शुद्धि होती है। पृथ्वीपरका जो जल ऊपर बाष्परूपसे खींचा जाता है वह वहां शुद्ध बनकर वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर गिरता है, मानों, वह (मधु सिंचथ) मीठे शहदकी ही वृष्टि होती है। इस वृष्टिसे (ओषधीः शिवाः) हितकारक औषधियां बनती हैं और (पयस्वन्तीः) उत्तम रसवाली भी बनती हैं। ये औषधियां रोगियोंके शरीरोंमें रहनेवाले दोषोंको (दोष-धीः) धोती हैं और उनको नीरोग बनाती हैं, इन औषधियों और विविध रसपूर्ण अन्नको खानेसे मनुष्य (ऊर्जं सुमतिं च) बल और उत्तम बुद्धिको प्राप्त करते हैं। यदि वृष्टि न हो तो इन पदार्थोंकी उत्पत्ति भी नहीं होती। परिणामतः अकाल पडता है, इसलिये मनुष्य निर्बल और मतिहीन बनते हैं। इस प्रकार वृष्टिके महत्त्वका वर्णन किया है।

पानीसे भरे बादल वायुके द्वारा लाये जाते हैं और उनसे जो वृष्टि होती है वह पृथ्वीपरके तालाव, कुंवे, नदियां आदिकोंको भर देती है और इस कारण सर्वत्र आनंद फैलता है।

वृष्टि

कांड ४, सूक्त १५

(ऋषिः – अथर्वा । देवता – मरुतः, पर्जन्यश्च ।)

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥
समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥
समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥
गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥
उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

अर्थ— (नभस्वती प्रदिशः सं उत्पतन्तु) बादलसे युक्त दिशाएं उभड जांय, (वातजूतानि अभ्राणि संयन्तु) वायुसे चलाये गये जलसे भरपूर मेघ मिलकर आवें । (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) महाबलवान् गर्जना करते हुए (नभस्वतः वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) बादलोंकी गतिसे युक्त जलधाराएं भूमिकी तृप्ति करें ॥ १ ॥

(तविषाः सुदानवाः समीक्षयन्तु) बलवान् जलका उत्तम दान करनेवाले मेघ दिखाई देवें । (अपां रसाः ओषधीभिः सचन्तां) जलोंके रस औषधियांसे संयुक्त हो जावें । (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें । (विश्वरूपाः ओषधयः पृथक् जायन्तां) विविधरूपवाली ओषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न होवें ॥२॥

(गायतः नभांसि समीक्षयस्व) गर्जनेवाले मेघोंसे युक्त आकाश दिखाओ । (अपां वेगासः पृथक् उद्विजन्तां) जलोंके वेग विविध प्रकारसे उमडें । (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें । (विश्वरूपाः वीरुधः पृथक् जायन्तां) विविधरूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ ३ ॥

हे पर्जन्य ! (घोषिणः मारुताः गणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक् गान करें । (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षें ॥ ४ ॥

हे (मरुतः) वायुओ ! (अर्कः त्वेषः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रसे ऊपर लेजाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उडाओ । (मह ऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बडे बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जल धाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— चारों दिशाओंमें बादल आयें, वायु जोरसे बहे, उस वायुसे मेघ आकाशमें आयें और बडी गर्जना होकर बडी वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघसे आनेवाला जल वनस्पतियोंको मिले और सब वनस्पतियां उत्तम परिपुष्ट हों ॥ २ ॥

गर्जना करनेवाले मेघोंसे जोरकी वृष्टि होवे और उस वृष्टिसे औषधियां उत्तम रसवाली होवें ॥ ३ ॥

वायु जोरसे मेघोंको लावें और प्रचंड धाराओंसे अच्छी वृष्टि हो ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानीकी भाप बनकर वायुसे ऊपर जावे, वहां वह इकट्ठी होकर मेघ बनें, वहां बिजली की गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करनेवाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥
सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत । मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥
आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥
आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥
अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥
प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

अर्थ - हे (पर्जन्य) मेघ ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजली कडका, (उदधिं अर्दय) समुद्रको हिला दे। (पयसा भूमिं समङ्धि) जलसे भूमि भिगा दे। (त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बडी वृष्टि हमारे पास आवे। (कृश-गुः) भूमिका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला जावे ॥ ६ ॥

(सु-दानवः उत अज-गराः उत्साः) उत्तम जल देनेवाले बडे स्रोत (वः सं-अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ (पृथिवीं अनुवर्षन्तु) पृथिवीपर अनुकूल वर्षा करें ॥ ७ ॥

(आशां आशां विद्योततां) दिशा दिशामें बिजलियां चमकें। (दिशो दिशः वाताः वान्तु) हरएक दिशामें वायु बहें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनुसंयन्तु) वायुओं द्वारा चलाये गये मेघ पृथिवीकी ओर अनुकूलतासे आवें ॥ ८ ॥

(आपः विद्युत् अभ्रं वर्षं) जल, विद्युत्, मेघ, वृष्टि (उत अजगराः सुदानवः उत्साः) और बडे जल देनेवाले स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ भूमिकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

(यः अपां अग्निः) जो मेघके जलोंमें रहनेवाली विद्युत् रूप अग्नि (तनूभिः संविदानः) सब शरीरोंके साथ एकरूप होती हुई (औषधीनां अधिपा बभूव) औषधियोंका पालक होती है (सः जातवेदाः) वह अग्नि (दिवः परि अमृतं वर्षं) आकाशसे अमृतरूपी वृष्टिजल जो (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओंके लिये प्राणरूप है (नः) हमारे लिये (वनुतां) देवे ॥ १० ॥

(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात् आपः आ ईरयत्) प्रजापति जलमय समुद्रसे जलको प्रेरित करता हुआ (उदधिं अर्दयाति) समुद्रको गति देता है। इससे (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि करनेवाले मेघ से जल बढे। वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् आ इहि) इस गर्जना करनेवालेके साथ यहां आवे ॥ ११ ॥

भावार्थ— मेघ गर्जना करें, बिजली कडके, समुद्र उछल पडें, भूमि पर ऐसी वृष्टि हो कि किसान अपने घर जाकर आश्रय लेवे ॥ ६ ॥

जल देनेवाले मेघ सबकी रक्षा करें, उनसे भूमिपर उत्तम वृष्टि होवे ॥ ७ ॥

हरएक दिशामें बिजलियां चमकें, वायु जोरसे चले, उनसे चलाये मेघ खूब वृष्टि करें ॥ ८ ॥

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥
संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥
उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि । मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥
खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि । वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥
महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—(अपः निषिञ्चन् असुरः) जलकी वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है । हे (वरुण) श्रेष्ठ उदकको धारण करनेवाले मेघ ! (अपां गर्गराः श्वसन्तु) जलोंसे युक्त गडगड शब्द करनेवाले मेघ चलें । (अपः नीचीः अवसृज) जलको नीचेकी ओर प्रवाहित कर (पृश्निबाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहूवाले मेंढक (इरिणा अनुवदन्तु) भूमिपर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंढक मेघसे प्रेरित वाणीको उसी प्रकार (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसे (संवत्सरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थानमें रहकर व्रत करनेवाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

हे (मंडूकि) मेंढकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंढकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्षं आवद) वर्षाको बुला। और (ह्रदस्य मध्ये) तालाबके मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पैर फैलाकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्-वखे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शांत रहनेवाली (तदुरि) हे छोटी मेंढकी ! (वर्ष मध्ये वनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो । हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंके मननीय ज्ञानकी इच्छा करो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदञ्चं) बडे जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अभि षिञ्च) जलसिंचन कर । (सविद्युतं भवतु) आकाश बिजलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बहती रहे । (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करो । (ओषधयः) औषधियां (बहुधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनंदिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें ।

भावार्थ— मेघ, विद्युत्, वृष्टि, जल, जलस्थान ये सब मनुष्योंकी रक्षा करें। वायुसे चलाये गए मेघ पृथ्वीपर उत्तम वर्षा करें ॥ ९ ॥

मेघोंमें विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करती है इसलिये वह औषधियोंका अधिपति है । वह ऊपरसे वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उससे प्राणियोंको जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्रके जलको प्रेरित करता है, जिससे मेघ होते हैं । इससे भूमिके ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे । यह मेघ बिजलीके साथ हमारी भूमिके पास आवे ॥ ११ ॥

मेघकी वृष्टिसे पृथ्वीपर बडे स्रोत बहें । जलमें मेंढक उत्तम शब्द करें ॥ १२ ॥

व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंढक मानों सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

मेंढक मेघोंको बुलावें और वे जलसे तालाब भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिससे मेंढक आनंदित हो जायें ॥ १५ ॥

मेघ आयें, खूब वृष्टि हो, बिजली कडके, वायु बहे, औषधियां पुष्ट हों, खूब अन्न उत्पन्न हो और यज्ञ बढते जायें ॥१६॥

यह सूक्त पर्जन्यका उत्तम काव्य है, अत्यंत स्पष्ट होनेसे इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

मेघोंका संचार

कां ६, सूक्त ४९

(ऋषिः – गार्ग्यः । देवता – अग्निः ।)

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥
मेष इव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः ।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून्बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥ २ ॥
सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप देव ! (मर्त्यः ते तन्वः क्रूरं नहि आनंश) कोई मनुष्य तेरे शरीरकी क्रूरताको नहीं स्वीकार कर सकता । जिस प्रकार (कपिः तेजनं बभस्ति) क अर्थात् उदकका पान करनेवाला मेघ प्रकाशको धारण करता है और (गौः स्वं जरायु इव) जिस प्रकार अपनी जरायुको गौ धारण करती है ॥ १ ॥

(मेष इव वै) निश्चयपूर्वक मेढोंके समान तू (सं अच्यसे) इकट्ठा होता है और (च वि उरु) फैलता है। (यत् उत्तरद्रौ खादतः उपरः चः) और उत्तम वनमें घास खाते हुए ठहरता है। (शीर्ष्णा शिरः अप्ससा अप्सः अर्दयन्) सिरसे सिरको और रूपसे रूपको दबाता हुआ (हरितेभिः आसभिः अंशून् बभस्ति) हरिद्वर्णके मुखोंसे किरणोंको धारण करता है ॥ २ ॥

(सुपर्णाः आखरे द्यवि वाचं उप अक्रत) अनेक किरणें इस लोकके आकाशमें शब्द करती हैं। और (कृष्णाः इषिराः अनर्तिषुः) जलका आकर्षण करनेवाली गतिमान् किरणें यहां नाच रही हैं। (यत् उपरस्य निष्कृतिं नि नियन्ति) जब ठहरनेवाले मेघकी निष्कृति अर्थात् वृष्टिरूप परिणामको निश्चित करते हैं,। तब वे (पुरू रेतः दधिरे) बहुत जल धारण करते हैं ॥ ३ ॥

यह सूक्त अत्यंत दुर्बोध है, परन्तु निम्नलिखित भावार्थके अनुसंधानसे कुछ भाव पाठक जान सकते हैं—

हे ईश्वर ! जिस समय तू क्रूर होता है, उस समय तेरे सन्मुख कोई भी मनुष्य ठहर नहीं सकता; तेरा क्रोध इतना असह्य है। काला मेघ भी प्रकाशको धारण कर सकेगा, अथवा गौ भी अपनी जरायुको खा जायगी, परन्तु कोई मनुष्य ईश्वरका कोप होनेपर क्षणमात्र भी ठहर नहीं सकता ॥ १ ॥

जिस प्रकार मेढे या बकरे किसी समय इकट्ठे होकर और किसी किसी समय अलग अलग होकर उपजाऊ भूमिपरका घास खाते हैं और किसी किसी समय अपने सिरसे दूसरेके सिरको टकराते हैं और अपने शरीरसे दूसरेका घर्षण भी करते हैं और इस प्रकारकी लीला करते हुए घास खाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपसमें मिलते और कभी लडते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि ईश्वरके क्रोधके सन्मुख कोई ठहर नहीं सकता ॥ २ ॥

ईश्वरकी कृपासे ही सूर्यकिरणें सब जगत्में नाच रही हैं और जलका आकर्षण करते हुए वेगसे जा रही हैं; येही मेघोंको बनाती हैं और उनसे वृष्टि करती हैं, तब सब जगत्को शान्त करनेवाला जल पर्याप्त प्रमाणमें सबको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परमेश्वरके सामर्थ्यका ध्यान करना योग्य है।

मेघोंमें सरस्वती

कांड ७, सूक्त ११

(ऋषिः - शौनकः । देवता - सरस्वती ।)

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

अर्थ— (यः ते पृथुः स्तनयित्नुः) जो तेरा विस्तृत, गर्जन करनेवाला, (ऋष्वः दैवः केतुः) प्रवाहित, होनेवाला और दिव्य ध्वजाके समान मार्गदर्शक चिन्ह (इदं विश्वं आभूषति) इस जगत्को भूषित करता है, उस (विद्युता) बिजलीसे (नः मा वधीः) हमें मत मार। तथा हे देव ! (उत) और हमारा (सस्यं सूर्यस्य रश्मिभिः मा वधीः) खेत सूर्यके किरणोंसे नष्ट मत कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे सरस्वती ! जो तेरा विस्तृत और गर्जना करनेवाला, स्वयं वृष्टिरूपसे प्रवाहित होनेवाला, जिसमें बिजलीकी चमक होती है और जो इस विश्वका भूषण होता है, वह मेघ अपनी बिजलीसे हमारा नाश न करे और ऐसा भी न हो कि, आकाशमें बादल न आयें और सूर्यके तापसे हमारी सब खेती जल जावे। अर्थात् आकाशमें बादल आयें। मेघ बरसे और खेती उत्तम हों; परन्तु मेघोंकी विद्युत्से किसीका नाश न होवे ॥ १ ॥

' सरस्वती ' का दूसरा अर्थ (सरः) रसवाली है अर्थात् जल देनेवाली। वह जल अथवा रस मेघोंमें रहता है और वह हमारे धान्यादिकी पुष्टि करता है।

सरस्वती

कां ७, सू. १०

(ऋषिः – शौनकः । देवता – सरस्वती ।)

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

अर्थ— हे सरस्वति ! (यः ते शशयुः स्तनः) जो तेरा शान्ति देनेवाला स्तन है और (यः मयोभूः यः सुम्नयुः) जो सुख देनेवाला, जो शुभ मनको देनेवाला, (यः सुदत्रः सुहवः) जो प्रार्थनीय और जो उत्तम पुष्टि देनेवाला है, (येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि) जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, (तं इह धातवे कः) उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— सरस्वती देवी जगत्को सारवान् रस देती है, उसके स्तनमें पोषक दुग्ध है, वह सुख, शान्ति, सुमनस्कता पुष्टि आदि देता है। इससे सबका ही पोषण होता है। हे देवी ! वह अपना पोषक गुण हमारे पास कर, जिससे उत्तम रस पीकर हम सब पुष्ट हों ॥ १ ॥

सरस्वती विद्या है। विद्या ही सबका पोषण करती है, सबको शान्ति, सुख सुमनस्कता और पुष्टि देती है। विद्यासे ही इहलोकमें और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है। इसलिये यह विद्या हरएकको अवश्य प्राप्त करनी चाहिये।

सरस्वती

कां. ७, सू. ६८

(ऋषिः – शन्तातिः । देवता – सरस्वती ।)

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥
इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत् ।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ २ ॥
शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति । मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे सरस्वति देवि (ते दिव्येषु धामसु व्रतेषु) तेरे दिव्य धामोंके व्रतोंमें (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन की हुई हविको सेवन कर और हे देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें प्रजा दे ॥ १ ॥

हे सरस्वति ! (ते इदं घृतवत् हव्यं) तेरा यह घीवाला हवन है । (इदं पितॄणां हविः यत् आस्यं=आद्यं) यह पितरोंका हवि है जो खाने योग्य है । (ते इमानि उदिता शंतमानि) तेरे ये प्रकाशित कल्याणकारी सामर्थ्य हैं। (तेभिः वयं मधुमन्तः स्याम) उनसे हम मीठे बनें ॥ २ ॥

हे सरस्वति ! (नः सुमृडीका शिवा शंतमा भव) तू हमारे लिए स्तुति करने योग्य, शुभ और सुखकारी हो, (ते संदृशः मा युयोम) तेरी दृष्टिसे हम कदापि वियुक्त न हों ॥ ३ ॥

(सरस्वतीके उपासकोंका सदा कल्याण होता है ।)

उत्तम वृष्टि

कां. ७, सू. ३९

(ऋषिः – प्रस्कण्वः । देवता – मंत्रोक्ता ।)

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥ १ ॥

अर्थ— (दिव्यं, पयसं सुपर्णं) आकाशमें रहनेवाले जलको धारण करनेके कारण जलसे परिपूर्ण, (अपां बृहन्तं वृषभं) जलकी बडी वृष्टि करनेवाले, (ओषधीनां गर्भं) औषधिवनस्पतियोंका गर्भ बढानेवाले (अभीपतः वृष्ट्या तर्पयन्तं) सब प्रकारसे वृष्टि द्वारा तृप्ति करनेवाले (रयि–स्थां) शोभायुक्त स्थानमें रहनेवाले मेघको देव (नः गोष्ठे आ स्थापयाति) हमारी गोशालाकी भूमिमें स्थापित करे अर्थात् हमारी भूमिमें उत्तम वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघ आकाशमें संचार करता है, वह जलसे परिपूर्ण होता है, जलकी वृष्टि करता है, उसके जलसे सब औषधि वनस्पतियां गर्भयुक्त होती हैं, यह अन्य रीतिसे अपनी वृष्टि द्वारा सबकी तृप्ति करता है, सबकी शोभा बढाता है, यह सबका हित करनेवाला मेघ हमारी भूमिमें जहां हमारी गौएं रहती हैं वहां उत्तम वृष्टि करे और हम सबको तृप्त करे ।

वृष्टिसे विपत्तिका दूर होना

कां. ६, सू. १२४

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- मंत्रोक्ता उत दिव्या आपः ।)

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥
यदि वृक्षादभ्यपप्तत्फलं तद्यद्यन्तरिक्षात्स उ वायुरेव ।
यत्रास्पृक्षत्तन्वो३ यच्च वाससा आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥
अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव ।
सर्वा पवित्रा विततार्ध्यस्मत्तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (बृहतः दिवः अन्तरिक्षात्) बडे द्युलोकके अवकाशसे आई हुई (अपां स्तोकः रसेन मां आभि अपप्तत्) जलकी बूंदोंके रससे मेरी वृद्धि हुई है। हे अग्ने ! (अहं इन्द्रियेण पयसा) मैं इंद्रियके साथ, दूध आदि पुष्टिरसके साथ, (छन्दोभिः यज्ञैः सुकृतां कृतेन सं) छन्दोंसे, यज्ञोंसे और पुण्य कर्म करनेवालोंके सुकृतसे युक्त होऊं ॥ १ ॥

(यदि वृक्षात् फलं आभि अपप्तत्) यदि वृक्षसे फल गिरे अथवा (यदि अन्तरिक्षात् तत्) यदि अन्तरिक्षसे यह जल गिरे, तो (स उ वायुः एव) वह वायु ही है अर्थात् वायुसे ही गिरता है। (यत्र तन्वः अस्पृक्षत्) जहां शरीरके भागसे वह जल स्पर्श करे अथवा (यत् वाससः) जहां कपडोंको स्पर्श करे, तो वह (आपः पराचैः निर्ऋतिं नुदन्तु) जल दूरसे ही अवनतिको दूर करे ॥ २ ॥

(अभ्यंजनं) तैलका मर्दन, (सुरभि) सुगंध, (हिरण्यं) सुवर्ण, (वर्चः) शरीरका तेज (सा समृद्धिः) यह सब समृद्धि है। (तत् उ पूत्रिमं एव) वह जल पवित्र करनेवाला है। (सर्वा पवित्रा वितता) सब पवित्र करनेवाले जगत्में फैले हैं। (अस्मत् आधि निर्ऋतिः मा तारीत्) हमपर दुर्गति न आवे और (अरातिः मा उ) शत्रु भी न हमला करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— आकाशसे उत्तम पवित्र जलकी वृष्टि होती है, इस वृष्टिसे अन्न रस दूध आदि उत्पन्न होता है, इससे यज्ञ होता है और यज्ञसे सुकृत होता है। यह सुकृत प्राप्त करनेकी इच्छा हरएकको मनमें धारण करनी चाहिये ॥ १ ॥

वृक्षसे फल गिरनेके समान आकाशसे वायुसे वृष्टिकी बूंदें हमारे पास आती हैं। उस जलसे हमारा शरीर और हमारे वस्त्र मलरहित होते हैं। इस वृष्टिसे बहुत धान्य उत्पन्न होकर हमारी विपत्ति दूर होवे ॥ २ ॥

शरीरपर तैलका मर्दन करना, सुगंधीद्रव्यका उपयोग करना, सुवर्ण धारण करना, शरीरका सुडौल और तेजस्वी होना यह सब समृद्धिके लक्षण हैं। जल समृद्धिका लक्षण होता हुआ पवित्रता करनेवाला है, उससे सब जगत्में पवित्रता फैलती है। इस जलसे विपुल धान्यकी उत्पत्ति होनेसे हमारी विपत्ति दूर हो जावे और सब संपत्ति हमारे पास आवे। शत्रु भी हमें कष्ट न पहुंचावें ॥ ३ ॥

आकाशसे पवित्र अमृत जलकी उत्पत्ति होती है। उससे धान्य, फल, पुष्प आदि तथा वृक्ष वनस्पतियां भी उत्पन्न होती हैं घास आदि उत्पन्न होकर उससे पशु पुष्ट और प्रसन्न होते हैं। अर्थात् इस प्रकार आकाशकी वृष्टि सब प्राणिमात्रोंकी विपत्तिको दूर करनेवाली है। वृष्टिके न होनेसे सबपर विपत्ति आती है और वृष्टिसे वह दूर होती है। यह जल शरीरको अंदरसे और बाहरसे निर्मल करता है, पवित्रता करना इसका स्वभाव धर्म है। वस्त्र आदिकोंको भी यह पवित्र करता है। जब इस प्रकार उत्तम वृष्टिसे पशुपक्षी और मनुष्य आनंदयुक्त होते हैं, तब मनुष्य अभ्यंगस्नान करते, सुगंध शरीरपर लगाते, सुवर्णभूषणोंको धारण करते हैं और उनका शरीर भी यथायोग्य पुष्ट और सुडौल होता है। सर्वत्र पवित्रता होती है और सब विपत्ति दूर होती है।

यह वृष्टिकी महिमा है, इसलिये मानो, वृष्टि परमात्माकी कृपासे ही होती है।

वृष्टि-जल

कां. ७, सू. ८९

(ऋषिः— सिन्धुद्वीपः । देवता – अग्निः ।)

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥ २ ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय । तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

अर्थ— (दिव्याः अपः सं अचायिषं) दिव्य जलका मैं संचय करता हूं और (रसेन सं अपृक्ष्महि) रसके साथ मिलाता हूं । हे (अग्ने) अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) मैं दूध लेकर तेरे पास आया हूं । (तं मा वर्चसा सं सृज) उस मुझको तेजसे युक्त कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (मा वर्चसा प्रजया आयुषा सं सृज) मुझे तेज, आयु और संततिसे युक्त कर । (देवाः अस्य मे विद्युः) देव यह मेरा हेतु जानें । तथा (ऋषिभिः सह इन्द्रः विद्यात्) ऋषियोंके साथ इन्द्र मुझे जाने ॥ २ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं अवद्यं मलं च यत्) यह जो कुछ मुझमें पाप और मल है (प्रवहत) बहा डालो। (यत् अभिदुद्रोहं) जो कुछ मैंने द्रोह किया हो (यत् च अनृतं) जो असत्य कहा हो, (यत् च अभीरुणं शेपे) और जो न डरते हुए शाप दिया हो, उसका सब दोष दूर करो ॥ ३ ॥

(एधः असि एधिषीय) तू बडा है, मैं भी बडा होऊं । (समित् असि समेधिषीय) तू प्रकाशमान है, मैं भी प्रकाशित होऊं । (तेजः असि तेजः मयि धेहि) तू तेजस्वी है, मुझमें तेज स्थापित कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— आकाशसे आनेवाला वृष्टिजल मैं संग्रहीत करता और उसमें औषधिरस मिलाता हूं । इसके प्रयोगसे मैं तेजस्वी बनूं । इस प्रयोगमें मैं तपा हुआ दूध पीता हूं ॥ १ ॥

इससे मुझे तेजस्विता, दीर्घ आयु और उत्तम संतान होगी । यह देवों और ऋषियोंका बताया मार्ग है ॥ २ ॥

उक्त प्रयोगसे शरीरके मल दूर होंगे और मनकी पापवासना भी दूर होगी । शाप देना आदि भाव भी हटेंगे और निर्दोष और शुद्ध बनेगा ॥ ३ ॥

जो लोग बडे हैं, जो तेजस्वी हैं और जो वीर हैं उनको देखकर इतर लोक भी बडे तेजस्वी और शूर बनें ॥ ४ ॥

वृष्टि-जल

दीर्घायु बननेका उपाय

इस सूक्तमें दीर्घायु, तेजस्वी और सुप्रजावान् होनेका उपाय बताया है । उक्त लाभ प्राप्त करनेके लिये निर्दोष बनना चाहिये । मनुष्यमें शरीरके कुछ दोष होते हैं और मन बुद्धिके भी कुछ दोष होते हैं । ये दोष इस प्रकार इस सूक्तमें वर्णन किये हैं—

(१) अभिदुद्रोह, (२) अनृतं,
(३) अभीरुणं शेपे । (४) अवद्यं मलं प्रवहत ।
(मं. ३)

‘ (१) दूसरेका घात पात करना, कपट प्रयोग करना, (२) असत्य भाषण करना (३) निडरतासे गालियां देना, (४) इत्यादि जो मनके हीन भाव हैं और जो शारीरिक दोष

हैं।' इनको दूर करना चाहिये। इनमें कुछ दोष मनके हैं, कुछ वाणीके हैं, कुछ शरीरके हैं और कुछ अन्य प्रकारके हैं। ये सब दूर होने चाहिये, तब मनुष्यको दीर्घ आयु, तेजस्विता और उत्तम संतति प्राप्त होगी।

दूसरेसे द्रोह करना और गालियां देना आदि जो क्रोधके दोष हैं वे बहुत खराब हैं। क्रोधके कारण मनुष्यके खूनसे जीवनसत्त्वका नाश होता है, और जीवनसत्त्वके नष्ट होनेसे मनुष्यकी आयु घटती है, वीर्यदूषित होनेसे संतति कमजोर होती है और अनेक प्रकारकी हानि होती है। अतः ये दोष दूर होने चाहिये।

मनुष्यके यकृत बिगडनेसे मनुष्य क्रोधी, द्रोही, अविचारी, असत्यभाषी आदि होता है, इसी कारण अन्य दोष भी होते हैं। नसनाडीमें मलसंचय बढनेसे शारीरिक रोग होते हैं, और इस प्रकार मनुष्यके दुःख बढते जाते हैं। शरीर और मनके निर्दोष होनेसे ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। इसके लिये दिव्यजलका सेवन करना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

दिव्यजल सेवन

दिव्यजल वह है कि जो वृष्टिसे प्राप्त होता है; शुंडा यंत्र-द्वारा भापका बना जल भी वैसाही काम दे सकता है। वृष्टिका जल घरमें शुद्ध पात्रोंमें संग्रहीत करना चाहिये। इस प्रकार संग्रह किया हुआ और बंद पात्रमें रखा हुआ जल एक वर्षतक उत्तम प्रकार रहता है और बिगडता नहीं। यही जल पीनेसे शरीर शुद्ध होता है। उपवास करके यदि यही जल विपुल प्रमाणमें पिया जाय तथा बस्ति आदिके लिये यही बर्ता जाय तो शरीरकी आन्तरिक शुद्धता उत्तम रीतिसे होती है। यकृत् भी शुद्ध होता है, आंतोंके दोष दूर होते हैं और अन्यान्य मल हट जाते हैं। प्रायः इस प्रयोगसे सब रोग दूर हो जाते हैं और मनुष्य तेजस्वी, सुदृढ और वीर्यवान् हो जाता है।

यहां पाठक 'दिव्य जल' से उत्तम जल इतना ही भाव न लें। द्युलोककी ओरसे आया जल वृष्टिजल ही होता है और वही यहां अपेक्षित है। इस जलमें और (रसेन अपृणक्षि) विविध औषधियोंके रस मिलाये जायेंगे, तो लाभ विशेष होगा इसमें कोई संदेह नहीं है। जो दोषोंको धोती हैं उनको ही ओषधी कहते हैं, अतः औषधियोंके रस योग्य प्रमाणमें इसमें मिलानेसे बहुत लाभ होने संभव हैं। औषधियोंके रसको मिलानेका विचार दोषों और रोगोंके अनुसंधानसे निश्चय करना चाहिए। रोगी मनुष्य जिस जिस दोषसे पीडित हो उसके निवारणके लिये उपयोगी औषधियोंके रस उस जलमें मिलाने चाहिए। यह विचार साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। उत्तम वैद्य ही इस विषयका विचार करके निश्चय कर सकता है। अतः इस विवरणके संबंधके इतना ही कथन पर्याप्त है।

यह वृष्टिजल शरीरका मल दूर करता है, मनके भाव शरीरशुद्धिसे ही पवित्र होते हैं, इस प्रकार वह मनुष्य पवित्र और तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी और सुपुत्रवाला होता है।

जलचिकित्सा

कां. ६, सू. ९१

(ऋषिः– भृग्वंगिराः। देवता – यक्ष्मनाशनं, मन्त्रोक्ताः।)

इमं यव॑मष्टायो॒गैः ष॑ड्यो॒गेभि॑श्चर्कृषुः। तेना॑ ते त॒न्वो॒३ रपो॑ऽपाचीन॒मप॑ व्यये ॥ १ ॥

न्य१ग्वातो॑ वाति॒ न्य॑क्तपति॒ सूर्यः॑। नी॒चीन॑म॒घ्न्या दु॑हे॒ न्य॑ग्भवतु॒ ते॒ रपः॑ ॥ २ ॥

अर्थ—(इमं यवं) इस जौको (अष्टायोगैः षड्योगेभिः) आठ बैलोंकी जोडीवाले अथवा छः बैलोंकी जोडीवाले अथवा छः बैलोंकी जोडीसे की हुई (अचर्कृषुः) कृषिमें उत्पन्न करते हैं। (तेन ते तन्वः) उससे तेरे शरीरके (रपः अपाचीनं अपव्यये) रोगबीजको नीचेकी गतिसे दूर करते हैं ॥ १ ॥

(वातः न्यक् वाति) अपानवायु नीचेकी गतिसे चलता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य नीचेके भागमें तपता है, (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ नीचेके भागसे दूध देती है, इसी प्रकार (ते रपः न्यक् भवतु) तेरा दोष नीचेके द्वारसे दूर होवे ॥ २ ॥

आप इद्वा उं भेषजीरापों अमीवचातनीः । आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषधी है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोग दूर करनेवाला है, (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी औषधि है, (ता ते भेषजं कृण्वन्तु) वह जल तेरे लिये औषध बनावे ॥ ६ ॥

जल सब रोगोंको दूर करनेवाली औषधि है, जल सब दोष शरीरसे दूर करता है और सब विष दूर करके आरोग्य देता है। जलप्रयोगसे अपानकी निम्नगति होती है और उस कारण बद्धकोष्ठता दूर होती है। बद्धकोष्ठ दूर होनेसे पूर्ण आरोग्य होता है। इस आरोग्यके लिये उत्तम जौका अन्न खाना चाहिये और इस पथ्यके साथ अष्टांगयोग अथवा षडंगयोग करना चाहिये। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं। पहिले दो अंग अथवा अंतिम दो छोडनेसे, षडंगयोग होता है। इससे भी रोग दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है ॥

जलचिकित्सा

कां. ६, सू. ५७

(ऋषिः – शंतातिः। देवता – रुद्रः।)

इदमिद्वा उं भेषजमिदं रुद्रस्यं भेषजम् । येनेषुमेकंतेजनां शतशंल्यामपब्रवंत् ॥ १ ॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोपं सिञ्चत । जालाषमुग्रं भेषजं तेनं नो मृड जीवसें ॥ २ ॥

शं चं नो मयंश्च नो मा चं नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (इदं इत् वा उ भेषजं) यह जल निःसंदेह औषध है (इदं रुद्रस्य भेषजं) यह रुद्रका औषध है। (येन) जिससे (शतशल्यां एकतेजनां इषुं अपब्रवत्) अनेक शल्यवाले, एक दण्डवाले बाणके विरुद्ध शब्द बोला जाता है अर्थात् बाणका व्रण भी ठीक हो सकता है ॥ १ ॥

(जालाषेण अभि सिंचत) जलसे अभिषिंचन करो, (जालाषेण उपसिंचत) जलसे उपसिंचन करो। (जालाषं उग्रं भेषजं) जल बडी तीव्र औषध है। (तेन जीवसे नः मृड) उससे दीर्घ जीवनके लिये हमें सुखी कर ॥ २॥

(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो, (नः मयः च) हमें सुख मिले। (नः च किंचन आम-मत् मा) हमें कोई आमवाला रोग न होवे। (रपः क्षमा) सडावटसे बचाव किया जावे, (नः विश्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध प्राप्त हो, (नः सर्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह जल उत्तम औषध है। वैद्य इसका प्रयोग करते हैं। शस्त्रोंके व्रणको भी जलचिकित्सासे ठीक किया जा सकता है ॥ १ ॥

जलसे पूर्ण स्नान करो, आधा स्नान–कटिस्नान–भी जलसे करो। इससे रोग दूर होंगे, क्योंकि जल बडी तीव्र औषधि है। इस जलसे दीर्घजीवन प्राप्त होकर स्वास्थ्यका सुख भी प्राप्त हो सकता है ॥ २ ॥

जलसे शरीरकी शान्ति, समता, सुख और स्वास्थ्य प्राप्त होकर आमरोग दूर होते हैं शरीरकी सडावट नष्ट होती है। जल पूर्ण औषधि है, जल निःसंदेह सबकी औषधि है ॥ ३ ॥

इस सूक्तका अभिप्राय स्पष्ट है। जलचिकित्साका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। जलसे संपूर्ण शरीर भिगानेसे पूर्ण स्नान होता है और रोगवाला भाग भिगानेसे अर्धस्नान होता है। योजनापूर्वक इनका उपयोग करनेसे बहुत लाभ होता है जैसे—

१ ब्रह्मचर्य पालनके लिये शिश्नस्नान शीत जलसे करना तथा आसपासका प्रदेश अच्छी प्रकार भिगाकर शान्त करना।

२ कब्जी हटानेके लिये नाभिसे लेकर जंघातकका भाग पानीमें भीग जाय ऐसे बर्तनमें डालकर बैठ जाना और कपडेसे पेट और नाभिके नीचेके स्थानकी मालिश पानीमें करनेसे कब्जी हटती है। और आमके रोग दूर होते हैं शरीरमें सडनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार नमकजलसे नेत्रस्नान करनेसे नेत्र दूर दोष होते हैं। बिच्छूके विषकी बाधा हो जावे तो ऊपरसे सतत जल-धारा छोडनेसे विष उतरता है, परंतु इस विषयमें अधिक प्रयोग करना चाहिये।

ज्वरमें मस्तिष्क तपनेसे उन्माद हो तो सिरपर शीतजलकी पट्टी रखनेसे त्वरित उन्माद हट जाता है।

स्त्रियां या पुरुषोंके प्रमेह रोगके निवारणार्थ कटिस्नान उत्तम उपाय है। इन्द्रियस्नान और स्त्रियोंके लिये अन्तःस्नान भी उपयोगी है।

इस प्रकार योजनापूर्वक प्रयोग करनेसे प्रायः सभी रोग जलोपचारसे दूर हो सकते हैं।

जल

कां. ६, सू. २३

(ऋषिः- शंतातिः। देवता - आपः।)

सुस्रुषीस्तदुपसो दिवा नक्तं च सुस्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वरेण्यक्रतुः अहं) प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं (तत् सस्रुषीः) प्रवाहयुक्त जलधाराओं और (दिवा नक्तं च अपसः सस्रुषीः) दिन रात जलकी धाराओंके प्रवाहोंमें बहनेवाले (देवीः आपः) दिव्य जलको (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ १ ॥

(ओताः कर्मण्याः आपः) सर्वत्र व्यापक और कर्म करानेवाले जल (प्रणीतये इतः मुञ्चन्तु) उत्तम गतिको प्राप्त करनेके लिये इस निकृष्ट अवस्थासे मुझे छुडावें और (सद्यः एतवे कृण्वन्तु) शीघ्र ही मुझे प्रगतिशील करें ॥ २ ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सबकी उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी इस सृष्टिमें (मानुषाः कर्म कृण्वन्तु) मनुष्य पुरुषार्थ करें। और (अपः ओषधीः) जल और जलसे उत्पन्न हुई औषधियां (नः शं शिवाः च भवन्तु) हमारे लिये कल्याण करनेवाली होवें ॥ ३ ॥

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला और प्रवाहोंमें बहनेवाला जल सब मनुष्योंको सुख और शान्ति देवे और उस जलसे हृष्टपुष्ट हुए मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ करके उन्नतिको प्राप्त करें।

जल

कां. ६, सू. २४

(ऋषिः- शंतातिः । देवता – आपः ।)

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः । आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥
यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् । आपस्तत्सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥
सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन । दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ— (आपः हिमवतः प्रस्रवन्ति) जलधारायें हिमालयसे बहती हैं । हे (स-मह) महिमावाले ! (सिन्धौ संगमः) उनका संगम समुद्रमें होता है । वह (देवीः) दिव्य जलधाराएं (मह्यं तत् हृद्योत-भेषजं ददन्) मुझे वह हृदयके जलनकी औषध देती हैं ॥ १ ॥

(यत् यत् मे अक्ष्योः पार्ष्ण्योः प्रपदोः च) जो जो मेरी दोनों आंखों, एडियों और पावोंमें दुःख (आदिद्योत) प्रकट होता है, (तत् सर्वं) उस सब दुःखको (भिषजां सुभिषक्तमाः आपः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्यरूपी जल (निष्करत्) हटाता है ॥ २ ॥

(सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः) समुद्रकी पत्नियां और सागरकी रानियां (याः सर्वाः नद्यः स्थन) जो सब नदियां हैं, वे तुम (नः तस्य भेषजं दत्त) हमें उसकी औषधि दो (तेन वः भुनजामहै) उससे तुम्हारा हम उपभोग करें ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा

इस सूक्तमें जलका चिकित्सा धर्म लिखा है ! यहां जिस जलका वर्णन है वह जल हिमालय जैसे बर्फवाले पहाडोंसे बहनेवाला है, अन्य नहीं । यह हिमपर्वतोंसे बहनेवाले नद, नदी और अन्य झरने बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं । यह जल हृदयकी जलनको दूर करनेवाला है ।

आंख, पीठ, एडी, पांव आदि स्थानकी पीडा भी इस जलसे दूर होती है । यह जल (भिषजां सुभिषक्तमाः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य और औषधोंसे भी उत्तम औषधी है ।

ये सब नदियां महासागरकी स्त्रियां हैं, इनके जलप्रवाहोंमें औषध भरा पडा है, इसका उपयोग मनुष्योंको करना उचित है । यह नदीके जलप्रवाहका तथा सागरके जलका भी गुण हो सकता है ।

जलका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह बात इसमें स्पष्ट नहीं हुई है । तथापि जलचिकित्साके विषयकी खोज करते समय इस सूक्तका बहुत उपयोग हो सकता है ।

जल

कां. ३, सू. १३

(ऋषिः– भृगुः । देवता– वरुणः सिन्धुः ।)

यदुदः संप्रयतीरहावनदता हते । तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके हनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो बडा नाद करती हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम ' नदी ' पडा है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे नाम योग्य हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फके पिघल जानेसे जब नदियोंमें बाढ आती है, तब जलका बडा नाद होता है, यह ' नाद ' होता है इसलिये जल प्रवाहोंको ' नदी ' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥ १ ॥

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत । तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥
अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् । इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् । उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥
आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥
आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब वरुण द्वारा प्रेरित हुई तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्र ही मिलकर चलने लगीं, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमनशील तुमको 'प्राप्त' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम 'आपः' हुआ ॥ २ ॥

(स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि शक्तिभिः अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने शक्तियोंसे विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि 'वारण' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवीने तुम्हारा नाम 'वारि' रखा है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमाना नः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको 'उदक' [उत्-अकः] नामसे पुकारा जाता है ॥ ४ ॥

(आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाले हैं (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढानेवाले हैं (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं। (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला, तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है। हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

भावार्थ— जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, 'प्राप्त' होनेके कारण ही जलका नाम 'आपः' (प्राप्त होने योग्य) है ॥ २ ॥

जब वेगसे बहनेवाले जल प्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, उस कारण जलका नाम 'वार्' (वारि-निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देव अधिकारसें लाया और उनको उसने ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम 'उदक' (उत्-अक=ऊपरकी ओर प्राण गति करना) हो गया ॥ ४ ॥

यह जल निःसन्देह कल्याणकारक है, यह निश्चयपूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है। अग्नि और सोम इसको धारण करते हैं। यह जलनामक रस ऐसा मधुररस है कि पान करनेसे तृप्ति देता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥५॥

मनुष्य जलको आंखसे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है। शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है। जब मनुष्य इसको पीता है, तब उसको अमृतपान करनेके समान आनंद प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः । इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं । हे (शक्वरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ । (यत्र वः इदं वेशयामि) ताकि तुम्हारे अंदर मैं प्रवेश कर सकूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है जल मनुष्य पर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जल

जलके प्रवाह

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बतायी गई है ।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंमें बाढ आती है । नदियोंके भरनेका यह एक कारण है । नदियोंकी बाढका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना । पत्थरवाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं हैं अपितु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं । उसी प्रकारका अहि-शब्द है । अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे बाढ आनेसे जल प्रवाहोंका बडा नाद होता है, इसलिये नाद करनेके कारण जल प्रवाहका नाम ' नदी ' है, अर्थात् जिस जल प्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये ।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींच कर प्राप्त किया जाए तो उस जलको ' आप् ' कह सकते हैं ।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको ' वारि ' (वार्, वारं) कहा जाता है ।

जो जल–सूर्यकिरणों द्वारा बनी भापसे हो या अग्नि-द्वारा बनी हुई भापसे हो–पहले भाप बन कर फिर उस भापका जो जल बनता है उसको ' उदक ' कहते हैं । (उत्) भाप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) ऊपर प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है । मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम है । कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह नाम गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है ।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेने योग्य हैं । यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय माने जाते हैं और पर्याय समझ कर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृतभाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अंतर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है ।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है । (मं. ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति और अमृत भोजनसे मिल सकती है ।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हैं । जल इन सबकी माता है इसीलिये जलको ' माता ' वेदमें अन्यत्र कहा है । इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान् हो सकते हैं ।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें । यह जलस्नान बडा आरोग्यप्रद होता है । इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं ।

जलसूक्त

कां. १, सू. ३३

(ऋषिः- शन्तातिः । देवता - आपः, चन्द्रमाः)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ— जो (हिरण्य-वर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्णसे युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सविता जातः) जिनमें सविता उत्पन्न हुआ है और (यासु अग्निः) जिनमें अग्नि है, (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(यासां मध्ये) जिस जलके मध्यमें रहता हुआ (वरुणः राजा) वरुण राजा (जनानां सत्यानृते अवपश्यन्) जनोंके सत्य और असत्य कर्मोंका अवलोकन करता हुआ (याति) चलता है । (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ २ ॥

(देवाः दिवि) देव द्युलोकमें (यासां भक्षं कृण्वन्ति) जिनका भक्षण करते हैं, और जो (अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) अन्तरिक्षमें अनेक प्रकारसे रहता है और (याः सुवर्णाः) जो उत्तमवर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आप) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥३॥

हे (आपः) जल ! (शिवेन चक्षुषा मा पश्यत) कल्याणकारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो । (शिवया तन्वा मे त्वचं उपस्पृशत) कल्याणमय अपने शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो । जो (घृतश्चुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है (ताः नः शं स्योनाः भवन्तु) वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— अंतरिक्षमें संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिन मेघोंमेंसे सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत्‌रूपी अग्नि कभी व्यक्त और कभी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥ १ ॥

जिनमेंसे वरुण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है । जिन मेघोंने विद्युत् रूपी अग्निको गर्भके रूपमें धारण किया है, उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥ २ ॥

द्युलोकके देव जिसका रक्षण करते हैं और जो विविध रूपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युत्‌को धारण करते हैं, उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥ ३ ॥

जल हमारा कल्याण करे और उसका हमारे शरीरके साथ होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो । मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

वृष्टिका जल

इन चारों मन्त्रोंमें वृष्टिजलका काव्यमय वर्णन है। इन मन्त्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छन्द भी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठकको एक अद्भुत आनंदका अनुभव होता है। इन मन्त्रोंमें जलके विशेषण 'शुचि पावक, सु-वर्ण' आदि शब्द वृष्टिजलकी शुद्धता बता रहे हैं। वृष्टिजल जितना शुद्ध होता है, उतना शुद्ध कोई दूसरा जल नहीं होता। शरीर शुद्धिकी इच्छा करनेवाले दिव्यलोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और निरोग होता है। सामान्यतया वृष्टि जल शुद्ध ही होता है परन्तु जिस वृष्टिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशतीं हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मन्त्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है— "जलका स्पर्श हमारी चमडीको आल्हाद देवे।" जबतक शरीर नीरोग होता है, तबतक ही शीत जलका स्पर्श आनंदकारक प्रतीत होता है, परंतु शरीरके रुग्ण होते ही जलका स्पर्श बुरा लगने लगता है।
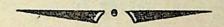
जलसूक्त

कां. १, सू. ४

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता- अपांनपात्, सोमः आपः)

पूर्व सूक्तमें आरोग्यसाधक जलका संक्षेपसे वर्णन किया है इसलिये अब उसी जलका विशेष वर्णन क्रमसे आगेके तीन सूक्तोंमें करते हैं—

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥
अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥
अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अध्वरीयतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलकी नदियां (अध्वभिः यन्ति) अपने मार्गोंसे जाती हैं जो (मधुना) मधु-शहदके साथ (पयः) दूध या जल (पृञ्चन्तीः) मिलाती हैं ॥ १ ॥

(याः) जो (अमूः) ये नदियां (उप सूर्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (याभिः) जिनके साथ सूर्य होता है। वे हम सबका (अध्वरं) यज्ञ (हिन्वन्ति) पूर्ण करती हैं ॥ २ ॥

(यत्र) जहां हमारी (गावः) गौवें पानी (पिबन्ति) पीती हैं उन (देवीः आपः) दिव्य जलोंकी (सिन्धुभ्यः) नदियोंके लिये (हविः कर्त्वं) देनेके कारण (उप ह्वये) में प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जल उनके लिए माता और बहिनके समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं। जलकी नदियां बह रही हैं, मानो वह दूधमें शहद मिला रही हैं ॥ १ ॥

जो जल सूर्यकिरणसे शुद्ध बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आरोग्य सिद्ध करे ॥ २ ॥

जिन नदियोंमें हमारी गौवें जल पीती हैं और जिनके लिये हवि बनायी जाती है उनके जलका गुणगान करना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (अप्सु अन्तः) जलमें अमृत है, (अप्सु भेषजं) जलमें दवाई है । (उत) और (अपां प्रशस्तिभिः) जलके प्रशंसनीय गुणधर्मोंसे (अश्वाः वाजिनः) घोडे बलवान् (भवथ) होते हैं और (गावः वाजिनी भवथः) गौवें भी बलयुक्त होती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जलमें अमृत है, जलमें औषध हैं, जलके शुभगुणसे घोडे बलवान् बनते हैं और गौवें भी बलवती बनती हैं ॥ ४ ॥

जलसूक्त

कां. १, सू. ५

(ऋषिः– सिन्धुद्वीपः । देवता – [अपांनपात्, सोमः] आपः)

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥
ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (आपः) जलो ! (हि) क्योंकि तुम (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) हो इसलिये (ताः) सो तुम (नः ऊर्जे) हमारे बलके लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बडी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

(यः) जो (वः) आपके अन्दर (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस है (तस्य) उसका (नः इह भाजयत) हमें यहां उसी प्रकार भागी बनाओ, (इव) जिस प्रकार (उशतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं पुत्रको अपने दूधका भागीदार बनाती हैं ॥ २ ॥

हे जलो ! (यस्य) जिसके (क्षयाय) निवासके लिये तुम (जिन्वथ) तृप्त करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः अरं गमाम) तुमको पूर्णतया प्राप्त करें । और तुम (नः) हमें (जनयथ) बढाओ ॥ ३ ॥

(वार्याणां) इच्छा करनेयोग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इसलिये (चर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलोंसे (भेषजं याचामि) औषधकी याचना करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— जल सुखकारक है, उससे बल बढता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी मिलती है ॥ १ ॥

जिस प्रकार पुत्रको माताके दूधसे पुष्टिका भाग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हों ॥ २ ॥

जिससे प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारी वृद्धि होती रहे ॥ ३ ॥

जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, उस जलसे हमें औषधरस प्राप्त होता रहे ॥ ४ ॥

जलसूक्त

कां. १, सू. ६

(ऋषिः – सिन्धुद्वीपः । देवता – (अपांनपात्) आपः, २ आपः सोमो अग्निश्च ।)

शं नो॑ देवीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा । अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वशं॑भुवम् ॥ २ ॥

आपः॑ पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे॒३॒॑ मम॑ । ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥

शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒३॒ः शमु॑ सन्त्वनू॒प्या॒ः ।

शं नः॑ खनि॒त्रिमा॒ आपः॒ शमु॒ याः कु॒म्भ आभृ॑ताः शि॒वाः नः॑ सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवीः आपः) दिव्य जल (नः शं) हमें सुख दे और (अभिष्टये) इष्टप्राप्तिके लिये तथा (पीतये) पीनेके लिये हो और (नः) हमपर शांतिका (अभि स्रवन्तु) स्रोत चलावे ॥ १ ॥

(मे) मुझे (सोमः अब्रवीत्) सोमने कहा कि (अप्सु अन्तः) जलमें (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं और (अग्निं) अग्नि (विश्व-शं-भुवं) सब कल्याण करनेवाला है ॥ २ ॥

(आपः) जलो ! (भेषजं पृणीत) औषध दो और (मम तन्वे) मेरे शरीरके लिए (वरूथं) संरक्षण दो, जिससे मैं सूर्यको (ज्योक् दृशे) दीर्घकालतक देखूं ॥ ३ ॥

(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः आपः) मरुदेशका जल (शं) सुखकारक हो, (अनूप्याः) जलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, (खनित्रिमाः) खोदे हुए कुंवे आदिका जल सुखदायक हो, (कुंभे) घडेमें भरा जल सुखदायक हो, (वार्षिकीः) वृष्टिका जल सुखदायक होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दिव्य जल हमें पीनेके लिये मिले और वह हमारा सुख बढावे ॥ १ ॥

जलमें सब औषधियां होती हैं और अग्नि सुख बढानेवाला है ॥ २ ॥

जलसे हमारी चिकित्सा होवे और शरीरका बचाव रोगोंसे होकर हमारी आयु दीर्घ बने ॥ ३ ॥

मरुदेशका, जलमय देशका, कुंवेका, वृष्टिका तथा घडोंमें भरा हुआ जल हमारा सुख बढानेवाला होवे ॥ ४ ॥

जलसूक्त

ये तीन सूक्त जलका वर्णन कर रहे हैं। तीनों सूक्त इकट्ठे हैं इसलिये तीनोंका विचार यहां इकट्ठा ही करेंगे।

जलकी भिन्नता।

जल भिन्न प्रकारका है यह बात पूर्व सूक्तोंमें कही है—

१ देवीः (दिव्यः) आपः (४।३)— आकाशसे अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाला जल, इसीका नाम 'वार्षिकी' भी है।

२ वार्षिकीः आपः (६।४)— वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल।

३ सिंधुः (४।३)— नदी तथा समुद्रसे प्राप्त होनेवाला जल।

४ अनूप्याः आपः (६।४)— जलमय प्रदेश प्राप्त होनेवाला जल।

५ धन्वन्याः आपः (६।४)— मरुदेश, रेतीले देशमें अथवा थोडी वृष्टिवाले देशमें मिलनेवाला जल।

६ खनित्रिमाः आपः (६।४)— खोदकर बनाये हुए कुएं बावलीसे प्राप्त होनेवाला जल ।

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल भी रेतीले स्थान, कीचडकी मिट्टीके स्थान आदिमें गिरनेसे भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। जिस स्थानमें सालों साल कीचड बना रहता है, उसमें पडे हुए पानीकी अवस्था भिन्न होती है और रेतीमेंसे प्राप्त हुए पानीके गुणधर्म भिन्न होते हैं। इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होते हैं। जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सबसे उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है।

उक्त जल जो बाहरसे प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घडोंमें रखनेके कारण उसके गुणधर्ममें बदल होता है। अर्थात् कुंवेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुंभे आभृताः ६।४) घडेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। तथा प्रवाही नदीका पानी और कुंवेके स्थिर पानीके गुणधर्म भी भिन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। यह दर्शानेके लिये निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। (४।२)

' वह जल जो सूर्यके सन्मुख रहता है, अथवा जिसके साथ सूर्य रहता है। ' अर्थात् सूर्यकिरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल भिन्न गुणधर्मवाला बनता है और सदा अंधेरेमें रहनेके कारण जिसपर सूर्यकिरणें नहीं गिरतीं उसके गुणधर्म भिन्न होते हैं। जिन कुंवोंपर वृक्षादिकी हमेशा छाया होती है और जिनपर छाया नहीं होती उनके जलोंके गुणधर्म भिन्न होते हैं। तथा—

अम्बयो यन्त्यध्वभिः (४।१)

' नदियां अपने मार्गसे चलती हैं। ' इसमें जलमें गतिका वर्णन है। यह गतिमान् जल और स्थिर जल विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। जिस प्रकार स्थिर जलमें कृमिकीटकों तथा सडावटका होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं। इसी प्रकार गतिकी मंदता और तेजीके कारण भी जलके गुणधर्मोंमें भेद होते हैं। तथा—

पृञ्चन्तीर्मधुना पयः। (४।१)

' मधु अर्थात् पुष्प-पराग आदिसे जलमें मिलावट होती है। ' इससे भी पानीके गुणधर्म बदलते हैं। नदी तालाबके तटपर वृक्षादि होते हैं और उस जलमें वृक्षवनस्पतियोंसे फूल, फूलके पराग, पत्ते आदि गिरते हैं, जलमें सडते या मिलते हैं। यह कारण है कि जिससे जलके गुणधर्म बदलते हैं तथा—

यत्र गावः पिबन्ति। (४।३)

' जिस जलाशयमें गौवें पानी पीती हैं, ' जहां गौवें, भैंसें आदि पशु जाते हैं, जलपान करते हैं। उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये। जो जलकी अवस्थाएं वर्णन की हैं, उनमें सबसे उत्तम अवस्थावाला जल ही पीने आदि कार्यके लिये योग्य है। हरएक अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जल लाभदायक नहीं होगा। वेदने ये सब जलकी अवस्थाएं बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उत्तम, मध्यम, अधम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उत्तम आरोग्य प्राप्त करना हो तो उत्तमसे उत्तम पवित्र जल ही लेना चाहिये।

जलमें औषध

जलका नाम ही ' अमृत ' है अर्थात् जीवनरूप रस ही जल है यही बात मंत्र कहता है—

अप्सु अमृतम्। (४।४)
अप्सु भेषजम्। (४।४)

' जलमें अमृत है, जलमें औषध है, ' जल अमृतमय है और औषधिमय है। मरनेसे बचानेवाला अमृत कहलाता है, और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोषता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणोंसे युक्त है। इसीलिये कहा है कि—

शिवतमः रसः। (५।२)

' जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है। ' केवल ' शिवो रसः ' कहा नहीं है, अपितु ' शिवतमो रसः ' कहा है, इससे स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्य शब्दोंसे भी वेद स्पष्ट कर रहा है—

आपः मयोभुवः। (५।१)

' जल हितकारक है। ' यहांका ' मयस् ' शब्द ' सुख, आनंद, समाधान, तृप्ति ' आदि अर्थका बोध कराता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न हो तो उससे आनंदका बढना असंभव है। इसलिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसीलिये कहा है—

अप्सु विश्वानि भेषजानि । (६।२)

'जलमें सब दवाइयां हैं।' जलमें केवल एक ही रोगकी औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियां हैं। इसीलिये हरएक बीमारीका जलचिकित्सासे इलाज किया जा सकता है। योग्य वैद्य और पथ्यपालन करनेवाला रोगी हो, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा। इसलिये कहा है—

आपः पृणीत भेषजम् । (६।३)
अपो याचामि भेषजम् । (५।४)

'जल औषध देता है। जलसे औषध मांगता हूं।' अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है। रोगोंकी निवृत्ति जलचिकित्सासे हो सकती है। रोगोंके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप्त धातुओंमें समता स्थापित करना जलचिकित्सासे संभव है।

समता और विषमता

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है। समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके 'शं, शांति' आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका भाव 'योः' शब्द वेदमें प्रकट कर रहा है। दोनों मिलकर 'शं–योः' शब्द बनता है। इसका संयुक्त तात्पर्य 'समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना' है। इसलिये कहा है—

शं योरभि स्रवन्तु नः । (६।१)

समताकी स्थापना और विषमताको दूर करनेका काम हमारे लिये जलकी धाराएं करें।' किंवा जलधाराएं उक्त दोनों बातोंका प्रभाव हमपर छोडें। जलसे उक्त दोनों बातें सिद्ध होती हैं यह बात यहां सिद्ध की है। तथा—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु । (६।१)

'दिव्य जल हमारे लिये शान्तिकारक हो।' इसमें भी वही भाव है। (सूक्त ६, मं ४) यह मंत्र तो कईंवार शांति या समताका उल्लेख करता है। समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना, इन दो कार्योंसे ही उत्तम रक्षा होती है, इसीलिये मन्त्रमें कहा है—

वरूथं तन्वे मम । (६।३)

'मेरे शरीरका रक्षण' जलसे हो। 'वरूथ' का अर्थ 'संरक्षक कवच' है। जलका वर्णन 'रक्षक कवच' से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है। यह भाव स्पष्ट है।

बलकी वृद्धि

उक्त प्रकारसे आरोग्यके प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढानेका प्रश्न आता है। इस विषयमें मंत्र कहता है—

नः ऊर्जे दधातन । (५।१)

'हमें बलके लिये पुष्ट करो' अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बलका बढना भी संभव है। विषमता दूर होकर समताकी स्थापना हो जाए तो बल बढ सकता है। जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढती है। देखिये—

महे रणाय चक्षसे । (५।१)

'बडी (रणाय) रमणीयताके लिये' जलका उपयोग होता है। जलसे शरीरकी रमणीयता बढ जाती है। शरीरकी बाह्य शुद्धि होकर जैसी सुंदरता बढती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि भी करता है। इसलिये जल आरोग्य बढाकर शरीरका सौंदर्य बढानेमें सहायक होता है। आरोग्यके साथ सुंदरताका विशेष संबंध है। तात्पर्य यह कि जल मनुष्यकी यहांकी सुस्थितिका कारण होता है, इसलिये कहा है—

क्षयाय जिन्वथ । (५।३)
क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । (५।४)

'निवासके लिये तृप्ति करते हो। प्राणियोंके निवासका कारण हो।' इन मंत्रोंका स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी सुस्थितिका मुख्य हेतु है। इसीलिये कहते हैं—

ईशाना वार्याणाम् । (५।४)

'स्वीकार करने योग्य गुणोंका अधिपति जल है।' अर्थात् प्राणियोंको जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है। उनका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बनता है।

दीर्घ आयुष्यका साधन

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घआयुका साधक जल है यह बात इस भागमें देखिये—

ज्योक् च सूर्यं दृशे । (६।३)

'बहुत दिनतक सूर्यका दर्शन करूं!' यह एक मुहावरा है। इसका अर्थ है कि—

'मैं बहुत दीर्घआयुतक जीवित रहूँ' अर्थात् जलके उपयोगसे दीर्घआयु प्राप्त करना संभव है। 'ज+ल' यह है कि जो जन्मसे लेकर लयतक उपयोगी है।

प्रजनन-शक्ति

जलका नाम वीर्य है। इसकी सूचना भिन्न मंत्रभागसे मिलती है—

आपो जनयथा च नः । (५।३)

' जल हमें उत्पन्न करता है। ' अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति पैदा होती है। आरोग्य, बल, दीर्घआयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजननशक्तिके साथ निकट संबंध है, इसलिये इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकरण है और इसका वर्णन मंत्रमें निम्न प्रकार हुआ है–

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः। (४।४)

' जलके प्रशस्त गुणोंसे अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौवें (स्त्रियें) वाजिनी बनती हैं। ' वाजी शब्द प्रजननशक्तिसे युक्त होनेका भाव बता रहा है। अश्व और गौ शब्द यहां पुरुष और स्त्री जातिका बोध करते हैं। जलके प्रयोगसे वाजीकरणकी सिद्धि इस प्रकार यहां बताई है। तथा और देखिये—

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम्। (४।१)

' यज्ञकर्ताओंकी माताएं और बहिनें अपने मार्गोंसे जाती हैं। ' जो स्त्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती हैं। अर्थात् नियमानुकूल बर्ताव करती हुई प्रगति करती हैं। स्त्री पुरुष अपने योग्य नियमोंसे चलेंगे तभी उत्तम प्रजननका होना संभव है, इस बातकी सूचना यहां मिलती है।

इस रीतिसे इन तीनों सूक्तोंमें जलविषय महत्त्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया है।

वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति

कांड ३, सूक्त १५

(ऋषिः – अथर्वा। देवता – विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी।)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूं (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-एता अस्तु) हमारा अगुवा होवे। (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर लूट करनेवाले पाशवीभावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदा अस्तु) वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति) द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, (ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि) जिससे क्रय विक्रय करके मैं धन प्राप्त करूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने आनेके जो दिव्यमार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध ॥ ५ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (इच्छमानः तरसे बलाय इध्मेन घृतेन हव्यं जुहोमि) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला संकटसे बचनेके लिये और बल-प्राप्तिके लिये ईन्धन और घीके द्वारा हवन करता हूं । (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिको क्षमा कर । (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक हम आगये हैं, (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभकारक हो । (प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे । (इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां) इस हविको जानकर सेवन करो । (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लाभकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) कम न होवे । हे अग्ने ! (हविषा सातघ्नः देवान् निषेध) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले देवोंका तू निषेध कर ॥५॥

हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमानेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तस्मिन् मे रुचिं) उसमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव (आदधातु) स्थिर कर देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इसलिये मैं घी और समिधासे हवन करता हूं । इससे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आगये हैं । हे प्रभो ! यहां कोई त्रुटि हमसे होगई हो तो क्षमा कर । यहां जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय । हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे । इसके लिये हम यह हवन करते हैं उसका सेवन कर ॥ ४ ॥

मैं मूल धनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे । मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तू मेरे व्यवहारमें लाभका नाश करनेवाले जो कोई हों उनको दूर कर ॥ ५ ॥

अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी रुचि लाभके प्राप्त होनेतक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

उप॑ त्वा॒ नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥
वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रेमाश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (होतः वैश्वानर) याजक वैश्वानर ! (वयं नमसा त्वा उपस्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारी आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको उसी प्रकार भरें, (तिष्ठते अश्वाय इव) जिस प्रकार स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (रायः पोषेण इषा सं मदन्तः) धन पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न हों ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारी आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एकस्थानपर रखे हुए घोडे को खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं, उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन पुष्टि और अन्न प्राप्त करें, बहुत आनंदित हों और कभी दुःखसे त्रस्त न हों ॥ ८ ॥
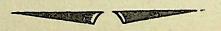
वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति

वाणिज्य व्यवहार

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रय विक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को ' वणिजं इंद्रं ' (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्‌भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु। ऋ. १।६५।१) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्‌भुत अलंकार है, उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रुपिया लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह ' पुराना सबसे बडा बनिया ' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं, उतना ही उनको पुण्य मिलता है। इस प्रकार इस इन्द्र बनियेने जगत् के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्ष-पात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है। इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जायेगा, उतना ही उससे वापस मिलेगा। इसलिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये, जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, वह उपदेश यहां मिलता है।

व्यापार व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी

सत्यस्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये।

हवनका निर्देश मं. ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है। हवन का अर्थ है ' अपना समर्पण '। अपने पासके पदार्थ परमार्थ के लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है। ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है। इसलिये व्यापार व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये। धन कमाने वाले इस आदेशका योग्य विचार करें। जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है। इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है।

व्यापारका स्वरूप

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आये हैं वे अब देखिये—

१ धनं- मूल धन, सरमाया, जिस मूलधनसे व्यापार किया जाता है। (मं. ५, ६)
२ धनं- लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम। (मं. ५,६)
३ वणिक्- व्यापारी क्रयविक्रय करनेवाला। (मं. १)
४ धनदा- व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं। साहुकार। (मं. १)
५ प्रपणः- सौदा, खरीद फरोक्त। (मं. ५)
६ विक्रयः- खरीदा हुआ माल बेचना। (मं. ४)
७ प्रतिपणः- प्रत्येक सौदा। (मं. ४)
८ फली (फलिन्)- लाभ युक्त होना। (मं. ४)
९ शुनं- कल्याणकारी, लाभकारी, हितकर। (मं. ४)
१० चरितं- व्यवहार करनेके लिये हलचल करना। (मं. ४)
११ उत्थितं- उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं. ४)
१२ भूयः (धनं)- व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं. ५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियेके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते है और इन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका ' क्रय ' कहां करना योग्य है और उसका ' विक्रय ' कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर बिक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें ' चरितं ' कहा है।

इन सब शब्दोंमें ' उत्थित ' शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, उठना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक ' वैयक्तिक उत्थान ' और दूसरा सामुदायिक ' संभूय समुत्थान ' है। एक व्यक्ति चढाईकी नीतिसे व्यापार करता है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठासे हैं उसको ' संभूय समुत्थान ' कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा ' चरित ' ही कार्य नहीं करता, अपितु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है।

व्यापारके विरोधी

१ सातघ्नः- (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिससे कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं. ५)
२ सातघ्नः देवः- लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव्- ' जुवा खेलना ') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतोंवाला मनुष्य। (मं. ५)
३ परिपन्थिन्- बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आने जाने वालोंको जो लूटते हैं। (मं. १)
४ मृगः- पशु, पशुभाव वाला मनुष्य। (मं. १)
५ अ-रातिः- कंजूस, दान न देनेवाला। (मं. १)
६ कनीयः (धनं)- व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी। (मं. ५)

इनके कारण व्यापार व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये।

व्यापार व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है। पहले विघ्नकारी 'सातघ्न देव' हैं। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्य चकित हो जायगे। 'देव' शब्दके अर्थ 'जुआडी खेलमें समय वितानेवाला' ऐसा भी होता है। वह अर्थ 'दिवू' 'जुआ खेलना' उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले हों उन व्यवहारोंको करनेवालेको यहां 'सातघ्न देव' समझना चाहिये। (सात) लाभका (घ्न) नाश करने वाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपन्थि' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि 'जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।' सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूलधन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना (मा कनीयः। मं. ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह कभी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती है।

दो मार्ग

व्यापार करनेके लिए देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है। अन्यथा बडे व्यापारका होना अशक्य है। देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिए उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिए। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भयदायक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उसको 'देवयानाः पन्थानः' (मं. २) कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं, ऐसे मार्गपर लूटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते हैं। जहां आने जानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभदायक होता है।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिन पर इन निशाचरोंका आना जाना होता है। ये ही 'परिपन्थी' अर्थात् बटमार, चोर, लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट लेते हैं। इन मार्गोंपरसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिए जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करनेके लिए प्रयत्न होने आवश्यक हैं। वाणिज्यकी वृद्धि करनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छीप्रकार होनेके लिए दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो, वहां खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये। रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबन्ध बना बनाया रहना चाहिए। उचित धन देकर रहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिए, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—

> ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन।
> तथा क्रीत्वा धनमाहरामि। (मं. २)

'वे देशदेशांतरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन करनेका व्यवहार कर सकूं।' बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबन्ध अपना स्वयं ही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा। इसलिये मन्त्रके कथनानुसार 'मार्ग ही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे' तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्त्वपूर्ण है और व्यापारकी वृद्धिके लिए सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिए। इस विषयमें तृतीय मन्त्रका कथन अत्यन्त विचारणीय है—

> देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे। (मं. ३)

'दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।'

यहांका 'धी' शब्द 'प्रज्ञा बुद्धि और कर्मशक्तिका

वाचक है ज्ञानपूर्वक हरएक कर्म करना चाहिए। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिए। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धि का सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिए आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुचि स्थिर होनी चाहिए—

तस्मिन् रुचिं आदधातु। (मं. ६)

'उस कार्यमें रुचि स्थिर होवे' यह बात अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचलवृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसों पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति

सब कार्योंकी सिद्धिके लिए परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिए। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मन्त्रोंका कथन बडा मननीय है। 'ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिए।' क्योंकि वही शरणके योग्य है उसीकी शक्ति द्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिए, जिससे वह सब कामधन्धेमें यश देगा और धन, पुष्टि, सुख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर-उपासना तो सबकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

चन्द्र और पृथ्वीकी गति

कांड ६, सूक्त ३१

(ऋषिः - उपरिबभ्रवः। देवता - गौः।)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं गौः) यह गतिशील चन्द्रमा (मातरं पुरः असदत्) अपनी माता भूमिको आगे करता है और (पितरं स्वः च प्रयन्) अपने पितारूपी स्वयं प्रकाशी सूर्यके चारों ओर घूमता हुआ (पृश्निः आ अक्रमीत्) आकाशमें गमन करता है ॥ १ ॥

(अस्य रोचना) इसकी ज्योति (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अंदर संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अख्यत्) बडे स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ २ ॥

(वस्तोः त्रिंशत् धामा) अहोरात्रके तीस धाम अर्थात् मुहूर्त (अहः द्युभिः प्रतिविराजति) निश्चयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतंगः अशिश्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आश्रय करती है ॥ ३ ॥

चंद्र भूमिके चारों ओर भ्रमण करता है और भूमिसहित चन्द्र सूर्यके चारों ओर घूमता है। इस प्रकार भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है।

इसकी किरणें सब स्थावरजंगमके ऊपर प्रकाशित होती हैं और वे सूर्य प्रकाशके महत्वको व्यक्त करती हैं।

अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इसका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है। इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा करनी चाहिए॥

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग पांचवा]

मेधाजनन, संगठन और विजय

सु भा षि त

कांड. १; सूक्त. १

१. श्रुतेन संगमेमहि, श्रुतेन मा वि राधिषि-(४) हम सब ज्ञानसे युक्त हों, हम कभी भी ज्ञानसे विरोध न करें।

कां. ६; सू. १०८

२. मेधे त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि-(१) तू हमारे पास प्रथम स्थानमें पूज्य है।

३. ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां मेधां देवानां अवसे हुवे-(२) मैं ज्ञानियों द्वारा सेवित और ऋषियों द्वारा प्रशंसित मेधाबुद्धिकी अपनी इन्द्रियोंके संरक्षणके लिए स्तुति करता हूँ।

कां. ७; सू. ६१

४. तपसा श्रुतस्य प्रियाः आयुष्मन्तः सुमेधसः भूयास्म-(१) तपसे हम ज्ञानप्रिय दीर्घायु और उत्तम बुद्धिशाली हों।

कां. २; सू. १२

५. यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्-(२) जो हमारे इस मनको बिगाडता है, उसे पापके पाशोंसे बांधकर नियममें रखा जाये।

६. यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति, तं वृक्षं कुलिशेन इव, वृश्चामि-(३) जो हमारे मनको बिगाडता है, उसको हम उसी तरह काट देते हैं, जिस प्रकार कुल्हाडीसे पेडको काटते हैं।

७. अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु-(५) अनिष्ट कार्य करनेवाला पापको प्राप्त हो।

कां. ६; सू. ६३

८. यत् अविमोक्यं दाम ते ग्रीवासु आवबन्ध, ते आयुषे बलाय वर्चसे वि स्यामि-(१) सहजमें न छूटनेवाला जो बंधन तेरे गलेमें बांधा गया है उसे तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विताके लिए खोल देता हूँ।

९. तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु-(२) उस नियामक मृत्युको मेरा नमस्कार हो।

१०. अग्ने ! अर्यः सः नः वसूनि आभर-(४) हे अग्ने ! तू सबसे श्रेष्ठ है तू हमें धन दे।

कां. ६; सू. ४२

११. धन्वनः ज्यां इव, ते हृदः मन्युं अवतनोमि, यथा संमनसौ भूत्वा सखायौ इव सचावहै-(१) जिस प्रकार धनुषसे डोरी उतार देते हैं, उसी प्रकार तेरे हृदयसे क्रोध दूर करता हूँ, ताकि एक मनवाले होकर मित्रके समान परस्पर मेल-मिलापसे रहो।

१२. ते मन्युं प्रपदेन अभितिष्ठामि, यथा अवशः न अवादिवः-(३) तेरे क्रोधको मैं पैरसे दबा देता हूँ, ताकि तू पराधीनताकी बात न कर सके।

कां. ५; सू. ६७

१३. तनू-न-पात्, असु-रः, भूरि-पाणिः-(१) यह अग्नि शरीरको न गिरानेवाला, जीवनदाता और अनेक हाथों अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त है।

१४. अयं अग्निः देवेषु देवः-(२) यह अग्नि सब देवोंमें मुख्य है।

१५. नराशंसः सुकृत् विश्ववारः अग्निः मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति- (३) मनुष्योंके द्वारा प्रशंसित, उत्तम कर्म करनेवाला सभीके द्वारा वरणीय यह अग्नि मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करता हुआ जाता है।

१६. इडा, सरस्वती, भारती, मही तिस्रः देवीः इदं बर्हिः सदन्ताम्- (९) मातृभाषा, मातृसभ्यता-संस्कृति और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये तीनों देवियां यज्ञमें आकर सुशोभित हों।

कां. २; सू. ६

१७. यानि सत्या त्वा वर्धयन्तु- (१) जो सत्यधर्म हैं, वे तुझे बढायें।

१८. ते उपसत्तारः मा रिषन्, यशसः सन्तु, मा अन्ये- (२) हे अग्ने ! तेरे उपासक नष्ट न हों, वे ही यशस्वी हों, दूसरे न हों।

१९. सपत्नहा अभिमातिजित् स्वे गये जागृहि- (३) शत्रुओंका नाश करनेवाला, अभिमानियोंको जीतनेवाला यह अग्नि अपने घरमें हमेशा जागृत रहता है।

२०. मित्रेण मित्रधा यतस्व- (४) अपने मित्रके साथ मित्रताका व्यवहार करना चाहिए।

कां. २; सू. ७

२१. देवजाता शपथ-योपनी वीरुत् सर्वान् शपथान् मत् अवैक्षीत्- (१) देवोंके द्वारा पैदा की गई शापको दूर करनेवाली औषधी सब शापोंको मुझसे धो डाले।

२२. अरातीः नः मा तारीत्- (४) अनुदार शत्रु मुझसे आगे न बढें।

कां. १; सू. २२

२३. हरिमा गो रोहितस्य वर्णेन त्वा परि दध्मसि- (१) तेरा पीला रंग सूर्य अथवा गायके रंगसे दूर कर हम तुझे हर तरहसे हृष्टपुष्ट करते हैं।

२४. रोहितैः वर्णैः त्वा दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि- (२) लाल सूर्यके रंगसे तुझे दीर्घायुके लिए चारों ओरसे घेरते हैं।

कां. ८; सू. ७

२५. सहमानाः औषधीः यत् वः सहः वीर्यं बलं, तेन इमं पुरुषं अस्मात् यक्ष्मात् मुंचत- (५) हे रोगनाशक औषधियो ! तुम्हारा जो सामर्थ्य, वीर्य और बल है, उससे इस पुरुषको यक्ष्माके रोगसे बचाओ।

२६. मधोः संभक्ता वीरुत् अमृतस्य भक्षः- (१२) मधुरतासे भरपूर यह औषधी अमृतका अन्न ही है।

२७. ताः सहस्रपर्ण्यः मा अंहसः मृत्योः मुंचन्तु- (१३) यह हजार पत्तोंकी औषधी मुझे पापरूपी मृत्युसे बचावे।

२८. वीरुधां वैय्याघ्रः मणिः अभिशस्ति-पाः त्रायमाणः- (१४) औषधियोंसे तैय्यार किया गया बाघके समान प्रतापी मणि विनाशसे बचानेवाला संरक्षक है।

२९. अश्वत्थः दर्भः सोमः हविः अमृतं व्रीहिः यवः अमर्त्यौ भेषजौ- (२०) पीपल, दर्भ, सोम, अन्न, पानी, चावल और जौ ये अमर औषधियां है।

३०. तस्य अमृतस्य इमं बलं इमं पुरुषं पाययामसि, यथा शतहायनः असत्- (२२) उस अमृतकी यह शक्ति इस पुरुषको पिलाता हूँ, ताकि यह शतायु हो।

३१. पुष्पवतीः फलिनीः अस्मै अरिष्टतातये संमातरः इव दुह्राम्- (२७) फूल और फलोंसे युक्त यह औषधी इसके सुख और शान्तिके लिए उत्तम माताके समान रस प्रदान करे।

कां. २; सू. २५

३२. पृश्निपर्णी हि उग्रा कण्व जम्भनी- (१) पृश्निपर्णी औषधि प्रचंड रोगनाशक है।

कां. ७; सू. ६५

३३. यत् दुष्कृतं यत् शमलं, यत् वा पापया चेरिम, त्वया तत् अप मृज्महे- (२) जो दोष या कलंक मैंने किया हो अथवा पापीसे व्यवहार करनेके कारण हुआ हो, उसे हम तेरी सहायतासे दूर करते हैं।

कां. ४; सू. १७

३४. या शपनेन शशाप, या मूरं अघं आदधे- (३) जो चिल्लाकर दुष्ट शब्द बोलता है, जो मूर्खता बढानेवाले पापोंको धारण करता है, उसे हम इस औषधीसे निष्पाप करते हैं।

३५. दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं अस्मत् नाशयामसि- (५) बुरे स्वप्न तथा दुःखदायक जीवन हम विनष्ट करते हैं।

३६. क्षुधामारं तृष्णामारं अ-गो-तां, अन् अपत्यतां अप मृज्महे- (६) भूख प्याससे मरना, इन्द्रियों अथवा वाणीके दोष, सन्ततिका न होना अथवा नपुंसकता ये सभी दोष हम अपामार्गसे दूर करते हैं।

कां. ४; सू. १८

३७. अनया ओषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम्- (५) इस औषधीसे सभी दुष्ट कृत्योंका मैं नाश करता हूँ।

कां. ४; सू. १९

३८. नार्-सदेन कण्वेन परि उक्ता असि- (२) मनुष्यकी सभामें बैठनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंने इस अपामार्ग औषधीका वर्णन किया है।

३९. यत्र प्राप्नोषि, तत्र भयं न अस्ति- (२) जहां यह औषधी प्राप्त होती है, वहां किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता।

कां. ६; सू. १०९

४०. पिप्पली क्षिप्तभेषजी, उत अतिविद्धभेषजी, इयं जीवितवै अलम्- (१) पिप्पल औषधी उन्माद और बवासीरके लिए एक उत्तम औषध है, यह औषध जीवनके लिए पर्याप्त है।

४१. यं जीवं अश्नवामहै सः पुरुषः न रिष्याति- (२) जो इस पीपलका भक्षण करता है, वह मरता नहीं।

कां. ४; सू. १२

४२. छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी- (१) यह रोहिणी औषधी टूटी हुई हड्डीको जोड देती है।

कां. ५; सू. ४

४३. सुपर्णसुवने गिरौ हिमवतः परिजातः वीरुधां बलवत्तमः- (२) जहां गरुडपक्षी रहता है, ऐसे हिमालयकी चोटीपर उत्पन्न होनेवाली यह कुष्ट औषधी सभी औषधियोंमें अत्यधिक बल देनेवाली है।

४४. देवेभ्यः अधिजातः सोमस्य सखा- (७) यह औषधी देवोंसे उत्पन्न हुई है और विद्वानोंकी मित्र है।

कां. ५; सू. ५

४५. यः त्वा पिबति, जीवति- (२) जो लाक्षा औषधीको पीता है, वह जीवित रहता है।

कां. ६; सू. ५२

४६. विश्वदृष्टः आदित्यः अदृष्टहा सूर्यः- (१) सबको देखनेवाला, सबको ग्रहण करनेवाला और अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला यह सूर्य है।

कां. २; सू. ४

४७. दीर्घायुत्वाय बृहते रणाय वयं बिभृमः- (१) दीर्घायुष्यकी प्राप्ति और महान् आनन्दके लिए हम इस मणिको धारण करते हैं।

४८. जंगिडः मणिः जम्भारात् शरात् स्कंधात् शोचनात् परिपातु- (२) यह जंगिडमणि जम्हाईके रोगसे, शरीरको क्षीण करनेवाले रोगसे और शरीरको सुखानेवाले सूखारोगसे सबका संरक्षण करता है।

४९. सहस्वान् जंगिडः नः आयूंषि तारिषत्- (६) यह बलवान् जंगिडमणि हमारी आयु बढावे।

५०. वर्चसे, बलाय आयुषे दीर्घायुत्वाय शतशारदाय बध्नामि- (७) मैं इस मणिको तेज, बल, आयु, जीवन और सौ वर्षकी पूर्ण आयुके लिए बांधता हूं।

कां. ८; सू. ५

५१. अयं प्रतिसरो वीराय बध्यते- (१) शत्रुपर आक्रमण करनेवाला यह मणि वीरपुरुषके बांधी जाती है।

५२. जगतां अनड्वान् इव, श्वापदां व्याघ्रः इव औषधीनां उत्तमः असि- (११) गतिशील प्राणियोंमें बैलके समान और हिंसक प्राणियोंमें बाघके समान यह उत्तम औषधि है।

५३. य इमं मणिं बिभर्ति, स व्याघ्रः भवति, अथो सिंहः अथो वृषः अथो सपत्नकर्शनः- (१२) जो यह मणि धारण करता है, वह निश्चितरूपसे बाघके समान होता है, अथवा सिंहके समान होता है, अथवा बैलके समान शत्रुओंका दमन करनेवाला होता है।

५४. नः अधरात्, उत्तरात्, पश्चात् असपत्नं ज्योतिः पुरः कृधि- (१७) हमारे नीचे, ऊपर और पीछेसे अद्वितीय प्रकाश फैला।

५५. तत् उग्रः बहुलं ऐन्द्राग्नं बृहत् वर्म मे तन्वं सर्वतः त्रायतां, यथा जरदष्टिः आयुष्मान् असानि- (१९) इन्द्र और अग्निका वह बडा कवच मेरे शरीरकी सब ओरसे रक्षा करे, ताकि मैं वृद्धावस्थामें भी कार्य करनेमें समर्थ होऊं।

कां. ११; सू. ८

५६. देवेभ्यः दश देवाः साकमजायन्त, यो वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्, स वै अद्य महत् वदेत्- (३) देवोंमें

दस देव एक ही समय उत्पन्न हुए, जो उनको प्रत्यक्ष देखता है, वही महान् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है।

५७. तप कर्म एव च महति अर्णवे आस्ताम्- (६) तप और कर्म महान् संसाररूपी समुद्रमें थे।

५८. कर्मणः ह तपः जज्ञे- (६) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ।

५९. ते तत् ज्येष्ठं उपासते- (६) तप और कर्म करनेवाले सब उस ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं।

६०. ते देवाः संसिचः नाम- (१३) उन देवोंका नाम 'संसिच्' (सिंचन करनेवाले) हैं।

६१. सर्वं मर्त्यं संसिच्य देवाः आविशन्- (१३) मरणधर्मसे युक्त इस शरीरमें सिंचन करके ये देव फिर पुरुषमें प्रविष्ट हुए।

६२. सर्वे देवाः उपशिक्षन्, तत् सती वधूः अजानात्- (१६) सब देवोंने जो उपदेश दिया, उसे सती वधू अर्थात् बुद्धिने जान लिया।

६३. या वशस्य ईशा जाया, सा अस्मिन् वर्णं आभरत्- (१७) सबको वशमें रखनेवाली ईशभक्ति नामकी जो पत्नी है, उसने इस शरीरमें रंग भरा।

६४. त्वष्टा यदा व्यतृणत्, मर्त्यं गृहं कृत्वा देवाः पुरुषं आविशन्- (१८) त्वष्टाने जब इस शरीरमें छिद्र किए, तब मरणशील इस शरीरको घर बनाकर देवोंने इस पुरुष शरीरमें प्रवेश किया।

६५. ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्- (२३) ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और ब्रह्मवेद इन्होंने शरीरमें प्रवेश किया।

६६. अस्थि कृत्वा समिधं अष्ट आपः असादयन्- (२९) इन हड्डियोंकी समिधा बनाकर आठ प्रकारके पानीने सब शरीरकी रचना की।

६७. रेतः आज्यं कृत्वा देवाः पुरुषं आविशन्- (२९) वीर्यका घी बनाकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया।

६८. आपः देवताः विराट् ब्रह्मणा सह ब्रह्म शरीरं प्राविशत्- (३०) पानी, देवता और ब्रह्माके साथ विराट् इनके साथ ब्रह्माने शरीरमें प्रवेश किया।

६९. पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः प्राणं वातः विभेजिरे- (३१) पुरुषकी आंख सूर्य और प्राण वायु है।

७०. तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते- (३२) इसलिए ज्ञानी पुरुषको ब्रह्मरूप ही मानता है।

७१. सर्वाः देवताः अस्मिन्, गावः गोष्ठे इव, आसते- (३२) सब देव इस शरीरमें उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार सारी गायें गौशालामें रहती हैं।

कां. ४; सू. ९

७२. पर्वतस्य जीवं त्रायमाणं अक्ष्यं जीवनाय कम्- (१) यह पर्वतसे उत्पन्न होनेवाला अंजन जीवकी रक्षा करनेवाला, आंखोंके लिए लाभदायक और जीवनके लिए सुखकारक है।

७३. पुरुषाणां गवां परिपाणं- (२) यह अञ्जन पुरुषों और गायोंका रक्षक है।

७४. यः त्वा बिभर्ति, एनं शपथः, कृत्या, अभिशोचनं न अश्नुते- (५) जो इस अञ्जनको धारण करता है, उसे दुष्टभाषण, हिंसककर्म और शोक प्राप्त नहीं होते।

७५. तस्मात् घोरात् चक्षुषः नः पाहि- (६) हे अञ्जन! इस भयंकर नेत्रके रोगसे हमारी रक्षा कर।

कां. ७; सू. २९

७६. अग्नाविष्णू! दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ- (१) हे अग्नि और विष्णु! तुम प्रत्येक घरमें सात सात रत्न धारण करते हो।

कां. ११; सू. ५

७७. ब्रह्मचारी उभे रोदसी चरति, दिवं पृथिवीं दाधार- (१) ब्रह्मचारी पृथ्वी और द्युलोक इन दोनोंमें जाता है और पृथ्वी तथा द्युलोकको धारण करता है।

७८. तस्मिन् सर्वे सम्मनसः भवन्ति- (२) इस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूलतासे रहते हैं।

७९. सः सर्वान् देवान् तपसा पिपर्ति- (२) वह ब्रह्मचारी सब देवोंका अपने तपके सामर्थ्यसे पालन करता है।

८०. घर्मं वसानः उत् अतिष्ठत्- (५) वह ब्रह्मचारी उष्णताको धारण करते हुए तपसे उन्नत होता है।

८१. ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म जानं- (५) वह ब्रह्मविषयक श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है।

८२. लोकान् संगृभ्य पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं सद्यः एति- (६) वह लोगोंका संगठन करके पूर्वीय समुद्रसे उत्तरीय समुद्रतक घूमता है।

८३. ब्रह्मः अपः लोकं प्रजापतिं विराजं परमेष्ठिनं जनयन्- (७) वही ज्ञान, कर्म, जनता, प्रजापालक, राजा और विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको प्रकट करता है।

८४. ब्राह्मणस्य गुहा निधी निहितौ, तौ तपसा रक्षति- (११) ज्ञानियोंकी बुद्धियोंमें दो खजाने धरे हुए हैं, उन खजानोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है।

८५. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति- (१८) ब्रह्मचर्यरूपी तपस्यासे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है।

८६. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युं अपाघ्नत- (१९) ब्रह्मचर्यरूपी तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया।

८७. ब्रह्मचारिणि आभृतं ज्ञानं सर्वान् रक्षति- (२२) ब्रह्मचारीके अन्दरका ज्ञान सबका संरक्षण करता है।

८८. सलिलस्य पृष्ठे तप्यमानः स्नातः बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते- (२६) ज्ञानरूपी समुद्रके पास तप करनेवाला यह ब्रह्मचारी स्नातक होकर अत्यन्त तेजस्वी होनेके कारण पृथ्वीपर बहुत प्रकाशित होता है।

कां. ११; सू. १

८९. इयं, नाथिता अदितिः पुत्रकामा ब्रह्मौदनं पचति- (१) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है।

९०. सं इध्यस्व, यज्ञियान् देवान् आवक्षः, उत्तमं नाक अधिरोहय- (४) यज्ञ कर, पूज्य देवोंको बुला और उत्तम स्वर्गको प्राप्त कर।

९१. पयसा सजातैः साकं एधि- (७) तू दूधसे युक्त होकर अपने जातिबन्धुओंके साथ उन्नत हो।

९२. इयं देवी सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु- (८) यह देवी शुभ विचारोंसे युक्त होकर चमडेकी ढाल अपने संरक्षणके लिए लेवे।

९३. ये इमां पृतन्यवः निजहि- (९) जो इस स्त्री पर आक्रमण करते हैं, उनका नाश कर।

९४. यतमाः यज्ञियाः असन् गृह्णीतात् धीरी इतराः जहीतात्- (१२) जो पूज्य और ज्ञानी हैं, उन्हें स्वीकार कर और बुद्धिसे मूर्ख और अपूज्योंको दूर करके उनका त्याग कर।

९५. अयं यज्ञः गातुवित् नाथवित् प्रजावित्, उग्रः पशुविल्- (१५) यह यज्ञ मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक प्रजा देनेवाला, उत्साह देनेवाला और पशु देनेवाला है।

९६. ओदनस्य पक्ता सुकृतां लोकं एतु- (१७) अन्नको पकानेवाला पुण्य लोकोंको प्राप्त हो।

९७. ब्रह्मणा शुद्धः उत घृतेन पूताः तण्डुलाः पक्त्वा सुकृतां लोकं ऐतु- (१८) ज्ञानसे पवित्र ये चावल हैं, इनको पकानेसे मनुष्य पुण्यलोकोंमें जाता है।

९८. सोमेन पूतं प्राशितारः मा रिषन्- (२५) सोमसे पवित्र हुए हुए अन्नोंको खानेवाले मनुष्य दुःखी नहीं होते।

कां. १९; सू. ३

९९. पुंसः पुत्रान् अधितिष्ठ- (१) मनुष्योंमें शक्तिशाली तू दूसरोंका स्वामी होकर रह।

१००. अस्मिन् लोकं सं एतं- (३) इस लोकमें मेल मिलापसे रहो।

१०१. ब्राह्मणेन द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्षं त्रयः लोकाः संमिताः- (१९) ब्राह्मणके ज्ञानसे द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी ये तीनों लोक प्राप्त होते हैं।

१०२. निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु पक्वेन अश्नवातै स्व अभीच्छात्- (३४) अन्नका पालक दाता साठ वर्ष तक पकाए गए अन्नके दानसे स्वर्ग प्राप्तिकी इच्छा करे।

१०३. यत् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु- (४३) जो ईश्वरविरोधी राक्षस हैं, उन्हें अग्नि तपावे।

१०४. क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्रपास्त- (४३) रक्त और मांसभक्षी लोग यहां पानी भी न पीयें।

कां. ११; सू. ३

१०५. यत् ओदनः एतत् वै ब्रध्नस्य विष्टपं- (५१) जो अन्न है, वह निश्चयसे स्वर्गधाम है।

१०६. तेषां प्रज्ञानाय यज्ञं असृजत्- (५३) उनके ज्ञानके लिए यज्ञका निर्माण किया।

१०७. सः यः एवं उपद्रष्टा भवति, जरसः पुरा एनं प्राणः जहाति- (५६) जो उन ज्ञानियोंकी निन्दा करता है, उसे वृद्धावस्थाके पूर्व ही प्राण छोड देते हैं।

कां. ७ सू. ११३

१०८. तृष्टा तृष्टिका विषातकी- (२) तृष्णा लोभमयी और विषसे युक्त है।

कां. ७; सू. ८०

१०९. पौर्णमासं आक्षितां अनु उपदस्वतीं रयिं ददातु- (२) पौर्णमासीके दिन किया गया हवन अक्षय और अविनाशी धन देता है।

११०. प्रजापते ! त्वत् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि परिभूः न जजान- (३) हे प्रजापते ! तेरे सिवाय और कोई दूसरा विविध रूपोंमें सर्वत्र व्याप्त होकर इनका निर्माण नहीं कर सकता ।

१११. यत् कामाः ते जुहुमः, तत् नः अस्तु- (६) जिसकी इच्छा करते हुए हम यजन करते हैं, वे हमारी इच्छाएं पूर्ण हों ।

११२. वयं रयीणां पतयः स्याम- (३) हम सब धनके स्वामी हों ।

कां. ७; सू. २०

११३. इमं सुजातं यज्ञं अस्याः प्रमतिः भद्रा बभूव- (५) इस प्रसिद्ध सत्कर्मको करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि कल्याण करनेवाली है ।

११४. अनुमतिः विश्वं एजति- (६) अनुमति सबको चलाती है ।

कां. ३; सू. २४

११५. शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर- (५) हे सैंकडों हाथवाले मनुष्य ! तू धन संग्रह कर और हजार हाथोंसे उस धनका दान कर ।

कां. २; सू. १३

११६. नः इमं वर्चसा धत्त, दीर्घं आयुः जरामृत्युं कृणुत- (२) हमारे इस पुरुषको तेजसे युक्त कर, उसकी उम्र लम्बी कर और इसे वृद्धावस्थाके बाद मृत्यु दे ।

११७. ते तनूः अश्मा भवतु, विश्वे देवाः ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु- (४) तेरा शरीर पत्थरकी तरह सुदृढ हो । सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी करें ।

कां. ६; सू. १८

११८. ते ईर्ष्यायाः शोकं अग्निं निर्वापयामसि- (१) तेरी उस ईर्ष्यारूपी शोककी अग्निको हम दूर करते हैं ।

कां. ११; सू. १०

११९. केतुभिः सह उत्तिष्ठत, अमित्रान् अनुधावत- (१) हे सैनिको ! अपने ध्वज हाथोंमें लेकर उठो और शत्रुपर हमला करो ।

१२०. तव रादिते पुरुषे हते विकेशी, अश्रुमुखी, प्रतिघ्नाना क्रोशतु- (७) हे शत्रुओंका नाश करनेवाले वीर ! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुके वीरोंके मरनेके कारण उनकी स्त्रियां बाल बिखेरकर आंसुओंसे मुखको भिगाते, रोते हुए और छाती पीटते हुए चिल्लाती रहें ।

१२१. देवजनाः ! उत्तिष्ठत, इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वितिष्ठध्वं- (२६) हे देवजनो ! उठो, तैय्यार होओ, इस युद्धमें उत्तम रीतिसे जय प्राप्त करके अपने देशमें जाकर सुखसे रहो ।

कां. १; सू. ३४

१२२. मे जिह्वायाः अग्रे मधु, जिह्वामूले मधूलकं- (२) मेरी जीभके आगे मधुरता रहे, मेरी जिव्हाके मूल भागमें मधुरता रहे ।

१२३. मम क्रतौ इत्- (२) मेरे कर्मोंमें भी मधुरता रहे ।

१२४. मे निक्रमणं, परायणं मधुमत्- (३) मेरा व्यवहार और मेरा जाना मधुरता युक्त हो ।

१२५. मधुसन्दृशः भूयासं- (३) मैं मधुरताकी मूर्ति होकर रहूँ ।

कां. १; सू. १५

१२६. प्र दिवः मे इमं यज्ञं जुषन्तां, संस्राव्येना हविषा जुहोमि- (१) दिव्य और उत्तम जन मेरे यज्ञका सेवन करें, क्योंकि संगठन करनेके लिए मैं दान करता हूँ ।

कां. ६; सू. ९४

१२७. वः मनांसि व्रता सं- (१) तुम्हारे मन और कार्य एक विचारसे युक्त हों ।

कां. ६; सू. ६४

१२८. मंत्रः समानः, समितिः समानी, व्रतं समानं, समानं चेतः- (२) तुम्हारे विचार, तुम्हारी सभा, तुम्हारे कार्य और तुम्हारे मन समान हों ।

१२९. वः आकूतिः समानी, वः हृदयानि समाना- (३) तुम्हारा संकल्प एक हो, तुम्हारे हृदय समान हों ।

कां. ३; सू. ३०

१३०. वः सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि- (१) तुम्हारे लिए मैं सहृदयता, शुभ विचारोंसे युक्त मन और आपसमें निर्वैरता करता हूँ ।

१३१. अन्यः अन्यं अभि हर्यत- (१) प्रत्येक जन परस्पर एक दूसरे पर प्रेम करें ।

१३२. पुत्रः पितुः अनुव्रतः मात्रा सं मनाः भवतु- (२) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला हो ।

१३३. जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु- पत्नी पतिके साथ मधुर और शान्तियुक्त बात करे।

१३४. भ्राता भ्रातरं स्वसा स्वसारं मा द्विक्षत्- (३) भाईभाईसे और बहिनबहिनसे परस्पर द्वेष न करें।

१३५. सम्यंचः सव्रताः भूत्वा भद्रया वाचं वदत- (३) एकमतवाले और एक प्रकारके कर्म करनेवाले होकर आपसमें उत्तम रीतिसे बातचीत करो।

१३६. वः प्रपा अन्नभागः सह- (६) तुम्हारे पानी पीनेकी जगह और तुम्हारे अन्नका भाग एक हो।

कां. ५; सू. १२

१३७. इडा मनुष्यवत् यज्ञं चेतन्ती इह- (८) मातृभाषा मनुष्योंसे मिलकर यज्ञकी प्रेरणा देते हुए यहां आवे।

१३८. सरस्वतीः सु अपसः आ सदन्तां- (८) मातृसभ्यता उत्तम कर्म करनेवालोंको प्राप्त करे।

कां. ४; सू. ३४

१३९. पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः शुचिं लोकं यन्ति- (२) प्राणायामसे शुद्ध और पवित्र हुए हुए लोग शुद्ध लोकोंको प्राप्त होते हैं।

१४०. ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति एनान् कदाचन अवर्तिः नः सचते- (३) जो इस विस्तार करनेवाले अन्नोंको पकाते हैं, उनके पास दरिद्रता कभी फटकती भी नहीं।

१४१. एष यज्ञानां बहिष्ठः विततः- (५) यह अन्नदानका यज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है।

१४२. स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः- (५) जो अन्नदानका यज्ञ करता है, उसे स्वर्गलोकमें मधुररस देनेवाली सभी नदियां प्राप्त होती हैं।

कां. ६; सू. ११४

१४३. देवासः वयं देवाः यत् देवहेडनं चकृम, यूयं तस्मात् नः ऋतस्य ऋतेन मुंचत- (१) हे देवो! हम स्वयं दैवीशक्तिसे युक्त होकर जो इतर देवोंका अनादर करें, तो तुम सब उस पापसे हमें यज्ञकी सत्यशक्तिके द्वारा छुडाओ।

१४४. यज्ञं शिक्षन्तः न उपशेकिम, न ऋतेन ऋतस्य मुंचत- (२) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करने पर भी यज्ञ न कर सकें, तो हमें यज्ञके सत्यके परिणामसे मुक्त करो।

कां. ६; सू. ५

१४५. हे अग्ने! एनं उत्तरं उन्नय, वर्चसा संसृज, प्रजया च बहुं कृधि- (१) हे यज्ञाग्ने! इस मनुष्यको अधिक उन्नत कर, तेजसे संयुक्त कर और प्रजासे समृद्ध कर

१४६. सजातानां वशी असत्- (२) यह यज्ञ करनेवाला स्वजातियोंमें सबको वशमें करनेवाला हो।

कां. ३; सू. १७

१४७. देवेषु धीराः कवयः सुम्नयौ सीरा युंजन्ति- (१) देवों पर विश्वास करनेवाले ज्ञानी सुख प्राप्त करनेके लिए हल चलाते हैं।

कां ७; सू. १०

१४८. यः ते शशयुः, मयोभूः सुम्नयुः, सुहवः, सुदत्रः, स्तनः येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि तं इह धातवे कः- (१) हे सरस्वती! शान्ति देनेवाला, सुख देनेवाला, उत्तम मन देनेवाला, प्रार्थनीय और उत्तम पुष्टि देनेवाला तेरा जो स्तन है, जिससे तू सब उत्तम पदार्थोंको पुष्ट करती है, उसे हमारी पुष्टिके लिए हमारी ओर कर।

कां. ६; सू. १२४

१४९. अभ्यंजनं, सुरभिः, हिरण्यं, वर्चः सा समृद्धिः- (३) तेलकी मालिश, सुगंध, और सोना, शरीरका तेज ये सब समृद्धिके लक्षण हैं।

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग पांचवा]

मेधाजनन, संगठन और विजय

उपमा सूची

पृष्ठ

१. ज्यया उभे आर्त्नी इव, इह उभौ तनू वाचस्पतिः नि यच्छतु- (१।१।३) धनुषके दोनों सिरे जिस प्रकार डोरीसे बंधे हुए रहते हैं, उसी प्रकार दोनोंकी इन्द्रियोंको वाणीका स्वामी नियंत्रित करे। ७

२. यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति, तं वृक्षं कुलिशेन इव वृश्चामि- (२।१२।३) जो हमारा मन बिगाडता है, उसे हम कुल्हाडीसे वृक्षको काटनेके समान काट देते हैं। १२

३. धन्वनः ज्यां इव ते हृदः मन्युं अवतनोमि- (६।४२।१) धनुषसे डोरीको उतारनेके समान तेरे हृदयसे क्रोधको दूर करते हैं। २१

४. सखायौ इव सचावहै- (६।४२।२) दो मित्रोंकी तरह हम कार्य करें। २१

५. आपः मलं इव, सर्वान् शपथान् अनैक्षीत्- (२।७।१) जिस प्रकार पानी मैलको धो डालता है, उसी प्रकार सब शाप मुझसे धुल जाएं। २७

६. गावः सदने असदन्, वयः वसतिं अपतत्, पर्वताः आस्थाने अस्थुः, स्थाम्नि वृक्कौ अतिष्ठिपं- (७।९६।१) जिस प्रकार गायें गौशालामें रहती हैं, पर्वत अपने स्थानोंमें स्थिर रहते हैं, उसी प्रकार सुदृढ स्थानोंमें दोनों मूत्राशयोंको सुदृढ करता हूँ। ३३

७. गौः वत्सं इव ते मनः मां अनु प्रधावतु- (३।१८।६) जिस प्रकार गाय अपने बछडेकी ओर दौडती है, उसी प्रकार तेरा मन मेरे पीछे दौडे। ३४

८. वाः पथा इव, ते मनः मां अनु प्रधावतु- (३।१८।६) जिस प्रकार पानी स्वयं मार्ग बना कर बढता है उसी प्रकार तेरा मन मेरे पीछे दौडे। ३४

पृष्ठ

९. वरिधां मणिः वैय्याघ्रः- (८।७।१४) औषधियोंसे तैयार किया गया यह मणि बाघके समान है। ३७

१०. स्तनथः सिंहस्य इव आभृताभ्यः सं विजन्ते- (८।७।१५) लोग जिस प्रकार गरजनेवाले शेरसे घबराते हैं, उसी प्रकार लाई हुई इन औषधियोंसे रोग घबरा जाता है। ३७

११. अग्नेः इव विजन्ते आभृताभ्याः सं विजन्ते- (८।७।१५) लोग जिस प्रकार अग्निसे घबराते हैं, उसी प्रकार लाई हुई इन औषधियोंसे रोग घबरा जाता है। ३७

१२. यक्ष्माः नाव्याः स्तोत्याः एतु-(८।७।१५) पुरुषोंका रोग नावसे नदीके पार जानेके समान बहुत दूर चला जावे। ३७

१३. अश्वत्थ,ः दर्भः, सोमः दिवः पुत्रौ- (८।७।२०) पीपल, दर्भ और सोम द्युलोकमें पुत्रके समान रक्षा करते हैं। ३८

१४, पुष्पवतीः अस्मै अरिष्टतातये संमातरः इव दुह्रां- (८।७।२७) फूलोंसे युक्त औषधी इसके सुख शान्ति और विस्तारके लिए उत्तम माताके समान रस प्रदान करे। ३९

१५. शकुनेः इव दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि- (२।२५।२) जिस प्रकार लोग छोटी छोटी चिडियोंके सिर काट डालते हैं उसी प्रकार मैं इस वनस्पतिसे खराब रोगोंके सिर काट डालता हूँ। ४१

१६. त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्-(२।२५।२) तू उन रोगोंको अग्निके समान जला दे। ४१

१७. धारुः वत्सः मातरं इव, त्वं प्रत्यक् अप पद्यतां- (४।१८।२) दूध पीनेवाले बालक जिस

पृष्ठ

३९. पिता पुत्रान् इव, अग्ने ! इयं अभिरक्षतात्- (२।१३।१) पिता जिस प्रकार पुत्रका रक्षण करता है, उसी प्रकार हे अग्ने ! तू इनकी चारों ओरसे रक्षा कर। १७८

४०. ते तनूः अश्मा भवतु- (२।१३।४) तेरा शरीर पत्थरके समान दृढ हो। १७९

४१. पत्या नुत्ता जाया कर्त्तारं बन्धुं इव कर्त्तारं ऋच्छतु- (१०।१।३) पतिके द्वारा त्यागी गई स्त्री जिस प्रकार अपने पिता अथवा भाईके पास जाती है, उसी प्रकार कृत्या प्रयोग उसके करनेवालेके पास ही जाए। १८२

४२. ऋभुः धिया रथस्य परूंषि संदधौ- (१०।१।८) जिस प्रकार बढई अपनी बुद्धिसे रथके भिन्न भिन्न भाग तैय्यार करता है, उसी प्रकार मैं तेरे अवयव बनाता हूँ। १८३

४३. विनद्धा गर्दभी इव नानदती अप, क्राम- (१०।१।१४) हे कृत्ये ! बंधनसे छूटी हुई गधीके समान शब्द करती हुई तू दूर निकल जा। १८४

४४. अनस्वती विश्वरूपा कुरूटिनी वाहिनी इव अभि याहि- (१०।१।१५) जिस प्रकार रथयुक्त सेना अनेक भयंकर शब्द करती हुई जाती है, उसी प्रकार हे कृत्ये ! तू भी आगे जा। १८४

४५. वातः वृक्षान् इव कर्तॄन् नि मृणीहि- (१०।१।१७) जिस प्रकार हवा पेडोंको तोडती है, उसी प्रकार तू हिंसा करनेवालोंको तोड दे। १८४

४६. तत्र अश्वः इव वर्तताम्- (१०।१।१९) यह कृत्या इसका प्रयोग करनेवालोंके मध्यमें घोडेके समान फिरे। १८४

४७. दुहितां स्वं पितरं इव, कर्त्तारं जानीहि- (१०।१।२५) जिस प्रकार कन्या अपने पिताको जानती है, उसी प्रकार तू अपने प्रयोगकर्ताको जान। १८५

४८. विद्धस्य इव पदं नय- (१०।१।२६) घायल हुए हुए जानवरके पास जिस प्रकार शिकारी जाता है, उसी प्रकार हे कृत्ये ! तू अपने स्थान पर जा। १८५

४९. जालेन अभिहिता इव सर्वाः कृत्याः इतः प्र हिण्मसि- (१०।१।३०) जालमें फंसे हुए की तरह तेरे साथ किए गए घातक प्रयोग वापस कर्ताके पास भेजता हूँ। १८६

५०. यथा सूर्यः तमसः परि मुच्यते, रात्रिं उषसः केतून् जहाति, एवं अहं कृत्याकृतां कृतं दूर्भूतं कर्त्रे जहामि- (१०।१।३२) जिस प्रकार सूर्य अंधेरेसे छूटता है और रात्रि उषाके किरणोंको मुक्त करती है, उसी प्रकार मैं घातक प्रयोगके द्वारा किए गए दुष्ट कृत्योंका त्याग करता हूँ। १८६

५१. हस्ती रजः इव- (१०।१।३२) जिस प्रकार हाथी धूल उडाता है, उसी प्रकार मैं घातक प्रयोगोंको दूर करता हूँ। १८६

५२. दृतेः ऊष्माणं इव, ईर्ष्यां नि मुंचामि- (६।१८।३) जिस प्रकार धौंकनीसे हवा निकालते हैं, उसी प्रकार मैं मत्सरको दूर करता हूँ। १८७

५३. मही द्यौः इव, तस्य बलं अप तिर- (६।६।३) जिस प्रकार महान् द्युलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है, उसी प्रकार उस दुष्ट मनुष्यके बलको दूर कर। २१२

५४. मधुमतीं शाखां इव, मां इत् त्वं वनाः (१।३४।४) जिस प्रकार पक्षी मधुर रसवाले वृक्षोंकी डालियोंपर प्रेम करते हैं, उसी प्रकार मुझपर तू प्रेम कर। २१७

५५. अभितः नाभिं अराः इव- (३।३०।६) जिस प्रकार चक्रकी नाभिसे चारों ओरके आरे जुडे हुए रहते हैं, उसी तरह सब लोग परस्पर जुडे रहें। २३३

५६. विद्धस्य पदनीः इव- (११।२।१३) जिस प्रकार घायलके पदचिन्हों को देखकर उसका पीछा करते हैं, उसी प्रकार हे रुद्र ! उसका तू पीछेसे बदला लेता है। २४२

५७. तुन्ना कन्या इव ग्लहा प्रजाति- (६।२२।३) जिस प्रकार दुःखी कन्या पिताको कम्पित करती है, उसी प्रकार मेघोंका शब्द सबको कंपित करता है। २७९

५८. पत्या जाया इव परुं तुन्दाना- (६।२२।३) जिस प्रकार पतिके साथ रहनेवाली धर्मपत्नी गृहस्थाश्रमके संसारमें प्रेरणा देती है, उसी प्रकार वह शब्द मेघोंको प्रेरित कर। २७९

५९. गौः स्वं जरायुः इव कपिः तेजनं बभस्ति- (६।४९।१) जिस प्रकार गाय अपने गर्भको धारण करती है, उसी प्रकार (क) जलको (प) पीनेवाले मेघ प्रकाश धारण करते हैं। २८३

६०. मेषः इव सं अच्यसे- (६।४९।२) निश्चयसे भेडके समान तू एकत्रित होता है। २८३

कांडक्रमानुसार सूक्तोंकी

अनुक्रमणिका

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद (भाग पांचवा)

मेधाजनन, संगठन और विजय

कांड-सूक्त-विषय-मंत्रसंख्या-ऋषि-देवताओंकी

अनुक्रमणिका

मेधाजनन, संगठन और विजय

वर्णानुक्रम-मंत्र-सूची

वर्णानुक्रम मंत्र-सूची

वर्णानुक्रम-मंत्रसूची

वर्णानुक्रम मंत्र-सूची